प्रकाशक

दलसुख मालवणिया

मंत्री

जैन संस्कृति संशोधन मंडल

वाराणसी ५

प्रथम आवृत्ति ई० १९५९

५०० दिसम्बर

मुद्रक

महेन्द्रप्रसाद गुप्त

श्रीशंकर मुद्रणालय, वाराणसी १.

प्रकाशकीय

महामात्य वस्तुपाल अपने समय के न केवल राजनैतिक नेता थे किन्तु तत्कालीन साहित्यिकों के आश्रयदाता और स्वयं साहित्यकार भी थे। उनके जीवन की यशोगाथा और उनके साहित्य मंडल के सदस्यों की जीवनी तथा संस्कृत साहित्य में इन सबकी जो देन रही उसका परिचय और मूल्यांकन प्रस्तुत ग्रन्थ में डा० भोगीलाल सांडेसरा ने एक समर्थ संशोधक और आलोचक की निष्ठा से प्रस्तुत किया है। डा० सांडेसरा ने इस ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने में जो परिश्रम उठाया है उसकी साक्षी ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति दे रही है।

जैन संस्कृति संशोधन मंडल के प्रति डा० सांडेसरा का विशेष स्नेह है अतएव उनके ग्रन्थ के प्रकाशन का सुअवसर वे मंडल को देते रहे हैं। इस स्नेह और कृपा के लिये मंडल उनका विशेष रूप से आभारी है। इस ग्रन्थ का अंग्रेजी से अनुवाद स्वत. प्रेरणा से श्रीकस्तूरमलजी बाठिया ने किया और मंडल को दे दिया एतदर्थ उनको भी धन्यवाद देना अपना कर्तव्य मानता हूँ।

वाराणसी
२० ११-५१

दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
वाराणसी—५

भूमिका

तेरहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के घोलका नगर के वाघेला राजा का महामन्त्री वस्तुपाल न केवल अपने समय का एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ व्यक्ति ही था, अपितु साहित्य एवं ललितकला का महान् पोषक, स्मारकों का महान् निर्माता एवं स्वयं विद्वान् व साहित्यिक भी वह था। उसके आश्रय में एक विद्यामण्डल भी चल रहा था, जिसकी प्रवृत्तियों ने सर्जनात्मक एवं शास्त्रीय दोनों ही प्रकार के मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य के विविध अंगों में बहुत महत्त्वपूर्ण वृद्धि की।

महामात्य वस्तुपाल के जीवन और कृत्यों ने पिछली कई दशाब्दियों से विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर रखा है। प्रो. ए. वी. काथवटे ने वस्तुपाल के जीवन और कार्यों का संक्षिप्त रेखाचित्र बंबई संस्कृत ग्रन्थमाला (सं० २५) में सन् १८८३ ई० में प्रकाशित सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी में दिया था। डॉ० ब्हूलर ने भी इसी विषय पर कुछ लिखा था जब कि उन्होंने १८८९ ई० में अरिसिंह के सुकृतसंकीर्तन के विषयों की विश्लेषणात्मक परीक्षा पर एक निबन्ध प्रकाशित किया था[1]।

सन् १८९६ में प्रकाशित बंबई गजेटियर, भाग १, खण्ड १ (गुजरात का इतिहास) में वाघेलों के इतिहास के एक अध्याय के कुछ पृष्ठ (पृ. १९८-२०३) वस्तुपाल के राजनैतिक जीवन पर भी लिखे गए हैं। फार्ब्स रासमाला के गुजराती अनुवादक दीवान बहादुर रणछोड़भाई उदयराम ने सन् १८९९ में प्रकाशित अपने रासमाला के अनुवाद के दूसरे संस्करण में एक परिशिष्ट दिया था जिसमें वस्तुपाल के राजनैतिक जीवन और वैयक्तिक इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्य संगृहीत थे। वल्लभजी हरिदत्त आचार्य ने सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी के सन् १९०८ में प्रकाशित अपने पद्यात्मक गुजराती अनुवाद के परिचय में भी इस

---

१. मूल जरमन भाषा का निबंध इम्पीरियल अकादमी, वियेना के पत्र Sitzungsberichte भाग. ११९, १८८९, में और अंगरेजी अनुवाद-अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन—इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ३१, पृ ४७७ आदि में प्रकाशित हुआ था।

विषय पर कुछ विवेचन किया था। श्री चिमनलाल डा० दलाल ने भी गायकवाड़ पुरातत्त्व ग्रन्थमाला में जयसिंहसूरि के हम्मीरमदमर्दन, बालचन्द्र के वसन्तविलास और वस्तुपाल के नरनारायणानन्द के परिचयों में भी बहुत संक्षेप में विभिन्न दृष्टि से इस विषय पर विचार किया था। अभी सन् १९३९ ई० में श्री दुर्गाशंकर शास्त्री ने "गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास" नामक गुजराती ग्रन्थ के दूसरे भाग में कुछ पृष्ठ (३८१-३९५) वस्तुपाल के जीवन और कार्यों पर लिखे थे जिनमें एक या दो पैरा (पृ० ३९४-९५) वस्तुपाल द्वारा साहित्य को दिये गये आश्रय एवं पोषण पर भी हैं।

फिर भी पिछली ५ या ६ दशाब्दियों में काथवटे, ब्हूलर, रणछोड़भाई और आचार्य के लिखने के बाद महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और शिलालेख आदि कितनी ही सामग्री वस्तुपाल के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में प्राप्त हुई हैं और उसकी ही कई कृतियाँ–एक महाकाव्य एवं चार स्तोत्र–भी पाटण और अन्य स्थानों के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के भण्डारो नें से खोज निकाले गए हैं। वस्तुपाल के विद्यामण्डल के अनेक सदस्यों के ऐतिहासिक और जीवन सम्बन्धी विवरण ज्ञात हो गये हैं, यही नहीं अपितु उनकी साहित्यिक कृतियाँ प्रकट में आ चुकी हैं। इन साहित्यिक कृतियों में से अधिकाश अभी तक अमुद्रित हैं एवं हस्त-प्रतियों में ही उपलब्ध हैं, फिर भी इस विषय के अध्ययन के लिए वे महत्त्व की सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

मै यहाँ कह दूँ कि उपर्युक्त विद्वानों ने वस्तुपाल के जीवन के कुछ ही पक्षों का विचार किया है। किसी ने भी इस विषय का समग्र रूप से और सम्पूर्ण विचार नहीं किया है। वस्तुपाल की संस्कृत साहित्य को देन और उसके विद्यामण्डल के सम्बन्ध में तो बहुत ही थोड़ी चर्चा उनमें हुई है। फिर उन विद्वानो को अद्यावधि प्राप्त नई सामग्रियों को उपयोग में लेने का अवसर भी नहीं मिला था। इसलिए वस्तुपाल के जीवन का पर्याप्त विवेचन करने और विशेषतया संस्कृत साहित्य को उसकी और उसके विद्यामण्डल की देन के गहन अध्ययन व विवरण का आज अच्छा अवसर है। इस ग्रन्थ में इसी विषय का ऐतिहासिक और साहित्यक दृष्टियों से सूक्ष्मतया विचार करने का प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले प्रास्ताविक खण्ड में साहित्यिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराया गया है और गुजरात की भूतपूर्व साहित्यिक एवं विद्वत्परम्पराओं का विचार किया गया है ताकि हम वस्तुपाल के जीवन और कार्यों का एवं उसके विद्यामण्डल का उचित

दृष्टियों से अध्ययन कर सकें। दूसरे खण्ड, अर्थात् महामात्य वस्तुपाल और उसका विद्यामण्डल में वस्तुपाल का वैयक्तिक और राजनैतिक इतिहास और साहित्य ललितकला और विद्वान् के रूप में उसके पद का सूक्ष्मतः अध्ययन है इसी में वस्तुपाल के विद्यामण्डल के सुप्रसिद्ध साहित्यिकों की जीवन सम्बन्धी उपलब्ध बातें सप्रमाण दी गई हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के पहले दो खण्ड ऐतिहासिक और जीवन सामग्रियों के अध्ययन को लिये हुए हैं।

तीसरा खण्ड–संस्कृत साहित्य को देन का है और इसमें साहित्य की विभिन्न शाखाओं को वस्तुपाल और उसके विद्यामण्डल की देन के विषय में सूक्ष्म-सर्वेक्षण किया गया है। पहले मैंने सर्जनात्मक साहित्य जैसे कि महाकाव्य, नाटक, प्रशस्ति, स्तोत्र, चयन या संग्रह, धर्मकथा, प्रबन्ध, अपभ्रंश रास इत्यादि का विचार किया है। तदनन्तर कि अलंकारग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ, छन्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, ज्योतिष (फलित) और जैनधर्मग्रन्थों की टीकाओं का विचार किया है[1]। पुस्तक के अन्त में मैंने विवेचन की मुख्य धाराओं का संक्षेप में उपसहार दे दिया है।

इस ग्रन्थ को तैयार करते समय में मैंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी गुजराती, प्रकाशित या हस्तलिखित, उपलब्ध समस्त सामग्री को देखने का पूर्ण प्रयत्न किया है और अंगरेजी, हिन्दी, एवं गुजराती के विषय सम्बन्धित प्रमुख अनुसंधान ग्रन्थों को भी मैंने पढ़ा है।

वस्तुपाल और उसके विद्यामण्डल एवं उनकी कृतियों सम्बन्धी साहित्यक सामग्री में से अधिकांश अभी तक अमुद्रित ही है। इसलिये मुझे अनेक हस्त-लिखित ग्रन्थ-लगभग ४० ताड़पत्र और कागज पर लिखे हुए प्राप्त करने पड़े थे। मुनिश्री पुण्यविजयजी के सौजन्य से पाटण, वड़ोदा और वड़ोदा के निकटस्थ

---

१. अध्याय ६ठा (ऐतिहासिक महाकाव्य) का खण्ड १ और अध्याय ८ (प्रशस्ति) आदि में इस विषय के कुछ अंशों को पुनरावर्तन बहुत कुछ हुआ है। परन्तु ऐसा होना अनिवार्य था, क्योंकि चारों ही ऐतिहासिक महा-काव्य और सभी प्रशस्तियाँ समकालिक इतिहास की सामग्रियाँ हैं और साथ ही वे वस्तुपाल को नायक मान कर लिखी गई साहित्यिक कृतियां भी हैं। इस ग्रन्थ में इनका मैंने मध्यकालीन गुजरात के इतिहास और साहित्य का विवेचन करने में उपयोग किया है और इसलिए ऐतिहासिक काव्यों के कथानक का साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए कुछ बातों की पुनरावृत्ति होना अनिवार्य ही था।

एक गाँव छानी के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में भी मेरी मुक्त पहुँच थी। खम्भात, अहमदाबाद और चाणस्मा के जैन ग्रन्थ भण्डारों की भी अनेक प्रतियाँ मुझे देखनी पड़ी हैं और मैं इनके अधिकारियों का वह सहूलियत देने के लिए अनुगृहीत हूँ। मैं प्रो. पी. के. गोडे, क्यूरेटर, भण्डारकर प्राच्य-विद्या मंदिर, पूना का भी ऋणी हूँ, जिन्होंने आवश्यक हस्त-प्रतियों को बहुत काल तक मेरे पास रहने दिया था। मैं मुनि कांतिविजयजी का भी ऋणी हूँ कि जिन्होंने कुछ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रतियाँ उपयोग के लिए मुझे कुछ समय के लिये दीं। प्रो. के. वी. अभ्यंकर, पू० पं० सुखलालजी, और श्री डॉ० जितेन्द्र जेटली, एम ए., न्यायाचार्य का उपयोगी सूचनाएँ देने के लिए मैं आभार मानता हूँ। प्रो. सी. एन. पटेल, एम. ए. का मुद्रित प्रति के निरीक्षण के लिये और श्रीसुरेश जोशी, एम ए. का अक्षरानुक्रमणिका तैयार करने के लिए मैं आभारी हूँ।

यह ग्रन्थ उस समय तैयार किया था जब मैं गुजराती और अर्धमागधीका गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद संचालित भो. जे. प्राच्य विद्यामन्दिर में, प्राध्यापक था। मैं उस संस्था के संचालक प्रो रसिकलाल छोटेलाल परीख का मुझे मेरी गवेषणा में अनेक प्रकार की सहायता देने और विद्यासभा के अत्यन्त सुसम्पन्न पुस्तकालय की अमूल्य सुविधा प्रदान करने के लिये अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के व्यय में मेरी सहायता करने के लिए मैं बंबई विश्वविद्यालय का भी ऋणी हूँ।

अन्त में मैं आचार्य श्री जिनविजयजी को सुप्रख्यात सिंघी जैन ग्रन्थमाला के प्रकाशन में मेरे इस ग्रन्थ को सम्मिलित कर लेने के लिए हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

अब यह ग्रन्थ, जो अंग्रेजी में ई. १९५२ में प्रकाशित हुआ था, हिन्दी में श्री कस्तूरमल बांठिया द्वारा अनूदित होकर जैन संस्कृति संशोधन मंडल से प्रकाशित हो रहा है यह मेरे लिये आनंद का विषय है। मैं यहाँ श्री कस्तूरमलजी बांठिया तथा जैन संस्कृति संशोधन मंडल के अधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ। इसके पहले गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो गया था। अतएव इस हिन्दी संस्करण में उस गुजराती में किये गये सशोधन और वृद्धि को भी यत्र तत्र बढ़ा दिया गया है।

अध्यापक निवास,
वड़ोदा विश्वविद्यालय
वड़ोदा
ता : २० नवम्बर, १९५९

भोगीलाल ज. सांडेसरा

विषय-सूची

विभाग १ : प्रास्ताविक

विभाग २ :

महामात्य वस्तुपाल और उसका साहित्यमण्डल

विभाग ३

ऐतिहासिक महाकाव्य

पौराणिक महाकाव्य

संकेत सूची

अम	अलंकारमहोदधि, नरेन्द्रप्रभसूरि कृत।
अनाल्स	अनाल्स आफ दी भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (अंगरेजी)।
इंएं	इण्डियन एण्टीक्वेरी (अंगरेजी)।
उकंटी	उपदेशकन्दली टीका, बालचन्द्र कृत।
उत	उपदेशतरंगिणी, रत्नमन्दिरगणि कृत।
उराना	उल्लासराघव नाटक, सोमेश्वर कृत।
एइं	एपीग्राफिका इण्डिका, (अंगरेजी)।
काकल	काव्यकल्पलता, अमरचन्द्रसूरि कृत।
काप्र	काव्यप्रकाश, मम्मट कृत।
कीकौ	कीर्तिकौमुदी, सोमेश्वर कृत।
कैकै	कैटैलोगस कैटैलोगोरम (अंगरेजी)।
गुमराइ	गुजरातका मध्यकालीन राजपूत इतिहास (गुज.) डी.के. शास्त्री कृत।
गुऐशि	गुजरात के ऐतिहासिक शिलालेख (अंगरेजी) जी. वी आचार्य सम्पादित।
गुपुमंप	गुजरात पुरातत्व मंडल पत्रिका।
छंशा	छन्दोनुशासन, हेमचन्द्रसूरि कृत।
जैभंसू	जैसलमेर के जैन भंडारों के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची।
जैग्रं	जैन ग्रन्थावली।
जिरको	जिनरत्नकोश, सम्पा. एच डी. वेलकर।
जैपुप्रसं	जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, सम्पा मुनि जिनविजयजी।
जैसासंइ	जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (गुज.) मोहनलाल दलीचन्द देशाई कृत।
जैसाप्र	जैन साहित्य प्रकाश (गुज.)।
धर्मा	धर्माभ्युदय, उदयप्रभसूरि कृत।
न्याकं	न्यायकन्दली, श्रीधर कृत।
नना	नरनारायणानन्द, वस्तुपाल कृत।
नाप्रप	नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी।
न्याकंटी	न्यायकंदली टीका, नरचन्द्रसूरि कृत।

पाभंसू	पाटण के जैन भण्डारों की हस्तलिखित प्रतियों की विवरणात्मक सूची भाग १
पुत	पुरातत्व ।
पुप्रसं	पुरातन प्रबन्ध संग्रह ।
प्रको	प्रबन्धकोश, राजशेखर कृत ।
प्रचिं	प्रबन्जचिंतामणि, मेरुतुंग कृत ।
प्रागुकासं	प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, सम्पा : सी डी. दलाल ।
प्रागुगसं	प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, सम्पा : मुनि जिनविजयजी ।
प्राजैलेसं	प्राचीन जैन लेख सग्रह, भाग २, सम्पा. मुनि जिनविजय जी ।
प्राप्र	प्राकृत प्रबोध, नरचन्द्रसूरि कृत ।
प्रालेमा	प्राचीन लेखमाला ।
फागुसत्रे	फारबूस गुजराती सभा त्रैमासिक (गुज) ।
बाभा	बालभारत, बालचन्द्र कृत ।
बंग	बंबई गजेटियर भाग १ खण्ड १ (गुजरात का इतिहास) (अंगरेजी) ।
बुप्र	बुद्धिप्रकाश (गुजराती) ।
भावि	भारतीय विद्या । (हिन्दी-गुजराती) ।
भाइत्रै	भारतीय इतिहास त्रैमासिक (अंगरेजी) ।
लींजैभंसू	लींबड़ी जैन भण्डार की सूची ।
वच	वस्तुपाल चरित, जिनहर्ष कृत ।
ववि	वसन्तविलास, बालचन्द्र कृत ।
वितीक	विविध तीर्थकल्प, जिनप्रभसूरि ।
विक	विवेककलिका, नरेन्द्रप्रभसूरि कृत ।
विपा	विवेकपादप, नरेन्द्रप्रभसूरि कृत ।
विमंटी	विवेकमंजरी टीका, बालचन्द्र कृत ।
सुसं	सुकृतसंकीर्तन, अरिसिंह कृत ।
सुकीक	सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, उदयप्रभसूरि ।
सुरथो	सुरथोत्सव, सोमेश्वर कृत ।
सूमु	सूक्तिमुक्तावलि; जल्हण कृत ।
हमम	हम्मीरमदमर्दन नाटक, जयसंहसूरि कृत ।

पहला विभाग

प्रास्ताविक

पहला अध्याय

सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि

१. ईसा की तेरहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में होने वाला महामात्य वस्तुपाल न केवल गुजरात के इतिहास में ही, अपितु मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी एक महान् व्यक्ति है। वह और उसका छोटा भाई तेजपाल दोनों धवलक्क (अहमदाबाद जिले का आधुनिक धोलका नगर) के राजा वीरधवल के मन्त्री थे जो कि अणहिलवाड़ पाटण के राजा भीमदेव द्वितीय का माण्डलिक था। वस्तुपाल एक चतुर राजनीतिज्ञ और एक सफल सेनानी था। उसका जन्म पोरवाड़ (प्राग्वाट) जाति के एक जैन वंश में हुआ था। बहादुरी, मुत्सद्दीगिरी और व्यापारविचक्षणता के लिए यह जाति गुजरात के इतिहास में सुप्रसिद्ध है। परन्तु यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वस्तुपाल विद्या का पृष्ठ-पोषक, साहित्य का उन्नायक, दानवीर, धर्मात्मा और आबू एवं गिरनार के मंदिरों जैसे महान् स्मारकों का निर्माता भी था। वह स्वयं विशिष्ट योग्यतायुक्त संस्कृत कवि था। उसने एक महाकाव्य और अनेक स्तोत्रों की रचना की यह भी कहा जाता है। इसीलिए ऐसे अनेक कवियों और विद्वानों से वह घिरा रहता था कि जिनने मध्यकालीन संस्कृत साहित्य की अनेक शाखाओं में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जो व्यक्ति राजा नहीं, उसके पास कवियों और विद्वानों का मण्डल जमा हो, भारत के इतिहास की यह एक अनोखी घटना है। संस्कृत साहित्य के लंबे और विचित्र इतिहास में ऐसा व्यक्ति वस्तुपाल के सिवा कदाचित् ही कोई दूसरा हो कि जिसको केन्द्र मान कर समकालिक साहित्यिकों की लेखनी ने इतना यथार्थ साहित्य लिखा गया हो। इस ग्रन्थ में यथासम्भव वस्तुपाल के जीवन और कार्यों पर विशेषतया सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से, विशद रूप से विवेचन, और उसके चारों ओर एकत्र हुए विद्वन्मण्डल के अस्तित्व के ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करने का लक्ष्य है। साथ ही यह बताने का भी कि उसने और उसके विद्यामण्डल ने कितने विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत साहित्य को तब सम्पन्न किया था।

२. वस्तुपाल और उसके विद्यामण्डल के कार्यों का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस काल की सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को भली प्रकार समझें। इसलिए यहां उस युग के पूर्व की

साहित्यिक परम्परा का भी संक्षेप में विहंगावलोकन कर लेना उपयोगी है। इससे यह पता चल जायगा कि कम से कम वलभी राजाओं के समय से संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने के लिए गुजरात ने क्या-क्या किया था। इस दृष्टि से गुजरात के इतिहास में दो बहुत ही शानदार युग हुए हैं, पहला तो महान् हेमचन्द्र का युग सन् १०८८ से ११७३ ई० तक का और दूसरा वस्तुपाल का युग। पहले युग का विस्तार से विचार जरमन पण्डित ब्यूलर ने अपने 'हेमचन्द्र की जीवनी' में और अध्यापक रसिकलाल परीख ने स्वसम्पादित 'हेमचन्द्र का काव्यानुशासन' की प्रस्तावना में किया है। दूसरे युग अर्थात् वस्तुपाल के युग का विचार इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।

३ अणहिलवाड़ और धवलक्क जैसे नगरों का सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन कि जहाँ हेमचन्द्र और वस्तुपाल जैसे व्यक्ति हुए और काम किया, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, कान्य-कुब्ज, वलभी और भिन्नमाल[1] की उच्च परम्परा के अनुरूप ही था जैसा कि आगे हम देखेंगे।

वलभी का गौरव

४. पौराणिक युग की द्वारिका, जिसे श्रीकृष्ण ने जरासंध के डर से भाग कर अपना मुख्य निवास-स्थान बनाया था, की बात न करते हुए, हम गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ़) नामक ऐतिहासिक नगर का विचार करेंगे। अशोक (२७४–२३७ ई० पू०) का प्राकृत में, जो भाषा देश के इस भाग में तब कदाचित् बोली जाती हो, रुद्रदमन (१५० ई०) का संस्कृत गद्य में, जो आर्ष संस्कृत का सबसे प्राचीन नहीं तो प्राचीनों में से एक हो, और स्कन्दगुप्त (४५६ ई०) का संस्कृत पद्य में जूनागढ़ के पास में स्थित गिरनार पर्वत की तलेटी की एक शिला पर खुदे लेख मिले हैं। ये तीनों ही भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध युग थे अर्थात् मौर्य, क्षत्रप और गुप्तों के क्रमशः युग। तदनन्तर हम वलभी के मैत्रकों के युग में प्रवेश करते हैं, जो गुप्त युग के उत्तरार्द्ध का समकालिक था। वलभी (सौराष्ट्र का आधुनिक वला अथवा वलभीपुर) ब्राह्मण, बौद्ध और जैन संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। वलभीनगर का जो वृत्तान्त प्रायः ६४१ ई० के वहाँ पहुँचने वाले महान चीनी पर्यटक यूवान-चांग ने दिया है, उससे उसकी सम्पन्नता पूरी-पूरी प्रमाणित होती है। उसके अनुसार वहाँ तब कई सौ संघाराम थे जिनमें लगभग ६००० भिक्षु रहते और हीनयान के

---

१. र. छो. परीख, काव्यानुशासन, प्रस्तावना पृ. १।

तत्त्वो का उसकी सम्मतिया शाखा के अनुसार अध्ययन करते थे। वह यह भी कहता है कि नगर के निकट अर्हत् (ओ-चे-लो)[1] का बनाया हुआ एक बड़ा संघाराम है। यहाँ बोधिसत्त्व गुणमति और स्थिरमति (कीयन-हूई)[2] ने पर्यटन के समय निवास किया था और ऐसे ग्रन्थो की रचना की थी कि जिन्हें बहुत मान मिला है।[3] असंग, वसुबन्धु और स्थिरमति महायान बौद्धो की योगाचार शाखा के इतिहास मे तीन महान् आचार्य है और युवान-चांग के आधार से यह कहा जा सकता है कि इनमें से एक स्थिरमति जिनने वसुबंधु की त्रिंशिका की वृत्ति और योगाचार पर अनेक ग्रन्थ रचे थे, वलभी के पड़ोस मे रहते थे और वहाँ बौद्ध दर्शन की शिक्षा उच्चतम कोटि की दी जाती थी।

५. वलभी शिक्षा का एक महान् केन्द्र थी यह यूवान-चांग के समकालिक ईत्सिग के वर्णनो से भी प्रमाणित होता है। वह कहता है कि दक्षिण बिहार की नालंदा और वल्लभी भारतवर्ष मे दो ऐसे स्थान थे जिनकी चीन के महा प्रख्यात शिक्षा-केन्द्रो से तुलना की जा सकती है। यहाँ बौद्ध दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी झुंड के झुंड आते और दो या तीन वर्ष इस ज्ञान प्राप्ति में बिताते थे।[4]

६. ब्राह्मण और जैन विद्या भी तब वलभी मे जाहोजलाली में थी, इसके भी प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत है। काश्मीरी सोमदेव (११ वीं सदी ई०) की कथासरित्सागर के ३२ वें तरंग मे विष्णुदत्त के अन्तर्वेदी से वलभी विद्यार्जन के लिए जाने का वर्णन है। हालांकि कथासरित्सागर की रचना ग्यारहवीं सदी मे हुई थी, फिर भी उसका उक्त कथन बहुत ही पुराना माना जा सकता है क्योंकि ईसा संवत्सर के प्रारम्भ में जीवित गुणाढ्य की बृहत्कथा का ही यह संस्करण है। वलभी राजाओं के दान भी यह साक्षी देते है कि उस राज्य में वैदिक विद्या सर्वत्र राज-संरक्षित थी। इन दानपत्रों मे आनन्दपुर (आधुनिक बड़नगर)

---

१. सौराष्ट्र में भावनगर के पास की तलाजा पहाड़ियों की गुफाएँ ही यह संघाराम था ऐसा पहचाना गया है (पुत., भाग १, पृ. १०३–१२)।

२. एक किम्वदन्ती के अनुसार, स्थिरमति नामक एक भिक्षु गुणमति का शिष्य था और वह ४२५ ई. पहले जीवित था (देखो विण्टरनिट्ज़, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ३६२ टि.)।

३. बील, बुद्धीस्ट रेकार्ड्स आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, बुक ११, पृ. २०८।

४. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. ३१४।

के ब्राह्मण पण्डित ही मुख्यतया उल्लिखित हैं। महान् भट्टीकाव्य अर्थात् रावण-वध (प्रायः ५०० और ६५० ई० के मध्य की) जो संस्कृत साहित्य के इतिहास में पहला ही व्याकरण काव्य है और जो निःसदेह एक महान् श्रमसाध्य साहित्यिक रचना है, वलभी में ही रचा गया था। हेमचन्द्र के दो द्वयाश्रय—एक संस्कृत में और दूसरा प्राकृत में—काव्यों की रचना का आदर्श निश्चय ही भट्टीकाव्य रहा होगा[1], जो चौलुक्य या सौलंकी युग के गुजरात की सास्कृतिक और साहित्यिक अध्ययन के उपयोगी परम प्रधान आधार है। स्वभावतः ही भट्टीकाव्य को हमें ऐसा अकेला ब्राह्मण साहित्य का अवशेष मानना होगा जिसमें विस्तृत साहित्य प्रवृत्तियों का सकेत हमें मिलता है। हमारा यह परिणाम निकालना तभी ठीक हो सकता है कि जब हम यह स्मरण रखे कि वलभी के कतिपय राजा भी बड़े विद्वान् थे। उनमें से एक ध्रुवसेन द्वितीय (३२६ ई०) तो एक दानपत्र में सालातुरीय विद्या अर्थात् पाणिनीय व्याकरण और राजतंत्र विज्ञान (देखिए-राज्यसालातुरीयतंत्रयोरुभयोरपि निष्णात .....) में विशेष रूप से निष्णात कहा गया है।[2] धरसेन द्वितीय (४०८ ई०) के दानपत्र में उसका पिता ग्रहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में प्रबन्ध रचने में निपुण कहा गया है (संस्कृतपाकृतापभ्रंशभापात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः)[3]। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि वलभी के ये लेख यद्यपि दान सम्बन्धी ही है, परन्तु उनमे दाता राजाओं और उनके पूर्व पुरुषों की प्रशस्ति इस शैली से दी गई है कि उसे उत्तरकालीन संस्कृत गद्य काव्यों की प्रसन्न रचना का पूर्वाभास कहा जा सकता है।

७. वलभी जैन धर्म और साहित्य का भी एक बड़ा केन्द्र था इसके प्रमाण भी कोई कम प्राप्त नहीं हैं। यद्यपि जैन धर्म का भी प्रादुर्भाव मगध में हुआ था, परन्तु उसकी प्रवृत्ति का केन्द्र स्थानान्तर हो गया था और ईसा युग की प्राथमिक सदियों में मध्यभारत की उज्जयिनी, मध्यदेश की मथुरा और पश्चिमी आर्यावर्त की वलभी जैन धर्म की अत्यन्त महत्त्व की नगरियाँ हो गई थीं। महावीर निर्वाण की दूसरी सदी में पाटलिपुत्र मे जैन सिद्धान्तों की वाचना के लिए पहली सगीति

---

१. र. छो. परीख, वही पु. पृ. ५६।

२. गुऐशि, सं. ६१।

३. वही, सं. ५०। ब्यूलर के अनुसार (इंए, भा. १०, पृ. २७८ आदि) यह दानपत्र जाली है, और इसमें लिखी तिथि से पीछे की तिथि का है।

बुलाई गई थी और उसमें ग्यारह अंग तो पूर्ण और चौदह पूर्वों के अवशेषो से बारहवां अंग दृष्टिवाद संकलित किया गया। परन्तु जैसे समय बीतता गया, यह संकलन फिर अस्तव्यस्त हो गया। इसलिए आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में और आर्य नागार्जुन ने वलभी मे दूसरी संगीति लगभग एक ही समय अर्थात् महावीर निर्वाण की नौवीं सदी में (देखो-कल्याणविजय, वीर निर्वाण सम्वत्, पृ० १०४) बुलाई। ये दोनो आचार्य दुर्भाग्य से परस्पर मिल नहीं पाए और इसलिए इनकी वाचनाओं में अनेक पाठभेद रह गए एवं एक माथुरी वाचना और दूसरी वलभी वाचना कहलाई। तदनन्तर वह महान् घटना घटित हुई जब कि वलभी वाचना के पाठ भेदों को यथासम्भव सम्मिलित करते हुए माथुरी वाचना के अनुसार जैन शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गए। महावीर निर्वाण पश्चात् ९८० (या ९९३ वें वर्ष में, सन् ४५४ या ४६७ ई०) फिर एक संगीति वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के प्रधानत्व में शास्त्रों की फिर से वाचना और लिपिबद्ध किए जाने के लिए बुलाई गई। इस संगीति मे जैन सिद्धांत समग्र रूप से पहली बार लिपिबद्ध हुए और ऐसा भी सम्भव है कि इनकी प्रतियों करा कर देश के विभिन्न भागों में प्रामाणिक वाचना के प्रचार के लिए भेजी गई। जैन इतिहास की यह एक निःसदेह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है और वलभी का स्थान ऐसी संगीति के अधिवेशन के लिए चुना जाना भी उतना ही महत्त्व का है[1]।

८. वलभी के जैनाचार्यों में मल्लवादी नाम के एक महान् आचार्य थे। ये नयचक्र या द्वादशारनयचक्र के कि जो जैन न्याय का एक महान् ग्रंथ माना जाता है, रचयिता हैं। प्रभाचन्द्रसूरि के प्रभावकचरित्र (१२७८ ई०) के अनुसार ये मल्ल तीन भाइयो में सबसे छोटे थे। दोनों बड़े भाइयों के नाम थे क्रमशः

---

१. इन संगीतियों की परम्परा जिनदासगणि महत्तर की नन्दी चूर्णी (६७७ ई.), हरिभद्र (७०१–७७७ ई.) की नन्दी वृत्ति, मेरुतुंग (ई. १४ वीं सदी) की विचारश्रेणी, मलयगिरि (ई. १२ वीं सदी) की ज्योतिष्करण्डक वृत्ति, विनयविजय का लोकप्रकाश (१६५२ ई.), समयसुन्दर का सामाचारी-शतक (१६१६ ई.) और अन्य अनेक ग्रन्थों में सुरक्षित है। देवर्धिगणि के आगमों के अन्तिम संस्करण में वलभी वाचना के पाठ भेदों का 'वायणंतरे पुण' कह कर उल्लेख किया गया है, और इन आगमों के टीकाकारों ने 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' कह कर और भी अनेक पाठान्तर दिए हैं।

जीतयशस् या जिनयशस् और यक्ष। इनका मामा श्वेताम्बर जैन साधु था और उसका नाम जिनानन्दसूरि था। उसे भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ोंच) में जाहिर शास्त्रार्थ में नन्द या बुधानन्द नामक बौद्ध भिक्षु ने पराजित कर दिया था। इसलिए वह भृगुकच्छ छोड़ कर वलभी चला आया था। यहाँ आकर उसने अपने भानजों को दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। इन तीनों साधुओं ने वलभी में ठोस शिक्षा पाई और शास्त्र निष्णात हो गए। जीतयशस् ने व्याकरण पर विश्रान्तविद्याधर'[1] नाम का न्यास लिखा। यक्ष ने निमित्ताष्टांग-बोधिनी नाम का ग्रन्थ फलित ज्योतिष पर लिखा और मल्ल ने नयचक्र नाम का अपना सुप्रख्यात न्यायग्रन्थ। मल्ल भृगुकच्छ गया और अपने मामा एवं गुरु के प्रतिपक्षी बौद्धाचार्य को जाहिर शास्त्रार्थ में पराजित कर फलस्वरूप अपने लिए 'वादी' की उपाधि प्राप्त की। प्रभावक चरित्र में इस घटना का काल वीर निर्वाण पश्चात् ८८४ अर्थात् ३५८ ई० दिया गया है। परम खेद की बात है कि नयचक्र नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और इसलिए सिंहक्षमाश्रमण (प्रायः ७०० ई०) की वृत्ति द्वारा ही वह पुनर्संघटित किया जा सकता है।

९. कहा जाता है कि मल्लवादी ने बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति[2] के न्यायबिंदु की धर्मोत्तर कृत वृत्ति पर भी टिप्पण लिखा था। यह भी कहते हैं कि उसने

---

१. इस ग्रन्थ का उल्लेख हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में किया है (पुरा., भाग ४, पृ. ६१) वहाँ इसका रचयिता वामन बताया गया है (र. छो. परीख, वही, पृ. ७६-७७)।

२. कुछ पण्डित धर्मोत्तर का समय ईसवी ८वीं सदी मानते हैं। विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ दी मेडीविल स्कूल आफ इण्डियन लाजिक, पृ. ३४-३५)। वैयाकरण वामन कि जिसको हेमचन्द्र ने विश्रान्तविद्याधर का रचयिता माना है, मेकडोनल्ड के अनुसार कदाचित् छठी सदी ई. में वर्तमान था (ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ. ४३२)। यदि मल्लवादी जिसने धर्मोत्तर पर टिप्पण लिखा था, नयचक्र के रचयिता से भिन्न नहीं है, तो प्रभावकचरित्र में दी हुई परम्परागत तिथि में कुछ भूल हो सकती है। मल्लवादी की तिथि के लिए देखो विद्याभूषण, ए हिस्ट्री आफ मेडीवल स्कूल आफ इण्डियन लाजिक, पृ. १९४ आदि, जहाँ मल्लवादी की तिथि वीर सम्वत् के स्थान में विक्रम या शक सम्वत् लेकर ६ वीं सदी ईसवी निश्चित की

सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क पर भी कि जो जैन न्याय का एक महान् ग्रन्थ है, टीका लिखी थी। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहेम व्याकरण में मल्ल को महान् श्रद्धांजलि भेंट करते हुए उन्हें नैयायिकों में अग्रणी कहा है[1]। प्रभावक चरित्र के अतिरिक्त, इस जैनाचार्य का वृत्तांत मेरुतुंग के प्रबंधचिंतामणि (१३०५ ई०), राजशेखर के प्रबंधकोश (१३४६ ई०) और अन्य प्रबंधों में लभ्य है।

श्रीमाल में साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन

१०. लगभग ७८६ ई० में, विविध तीर्थकल्प के कर्ता जिनप्रभसूरि[2] के अनुसार, सिंध से आए हुए अरबों द्वारा वलभी का पतन हुआ था। अरबों का यह अन्तिम आक्रमण था जिसने वलभी के गौरव को सर्वथा ही बुझा दिया। "वलभी के पराजयानंतर उसका स्थान पश्चिमी भारत के मुख्य नगर के रूप में अणहिलवाड़ ने ले लिया और वह पंद्रहवीं सदी तक यह सम्मान प्राप्त करता रहा जब कि अहमदाबाद ने इसे पदच्युत कर दिया"[3]। अणहिलवाड़ का वर्णन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम भिन्नमाल या श्रीमाल में प्रवृत्त सांस्कृतिक जीवन का संक्षेप में अवलोकन कर लें कि जो उन गुर्जरों का पहला मुख्य नगर था कि जिनने अन्तिम रूप से अपना निवास स्थान बनने वाले देश को गुजरात नाम दिया। भिन्नमाल जब मुख्य नगर नहीं रह गया था तब भी प्रधानतया उस नगर के निवासी प्रवासियों द्वारा गुजरात का इतिहास निर्माण हुआ था। वस्तुपाल स्वयम् श्रीमाल से उद्भूत प्राग्वाट जाति का ही था।

११. यूआन-चांग की साक्षी से कहा जा सकता है कि भिन्नमाल जो आबू पर्वत के पश्चिम में कोई ५० मील पर है, ईसा की सातवीं सदी में गुर्जर राज्य का जिसका कि ८३० मील से अधिक का घेरा था, पाटनगर था।[4] उसके आज

गई है। जम्बूविजय (विशाल भारत, भाग ४३, पृ. ४१५), ने अनेक प्रमाणों से पारंपरिक तिथि का ही समर्थन किया है।

१. अनुमल्लवादिनं तार्किकाः — सिद्धहेम की बृहद्टीका (२ २ ३९)।

२. एच. जी शास्त्री, इण्डिका, भा. २३, पृ. २४८।

३. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. ३१४–१५।

४. आज-कल भिन्नमाल प्रकृत गुजरात की सीमा में नहीं सम्मिलित किया जाता है। परन्तु यह प्रख्यात है कि सोलहवीं सदी ईसवी तक तो गुजरात और राजस्थान साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से एक थे, और इसलिए

२

प्राप्त भग्नावशेष, वहाँ के एवं आसपास के दर्शनीय तथ्य, वहाँ से प्राप्त प्राचीन
शिलालेख और उस नगर का श्रीमालपुराण में दिए पौराणिक एवं परम्परागत
वर्णन आदि से यह प्रमाणित होता है कि आज का भीनमाल कभी एक बड़ा
और सम्पन्न नगर रहा होगा[1]। प्रभावकचरित, अध्याय १४-१५ में श्रीमाल
का बड़ा सुंदर वर्णन है और सन् १६१२ ई० तक में निकोलस ऊफ्लेट नामक
एक अंगरेज व्यापारी ने ३६ मील की किलाबंदी और आज जिनका पता तक नहीं
है ऐसे अनेक सुंदर तालावों के ध्वंसों[2] का वर्णन किया है।

१२ वलभीपुर के समान ही पाटनगर श्रीमाल भी ब्राह्मण और जैन ज्ञान-
विज्ञान का केन्द्र था और युआन-चांग के अनुसार यह भी कहा जा सकता है
कि बौद्ध धर्म भी वहाँ प्रचार में था। श्रीमालपुराण के अनुसार श्रीमाल में एक
हजार ब्रह्मशालाएँ और चार हजार मठ थे कि जहाँ ज्ञान-विज्ञान विभिन्न शाखाओं
में पढ़ाया जाता था (अध्याय १२ श्लो. २२; और अध्याय ७१)। इसी पुराण
में लिखा है कि —

चतुर्वेदाः साङ्गाश्च ह्युपनिषत्संहितास्तथा।
सर्वशास्त्राणि वर्तन्ते श्रीमाले श्रीनिकेतने॥
—अध्याय ७१ श्लोक ६।

१३. परंतु भिन्नमालविषयक सबसे पहली प्रामाणिक साक्षी वर्मलात का
शिलालेख है। प्रभावकचरित के अनुसार यह वर्मलात वहाँ का राजा था। यह
शिलालेख वि० सं० ६८२ (६२६ ई०) का है। यह वर्मलात कदाचित्

टेसीटोरी जैसे विद्वानों द्वारा उस भाषा को जो कि यथार्थ में पुरानी गुजराती ही
है, प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दे दिया गया है। चौलुक्य काल में,
राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गुजरात में उत्तर गुजरात और राजस्थान
दोनों ही सम्मिलित थे, और लाट याने दक्षिण गुजरात उसमें बहुत पीछे सिद्ध-
राज जयसिंह द्वारा उसके विजयान्त पर मिला दिया गया था। यह सम्भव है कि
गुजरात और राजस्थान दोनों ही अपने ही ढंग से, पन्द्रहवीं सदी में अहमदाबाद
में दिल्ली से स्वतन्त्र सुलतानी स्थापित हो जाने के पश्चात्, विकास करते रहे थे।

१. भिन्नमाल के ध्वंसावशेषों के विवरण के लिए, देखो वंग, भा. १, खं. १
के परिशिष्ट में नैक्सन का लेख।

२. वही, भा. १ खं १ पृ ४५१।

वही है कि जिसका माघ के शिशुपालवध की प्रशस्ति में उल्लेख है। यह अभिन्नता यदि स्वीकृत है तो हम माघ, जो परम्परानुसार श्रीमाल का कवि माना जाता है, का समय इससे ५० वर्ष पीछे का रख सकते हैं अथवा काशिका पर जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में उसके निर्देश का विचार करते हुए, सन् ७०० ई० का कह सकते हैं। क्योंकि माघ का दादा सुप्रभदेव वर्मलात का महामात्य था और माघ का पिता दत्तक अपनी सर्वजन हितैषिता के कारण 'सर्वाश्रय' कहलाता था। हो सकता है कि माघ ने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति 'श्री' शब्द से, जिससे कि वह 'श्र्यंक' काव्य कहलाता है, श्रीमाल नगर को स्मरणीय करने के लिए ही की हो।[2]

१४. श्रीमाल का दूसरा प्रख्यातनाम व्यक्ति है ज्योतिर्विद् ब्रह्मगुप्त, जिसने अपना ख्यातनाम ग्रन्थ 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' शक सम्वत् ५५० अर्थात् सन् ६२८ ई० में समाप्त किया था जब कि चाप वंश का राजा व्याघ्रमुख वहाँ राज्य करता था। अपने निवास के नगर के कारण ही ब्रह्मगुप्त भारतीय साहित्य में 'भिल्लमालकाचार्य' नाम से प्रसिद्ध है।

१५. श्रीमाल में जैन विद्या भी बहुत प्रचार में थी। सिद्धर्षि की सुप्रसिद्ध उपमितिभवप्रपञ्चकथा भी लेखक के ही कथनानुसार वि० सं० ९६२ अर्थात् सन् ९०६ ई० में यहां समाप्त हुई थी। इस रूपक कथा में जैन साहित्य की धर्मकथा शैली अपने शिखर पर पहुँच गई है। इस ग्रंथ की प्रशस्ति में, सिद्धर्षि ने अपनी गुरु परम्परा में निवृत्ति कुल के सूर्याचार्य, देल्लमहत्तर और धर्मा ब्राह्मण से जैन साधु और भिन्नमाल में निधन को प्राप्त हुए दुर्गस्वामिन[3] का नाम गिनाया है। तदनन्तर उसने बड़े उत्साह और सन्मान के साथ आचार्य हरिभद्र का वर्णन किया है कि जिनको उसने इस कथा के प्रथम प्रस्ताव में ही अपना धर्मबोधकर गुरु और सच्चा धर्मद्रष्टा कह कर आभार माना है। इस कथन से हमें यह विश्वास करने की प्रेरणा भी मिलती है कि हरिभद्र कवि के निकटतम गुरु होने चाहिए। परन्तु यह असम्भव बात है, क्योंकि आचार्य जिनविजयजी अकाट्य

---

१. कीथ, संस्कृत लिटरेचर पृ १२४।

२. र. छो परीख, वही, पृ ६५-६५।

३. इसी नगर के जैन मंदिर में सिद्धर्षि ने पहले पहल अपने ग्रंथ को पढ़ सुनाया था और साध्वी गणा ने, जो दुर्गस्वामी की शिष्या थी, पहल पहल लिखा था।

प्रमाणों से हरिभद्रसूरि का समय सन् ७०१-७७१ ई० का निश्चित कर चुके हैं।[1] इसलिए हम यह विना ननुनच के जैसा कि जिनविजयजी ने माना है, मान सकते हैं कि सिद्धर्षि ने हरिभद्र को यह प्रसन्न श्रद्धांजलि इसीलिए अर्पण की थी कि उन्हें इनके ग्रन्थों से अनन्यतम प्रेरणा मिली थी। सिद्धर्षि कहते हैं कि कथा की रूपक शैली लोगों को आकर्षित करने के लिए ही चुनी गई है और इसीलिए यह कथा प्राकृत के बजाय संस्कृत में ही लिखी गई है क्योंकि प्राकृत अज्ञ जनों की भाषा है और शिक्षितों को मिथ्यात्व से मुख मुड़ा कर सद्धर्म की ओर झुकाना आवश्यक था। उपमितिभवप्रपंचकथा ही जैनाचार्य की रची सर्वप्रथम लम्बी संस्कृत रचना है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि उस काल तक जैनाचार्य प्राकृत के स्थान में संस्कृत में लिखना इसलिए आवश्यक मान गये थे कि उससे भारतीय विद्वानो के सारे जगत को पहुँचा जा सकता था। जैनों में सिद्धर्षि के इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई असाधारण लोकप्रियता इससे भी प्रकट होती है कि उसकी रचना के सौ वर्ष बाद ही उसके संक्षेप और सार किये जाने लगे थे और हेमचन्द्र तक ने भी उस कथा के पात्रों के नाम अपने परिशिष्ट-पर्व में प्रयोग कर उसकी सर्वमान्यता का प्रमाण दे दिया है[2]। सिद्धर्षि ने प्राकृत चन्द्रप्रभचरित्र का संस्कृत रूपान्तर भी किया था और धर्मदासगणि की प्राकृत उपदेशमाला और सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार पर टीका भी लिखी थी।

१६. ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन के अनेक ग्रन्थ, भारतीय विभिन्न दर्शनों का परिचायक ग्रन्थ 'षड्दर्शनसमुच्चय', लम्बी प्राकृत धर्मकथा 'समराइच्चकहा', उपहास कथा 'धूर्ताख्यान', अनेक धार्मिक प्रकरण और अनेक आगमो की संस्कृत टीका के रचयिता श्रीहरिभद्रसूरि की प्रवृत्तियों का एक नगर श्रीमाल भी था। वे ही कदाचित् प्रथम जैनाचार्य हैं कि जिनने मूल प्राकृत सूत्रों पर संस्कृत टीकाएँ रचीं। प्राचीन प्राकृत टीकाओं का उपयोग करते हुए उनने अपनी टीकाओं में आख्यानों का प्राकृत रूप ही रहने दिया है यह भी एक द्रष्टव्य बात है।

१७. एक और प्राचीन प्राकृत धर्मकथा अर्थात् उद्योतनसूरि की कुवलयमाला जाबालीपुर (मारवाड़ का आधुनिक जालोर) में जो कि भिन्नमाल से बहुत दूर नहीं है, शक ७०० अर्थात् सन् ७७८ ई० में रची गई थी। उसकी प्रशस्ति में

---

१. हरिभद्र के समय निर्णय पर उनका संस्कृत लेख, प्रथम अखिल भारतवर्षीय ओरियंटल कान्फ्रेन्स पूना का विवरण भाग १ पृ. १२४-३४ में देखो।

२. विण्टरनिट्ज़, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा. २ पृ. ५२२।

ग्रन्थकर्ता की ही कही हुई बात से जाना जाता है कि तत्त्वाचार्य ने उन्हें जैनधर्म की साधु दीक्षा दी थी। अपने दीक्षा-गुरु के अतिरिक्त दो विद्यागुरुओं के नाम भी लेखक ने दिए हैं। एक का नाम था वीरभद्र, जिन्होंने जाबालीपुर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का एक मन्दिर बनवाया था। इनने लेखक को जैन सिद्धान्त की शिक्षा दी थी। दूसरे विद्यागुरु थे अनेक शास्त्रों के रचयिता श्रीहरिभद्र, जिन्होंने लेखक को न्याय की शिक्षा दी। इस प्रकार हरिभद्र उद्योतन सूरि के वृद्ध समकालिक थे। अपनी गुरु परम्परा में लेखक ने देवगुप्त नाम के एक आचार्य, जो महाकवि थे, और उनके शिष्य शिवचन्द्र, जिनने श्रीमाल को अपना निवासस्थान कर लिया था, को भी गिनाया है (श्लोक ५-७)[१]।

१८ ये कुछ उदाहरण श्रीमाल की उस साहित्यिक जीवन प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त हैं कि जो अणहिलवाड़ पाटण का निकटतम प्रेरक आदर्श हुआ था। इस युग में सन् ९५३ ई० तक श्रीमाल गुर्जर देश[२] का प्रमुख नगर रहा था ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु इसके ठीक बाद ही भीमसेन के राज्यकाल में श्रीमाल से १८००० गुर्जरों का देशान्तर निवास का उल्लेख है। श्रीमालपुराण के अनुसार, श्री ने वि० सं० १२०३ अर्थात् सन् ११४७ ई०[३] में भीमाल को त्याग दिया था। यदि इसका विश्वास किया जाए तो कहना होगा कि उत्तर गुजरात में साधारण रूप से और अणहिलवाड़ में विशेष रूप से श्रीमाल से लोगों का आगमन हुआ था। गुजरात के अधिकांश ब्राह्मण और बनिये और अनेक कर्मकार शिल्पकार अपनी जन्मभूमि मारवाड़ और कुछ श्रीमाल एवं उसके आसपास के गाँवों को बताते हैं। श्रीमाली ब्राह्मण और बनिये, प्राग्वाट (पोरवाड़)—श्रीमाल के पूर्वी भाग के निवासी—बनिये, और श्रीमाली सोनी-सुनार जैसा कि उनके ज्ञाति नामों से अनुमान किया जा सकता है, श्रीमाल खास के हैं। इस महान् देशान्तर प्रवासी जनता से होनेवाली श्रीमाल की हानि का लाभ अणहिलवाड़ को प्राप्त हुआ और हमें यह आगे चलकर मालूम होगा कि गुजरात के धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन में श्रीमालों और पोरवाड़ों ने कितना बड़ा योग दिया था। उनमें से हम कुछ को तो अपने युग के महान् शासक और सेनानायक, साहित्यिक ग्रन्थों के सिद्धहस्त रचयिता, स्मारकों के निर्माता और धर्मनायक के रूप में ही देखते हैं।

---

१. वसन्त रजत महोत्सव स्मारक ग्रंथ (गुजराती) के पृ. २००-०१ में जिनविजयजी का कुवलयमाला पर लेख देखो।

२. र. छो. परीख, वही, पृ. १०७। ३. वही, पृ. १०२।

अणहिलवाड़ पाटण की साहित्य और पाण्डित्य परम्पराएँ

१६. भिन्नमाल के पतन की अनेक सदियो पूर्व ही वि. सं. ८०२ अर्थात् सन् ७४६ ई०[1] में चावड़ा वंश के वनराज द्वारा उत्तर गुजरात की सरस्वती नदी के तीर स्थित लाखाराम नामक प्राचीन गाँव में अणहिलवाड़ बसा दिया गया था[2]। यह जानते हुए कि चावड़ों का समकालिक कोई अभिलेख, शिलालेख या मुद्रा-सिक्का नही मिलता है, और प्रबन्धचिंतामणि[3] जैसे प्रबन्धो में उन्हें लुटेरे कहा गया है, हम यह मान ले सकते है कि उनका राज्य विस्तार अणहिलपाड़ के इर्द-गिर्द ही होगा। और उनका यह राज्य भी सन् ६४२ ई० में समाप्त हो गया था जब कि मूलराज, अन्तिम चावड़ा शासक सामन्तसिंह के भाग्नेय, ने अपने मामा को मारकर उसका राज्य हड़प लिया था क्योंकि वह शराबी था और इसी शराब की झोंक में उसने उस राज्य का उत्तराधिकारी मूलराज को बना भी दिया था। जब कि अणहिलवाड़ एक छोटा-सा ही राज्य था, उस समय भी इस पाटनगर के आस-पास के गाँवो में भिन्नमाल का साहित्यिक जीवन वर्तमान था, इसका कम से कम एक उदाहरण तो मिलता ही है। कुवलयमाला के लेखक उद्योतनसूरि के गुरु तत्त्वाचार्य की बात (देखो पैरा १७ ऊपर) पहले ही हम कह चुके हैं। पाटण से कुछ ही मील दूर स्थित गम्भूता (आधुनिक गांभू) में, आचाराग और सूत्रकृतांग नामक दो अंगो के संस्कृत टीकाकार, शीलाचार्य या शीलाकाचार्य से उनकी अभिन्नता सिद्ध की जा सकती है। इस अभिन्नता का आधार यह है कि टीकाकार शीलांकाचार्य तत्त्वादित्य नाम से भी प्रसिद्ध थे कि जो तत्त्वाचार्य का समानार्थक ही है। फिर कुवलयमाला की प्रशस्ति में १२ वे श्लोक में[4] तत्त्वाचार्य

---

१. समय की चर्चा के लिए देखो आर. सी. मोदी का कान्तमाला (गुजराती) में लेख।

२. जिनप्रभसूरि के विर्तीक का २६ वाँ कल्प। र. छो. परीख, वही, पृ. २०२-४ भी।

३. प्रचिं, पृ. १४।

४. तस्स वि सीसो तत्ताअरिओ त्ति णाम पयडगुणो।
आसि तवतेयणिज्जियविगयमोहो [दिणयर व्व] ॥११॥
[जो दूसमसलिलपवाहवेगहीरन्तगुणसहस्साण]
सीलङ्गविउलसालो लक्खणरुक्खो व निक्कंपो ॥१२॥ वसन्त रजत महोत्सव स्मारक ग्रंथ (गुजराती), पृ. २६६।

का वर्णन करते हुए लेखक ने श्लेष द्वारा शीलांक को भी सूचित किया है। इसके अतिरिक्त ऐसी भी किम्वदन्ती है कि अणहिलवाड़ के संस्थापक वनराज के गुरु शीलगुणसूरि और शीलांकाचार्य एक ही थे।[1] जैन परम्परा यह है कि वनराज और उसकी माता को शीलगुणसूरि ने उस समय आश्रय दिया था जब कि वनराज का पिता मारा जाकर उसका राज्य उसके शत्रुओं ने हड़प लिया था।

२०. अणहिलवाड़ में राज्य करनेवाले चौलुक्यवंश का प्रथम राजा मूलराज एक बड़ा सेनानी और दीर्घदर्शी राजनीतिक था और उसीने चावडों से प्राप्त हुई छोटी-सी रियासत को गुजरात राज्य का रूप दे दिया था। उसने लाट में दक्षिण चौलुक्यों के राजप्रतिनिधि बारप को जीता था। सौराष्ट्र के ग्रहरिपु को नष्ट किया था। और कच्छ के लाखा फुलाणी का दमन किया था। उसने सिद्धपुर के रुद्रमहालय जो कि चौलुक्य युग का एक महान् स्थापत्य स्मारक है, का निर्माण कराया था और उत्तरापथ के ब्राह्मण पण्डितों को गुजरात में आकर बसने के लिए आमन्त्रित किया था[2]। मूलराज के काल ही में यह प्रान्त गुजरात के नाम से पहचाना जाने लगा था[3]। राजनीतिक विस्तार के साथ इसका सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास भी होता रहा था जो बारहवीं सदी में होनेवाले सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के काल में उच्चतम शिखर पर पहुँचा। भीमदेव प्रथम (१०२२-१०६४ ई०) के राज्यकाल में मुहम्मद गजनी के भयानक आक्रमण (१०२४ ई०) के कारण गुजरात की शान्ति कुछ काल के लिए बुरी तरह गड़बड़ा गई थी, परन्तु सामान्य साहित्यिक संस्कृति फिर भी लगातार उन्नत होती रही। अणहिलवाड़ पाटण में गुजरात साम्राज्य स्थापना के पश्चात् उत्तर गुजरात के प्रदेश में विशेष रूप से जैन विद्वानों और कवियों की महान् साहित्यिक प्रवृत्तियाँ चलती हम पाते हैं। उनमें शांतिसूरि (११वीं सदी) और नेमिचन्द्र (१०७३ ई०) उत्तराध्ययन के ये दोनों टीकाकार कि जिनकी ये टीकाएँ अध्येता और विद्वानों दोनों ही को अत्यन्त उपयोगी हैं, और नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि, उन नवांगी वृत्तियों के संशोधक श्री द्रोणाचार्य, और

---

१. शीलांक के विषय में मुनिरत्न ने अपने काव्य अममचरित्र में कहा है:—गुरुर्गुर्जरराजस्य चातुर्विद्यैकसृष्टिकृत्। त्रिषष्टिनरसद्वृत्तकविर्गांगां न गोचरः॥

२. उन ब्राह्मणों के वंशज आजकल उदीच्य या औदीच्य ब्राह्मण कहलाते हैं।

३. भो. ज. सांडेसरा, इतिहासनी केडी (गुज.), पृ. १२१ आदि।

अनेक धार्मिक एवं लौकिक विषयों पर लिखने वाले दो भाई श्री जिनेश्वर एवं बुद्धिसागर (११ वीं सदी पूर्वार्द्ध) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

२१. प्राप्त सभी प्रमाणों से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न सभी सम्प्रदायों के कवि और भाषाविद् देश के विभिन्न भागों से गुर्जर देश की राजधानी में आ चुके थे। जैन सम्प्रदाय के विद्वानों के विषय में भी कहा जा सकता है कि उनने काव्य-रचना, व्याकरण और भाषा-विज्ञान, दर्शनों में निपुणता और न्याय में प्रवीणता द्वारा अपने उच्चकोटि के ज्ञान की धाक जमा दी थी[2]। तर्क, लक्षण और साहित्य ये कुछ ऐसे विषय हैं जो भारत की बौद्धिक प्रवृत्तियों के साधारण क्षेत्र हो गये थे और इन तीनों का गुजरात के जैन साहित्यिकों ने [3]विद्यात्रयी कह कर विशेष रूप से परिचय दिया है।

२२. अणहिलवाड़ और धारा में या यों कहिये कि गुजरात और मालवा में सांस्कृतिक प्रतिद्वन्द्विता बड़ी ही विकट थी। एक देश के विद्वान् दूसरे देश के विद्वानों से शास्त्रार्थ करने के लिए अपने-अपने देश के प्रतिनिधि रूप से इधर-उधर जाते-आते ही रहते थे[4]। इसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण मालवा और गुजरात का सामान्य सांस्कृतिक जीवन निरन्तर उन्नति करता रहता था हालांकि इनके राजा परस्पर निरन्तर युद्ध करते रहकर राजनीतिक उथल-पुथल कुछ-कुछ मचाते ही रहते थे। जब गुजरात और मालवा एक राजनीतिक इकाई नहीं रहते थे तो वे एक दूसरे से घमासान युद्ध किया करते और इसलिए जब सिद्धराज जयसिंह ने सन् ११३६-३७ ई० में[5] मालवा विजय कर ही लिया तो दोनों प्रान्त मिला कर एक कर दिये गये।

२३. सिद्धराज जयसिंह (१०९४-११४३ ई०) गुजरात के राजाओं में सर्वोत्कृष्ट स्मरणीय हैं। वह लोकनाट्यों और लोक-साहित्य में आज भी जीवित है। विक्रम और भोज के समान वह भी पौराणिक व्यक्ति सा हो गया है। वस्तुतः ऐसा मालूम पड़ता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में उज्जयिनी के विक्रमादित्य के

---

१. अणहिलवाड़ और समीपवर्ती क्षेत्रों में रचित अनेक ग्रंथों में से ये थोड़े से हैं। जिज्ञासु पाठक अधिक विवरण के लिये मो. द. देसाई के जैन साहित्य नो इतिहास (गुज.) जैसी पुस्तकें देखें।

२. र. छो. परीख, वही, पृ. १३९–४०।

३. भो. ज. सांडेसरा, वही, पृ. ३६।

४. र. छो. परीख, वही, पृ. १४० आदि।

५. डी. के. शास्त्री, गुमराइ (गुज.), भा. १, पृ. २४५।

बराबर होने की जयसिंह की महती आकांक्षा थी[1]। उसका दरबार भारत के विभिन्न भागों से आने वाले विद्वानों का परम प्रिय स्थान हो गया था। उसके दरबार में दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर मुनि वादी देवसूरि जैसे[2] बड़े-बड़े विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ हुआ ही करते थे। और वह उनमें अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया करता था। इससे यह भी पता चलता है कि वह उस युग के भिन्न भिन्न धर्म सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से भी पर्याप्त परिचित था। उसे हेमचन्द्र के रूप में एक ऐसा बड़ा साहित्यिक व्यक्ति मिल गया था कि जो ऐसे ग्रन्थ रच सकता था कि जो मालवा के साहित्यिक वैभव के समकक्ष ठहर सके।

२४. सुप्रख्यात हेमचन्द्र देवसूरि के शिष्य थे।[3] वे ऐसे अत्यन्त चतुर और उर्वर ग्रन्थकार थे कि जिनने कवि और विद्वान् दोनों ही रूप में अत्यन्त ही भिन्न भिन्न विषयों पर रचनाएँ की थी। उनके ही कारण गुजरात श्वेताम्बर जैनों का मुख्य गढ़ हो गया था और वैसा गढ़ वह सदियों तक रहा भी एवं बारहवीं और तेरहवीं सदी में जैन-साहित्य वहाँ अत्यन्त ही पनपा। वे केवल जैन ग्रन्थों के लेखक ही नहीं थे अपितु साथ-साथ व्याकरण, कोश, छन्द और काव्य जैसी लौकिक विद्याओं पर भी कितने ही ग्रन्थ उनने बनाये और इसीलिए वे 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहे जाने लगे। उनका जन्म धंधुका (अहमदाबाद के पड़ोस का एक नगर) में सन् १०८६ ई० में एक व्यापारी के पुत्र के रूप में हुआ था। उनके माता-पिता परम श्रद्धावान जैन थे। बचपन में ही वे जैन साधु जीवन के लिए दीक्षित हो गये थे। जैन साधु के रूप में उनने अपना अधिकांश जीवन गुजरात के पाटननगर में ही बिताया था। जब सिद्धराज मालवा विजय कर लौटा, अणहिलवाड़ के पण्डितगण बधाई देने के लिए उसके समक्ष उपस्थित हुए थे। उज्जयिनी के साहित्यिक वैभव के ईर्ष्यालु सिद्धराज ने हेमचन्द्र को एक व्याकरण लिखने का आदेश दिया और देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्राप्त अनेक व्याकरण ग्रन्थ उनको संग्रह कर दिए। फिर हेमचन्द्र ने अपना सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ

---

१ र छो परीख, वही, पृ. १६२।

२. कुमुदचन्द्र और देवसूरि के शास्त्रार्थ का एवं जयसिंह और इसके दरबार का सुन्दर वर्णन यशश्चन्द्र के ऐतिहासिक नाटक मुद्रितकुमुदचन्द्र-प्रकरण में दिया गया है।

३. हेमचन्द्र के जीवन और कार्य के लिए देखो डा. ब्यूलर, हेमचन्द्राचार्य की जीवनी; र. छो. परीख, वही, भाग १, और एम. सी. मोदी, हैम-समीक्षा (गुजराती)।

तैयार कर दिया और राजा का नाम उससे सम्बद्ध रखने के लिये उसको 'सिद्धहेमचन्द्र' नाम दिया। सिद्धराज ने उसकी प्रतियाँ करवाईं और उन्हें देश के भिन्न भिन्न राज्यों में भिजवा दी। २० प्रतियाँ तो उस युग के विद्या-केन्द्र काश्मीर को ही उसने भिजवाईं। हेमचन्द्र ने दो द्व्याश्रय महाकाव्य, एक संस्कृत और दूसरा प्राकृत, में रचे, जिनमें संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के नियमों के दृष्टान्त देते हुए सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) के वैभव का गान ही नहीं किया है अपितु उस वंश का सच्चा इतिहास भी काव्य में संकलित कर दिया है। ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई भी शाखा नहीं है कि जिसमें हेमचन्द्र ने अपना विशेष दान नहीं दिया हो। उनके समय के एक युवक सोमप्रभाचार्य ने उनकी साहित्यिक सफलताओं का संक्षेप में एक श्लोक द्वारा ही इस प्रकार वर्णन किया है—

> क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्व्याश्रया-
> लंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम्।
> तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं
> बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः॥

अर्थात् उनने एक नया व्याकरण-सिद्धहेमचन्द्र, एक नया छंदशास्त्र—छंदोनुशासन, दो द्व्याश्रय काव्य और काव्यानुशासन, एक नया योगशास्त्र, एक नया न्यायग्रंथ—प्रमाणमीमांसा. और जिनों का नया जीवनचरित्र— त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, और परिशिष्टपर्व रचा। इस प्रकार उनने हमारे अज्ञानान्धकार को कहाँ-कहाँ दूर नहीं किया है?

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अनेकार्थसंग्रह नाम से शब्द के अनेकार्थों का कोष, अभिधानचिंतामणि—पर्याय-शब्दकोश, देशीनाममाला—संस्कृतेतर-प्राकृत के शब्दकोशों की रचना की। निघंटुशेष तीन भाग जिनमें से दो में आयुर्वेद एवं वनस्पतिशास्त्र के और तीसरे में रत्नादि के शब्द हैं, और अनेक दार्शनिक स्तोत्र भी रचे। गुजरात और जैन सम्प्रदाय ही इसके लिये हेमचन्द्र के अत्यन्त आभारी नहीं हैं, परन्तु संस्कृत साहित्य में भी उन्हें इन सब रचनाओं के कारण गौरव का स्थान प्राप्त है[1]।

२५. जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) पहले शिवभक्त था, हेमचन्द्र के जैन सिद्धान्त शिक्षण से बहुत ही प्रभावित हुआ था और उनको अपना गुरु ही मानता था। हेमचन्द्र के इस शिक्षण के फलस्वरूप

---

१. विण्टरनिट्ज़, ब्यूलर, वही का पूर्ववचन।

कुमारपाल ने स्वयम् शिकार करना बिलकुल ही त्याग कर दिया यही नहीं अपितु अपने राज्य भर में पशुवध, मांसाहार, मद्यपान, द्यूतरमण, पशु-प्रतिद्वन्द्विता और टॉवबाजी भी बन्द कर दिए थे। उसने जैन मंदिरों का निर्माण और जैनो के साहित्यिक प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया था। उसकी प्रतिष्ठा में हेमचन्द्र ने अपने दूसरे द्व्याश्रय काव्य में, जिसमें व्याकरण के प्राकृत अंश के नियमो के दृष्टान्त दिए है, कुमारपाल का चरित ही दे दिया है और कुमारपाल का जीवन एक श्रद्धावान जैन श्रावक के रूप में वर्णित किया है। इन दोनों—जयसिंह और कुमारपाल—राजाओं के राज्यकाल में हेमचन्द्र और उसकी शिष्य मण्डली ने ही नहीं अपितु अन्य जैन और अजैन कवियों और विद्वानों ने भी रचनाएँ की थीं। गहन साहित्यिक प्रवृत्तियों का युग तब गुजरात में प्रवर्तमान था।

२६. हेमचन्द्र का शैक्षणिक कार्य भी उतना ही सफल रहा था कि जितनी उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ। संस्कृत साहित्य की अनेक शाखाओं पर उनके कई शिष्य भी अनेक रचनाएँ छोड़ गये हैं।[1] उन शिष्यों में से मुख्य है वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनन्य प्रेमी[2] प्रख्यात नाटककार और नाट्यदर्पण नामक नाट्य-शास्त्र पर विरल ग्रन्थ के लेखक रामचन्द्र। दूसरा शिष्य है गुणचन्द्र जिसने 'नाट्यदर्पण' के लिखने में रामचन्द्र को सहयोग दिया था। इस ग्रन्थ में विशाखदत्त के नष्ट नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' के अनेक उद्धरण दिये गये है कि जो गुप्त इतिहास की लुप्त कड़ियाँ संकलित करने में बड़े महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। उसमें संस्कृत के कितने ही उपलब्ध और अनुपलब्ध नाटकों के भी उल्लेख है जिनमें से कुछ तो इसी लेखक की रचनाएँ है। धनजय के ग्रन्थ 'दशरूपक' (दसवीं शती) से रामचन्द्र अवश्य ही परिचित होगा परन्तु उसका 'नाट्यदर्पण' तो बिलकुल मौलिक ही लिखा गया मालूम पड़ता है। इस ग्रन्थ में उसने नाटक के प्रकारों, स्वरूप और रसों का ऐसा वर्णन किया है कि जो भरत से भिन्न है। गुजरात में लिखे गये दो दर्जन नाटकों में कम से कम ग्यारह तो रामचन्द्र के लिखे हुए ही हैं। रामचन्द्र ने कम से कम चार प्रकार के संस्कृत नाटक लिखे हैं यानि नाटक, प्रकरण, नाटिका और व्यायोग।

२७. हेमचन्द्र के अन्य शिष्यों में से एक महेन्द्रसूरि था जिसने हेमचन्द्र के अनेकार्थकोश पर वृत्ति लिखी थी और दूसरा था चन्द्रलेखा-विजय-प्रकरण नामक

---

१ भो. ज. सांडेसरा, वही, पृ २५ आदि (हेमचन्द्राचार्यनुं शिष्य-मंडल शीर्षक लेख)।

२. वही, पृ. २५ आदि।

ऐतिहासिक नाटक का रचयिता देवचन्द्र। इस नाटक में सपादलक्ष या शाकम्भरी (आधुनिक साँभर, राजपूताना) के अर्णोराज पर कुमारपाल की विजय, और अर्णोराज की भगिनी से उसके विवाह का वर्णन है। तीसरा शिष्य था वर्धमानगणि जिसने कुमारपाल के बनाए कुमारविहार का वर्णन करने वाले रामचन्द्र के कुमारविहारप्रशस्ति काव्य पर विद्वत्तापूर्ण वृत्ति लिखी है। हेमचन्द्र के योगशास्त्र की कुछ व्याकरण की अशुद्धियों को शुद्ध करने वाला उदयचन्द्र चौथा है। यशश्चन्द्र जिसका प्रभावकचरित्र[1] और कुमारपालप्रबन्ध[2] में निर्देश है, पाँचवाँ है। अन्तिम और छठा शिष्य है बालचन्द्र जो कुमारपाल के उत्तराधिकारी और जैनों से घृणा करने वाले राजा अजयपाल[3] के हाथो रामचन्द्र की क्रूर मृत्यु के लिये कुछ अंशों में उत्तरदायी था। परम्परा तो हेमचन्द्र के और भी अनेक शिष्य[4] कहती आई है इसलिए ऊपर कथित शिष्यो के अतिरिक्त भी उनके शिष्य होना सम्भव है।

२८. हेमचन्द्र के प्रमुख समकालिकों में एक तो सिद्धराज के राजकवि प्राग्वाटवंशीय अंध श्रीपाल का नाम गिनाया जा सकता है। उसने सिद्धराज के बनवाये सुप्रसिद्ध सहस्रलिंग सागर की प्रशस्ति लिखी थी जिसका कुछ अंश ही पाटण के एक मंदिर में मिले पाषाण खण्ड पर खुदा पाया गया है[5]। कहा जाता है कि उसने सिद्धराज द्वारा जीर्णोद्धार कराये गये रुद्रमहालय[6] पर भी प्रशस्ति लिखी थी। कुमारपाल के राज्यकाल में सन् ११५० ई० में लिखी बड़नगर के गढ़ की प्रशस्ति के अन्त मे श्रीपाल कवि अपने ही विषय में इस प्रकार कहता है—

> एकाहनिष्पन्नमहाप्रबन्धः श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।
> श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम्॥[7]

जिस महाप्रबन्ध का यहाँ निर्देश है वह प्रभावकचरित्र[8] में वर्णित वैरोचनविजय के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। श्रीपाल सिद्धराज का सखा और दरबारी कवियो का नेता था। अणहिलवाड़ में आए हुए भागवत-

---

१. अध्याय २२, श्लोक ७३६। २. पृ. ३८८।

३. प्रको पृ. ९८; पुप्रसं, पृ. ४६; प्रचिं, पृ. ९७।

४. ब्यूलर, वही, पृ. ६०।

५. आर. सी. मोदी, ७ वीं अखिल भारतीय ओरियंटल कांफ्रेन्स, बड़ौदा का विवरण, पृ ६४९ आदि।

६. जैसाइ, पृ. २३५ आदि। ७. प्राचीन लेखमाला, भा.१, सं. ४५।

८. द्रुम, भाग ७७, पृ. ३५।

धर्मी देवबोध से एवं अन्य विद्वानों से उसके सम्पर्क और प्रतिस्पर्धा के विषय में प्रबन्धों[1] से हमें बहुत सी सूचनाएँ मिलती हैं। उन्हीं से हमें यह भी पता लगता है कि श्रीपाल के पास समकालिक कविगण दोष संशोधन कराने को अपने काव्य लाते थे[2]।

२६. यह दिलचस्प बात है कि श्रीपाल का पुत्र सिद्धपाल भी एक अच्छा कवि था। इस सिद्धपाल के उपाश्रय में ठहरे हुए सोमप्रभाचार्य ने सन् ११८५ ई० में अपना प्राकृत ग्रन्थ कुमारपालप्रतिबोध समाप्त किया था कि जिसका विषय इस सिद्धपाल के उपाश्रय में ठहरे हुए श्री हेमचन्द्र का अपने शिष्य कुमारपाल को प्रतिबोध कराना ही है। सिद्धपाल का पुत्र विजयपाल भी नाटककार था और उसकी एक कृति है द्रौपदी-स्वयम्बर, जो मूलराज के बनवाए त्रिपुरुषप्रासाद में भीमदेव द्वितीय की आज्ञा से अणहिलवाड़ में खेला गया था[3]। साहित्य के इतिहास में ऐसा बहुत ही कम देखा जाता है कि किसी की तीन पीढ़ियों तक कविता देवी की कृपा इस प्रकार वर्षती रही हो।

३०. इस युग के अन्य वर्णनीय व्यक्तियों में से एक है वाग्भटालंकार का कर्ता वाग्भट। यह लेखक बहुधा मंत्री उदयन के पुत्र मंत्री वाग्भट से और नेमिकुमार के पुत्र एवं अलंकारशास्त्र के 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ के लेखक वाग्भट से, जो बाद में हुआ, अभिन्न बता दिया जाता है। ये तीनों वाग्भट बिलकुल पृथक व्यक्ति हैं। हमारा वाग्भट सोम का पुत्र था और वह जैनधर्मानुयायी था जैसा कि उसके मंगलाचरण श्लोकों से प्रमाणित होता है। अध्यापक रसिकलाल परीख ने ठीक ही अनुमान किया है कि यह कृति जयसिंह के मालवा विजय (११३६ ई०) और उसकी मृत्यु (११४३ ई०) के मध्यवर्ती काल में समाप्त हुई होगी क्योंकि इसमें उस विजय का उल्लेख तो है परन्तु कुमारपाल की प्रशंसा में उसमें एक भी श्लोक नहीं है[4]।

३१. तत्कालीन संस्कृत नाटकों में दो और गणनापात्र नाटक हैं। एक तो प्रह्लादनदेव का (प्रायः ११७० ई०) पार्थपराक्रमव्यायोग और दूसरा यशःपाल का मोहराजपराजय नाटक (११७४ और ११७७ ई० के मध्य)। प्रह्लादनदेव

---

१. र. छो. परीख, वही, पृ. २५५ आदि।

२. जैसाइ, पृ. २३५ आदि।

३. भो. ज. सांडेसरा, वही, पृ. ६०

४. र. छो. परीख, वही, पृ. २६२।

धारावर्ष—चन्द्रावती के राजा और कुमारपाल के माण्डलिक का भाई था। यह नाटक आबूपर्वत के संरक्षक देव अचलेश्वर के पवित्रकारोपण के पर्व समय खेला गया था जैसा कि उसकी प्रस्तावना में कहा गया है और वीररस के भावों का प्रदर्शन करता है। महाभारत के विराट पर्व से इसका कथानक लिया गया है और वह है कौरवों द्वारा हरी गई विराट की गौवों का अर्जुन द्वारा पुनरुद्धार और उनका पराजय। जिसकी योद्धा रूप से कीर्ति और राजसी दानशीलता की प्रशंसा वस्तुपाल के मित्रकवि सोमेश्वर द्वारा स्वरचित काव्य कीर्तिकौमुदी में की गई है, वह प्रह्लादनदेव कवि अपनी कविता की मृदुल रचना और स्पष्टता का दावा करता है। टेकनीक की दृष्टि से नाटक में कुछ ध्यान देने योग्य अवश्य है क्योंकि नांदीके पश्चात् स्थापक प्रवेश करता है, दो एक श्लोक सुनाता है और उसके बाद ही नट रंगमंच पर आकर उसका संबोधन करता है परन्तु उसका उत्तर सूत्रधार द्वारा दिया जाता है। प्रत्यक्षतः नाटककार और उसकी अनुगामी परम्परा दोनो ही इन दोनो को अर्थात् स्थापक और सूत्रधार को पर्यायवाची मानते होगे। फिर अन्तिम भरतवाक्य अर्जुन नही बोलता जो कि नाटक का मुख्य पात्र है अपितु वासव बोलता है जो कि नाटक के अन्त मे दिव्य रथ में बैठकर अप्सराओं से घिरा हुआ आता है[1]। प्रह्लादनदेव ने और भी ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से कुछ श्लोक पद्य-चयनिकाओं में सुरक्षित है। अतः वह बड़ा योग्य और विद्वान् व्यक्ति होना चाहिए। गुजरात का ऐसा लेखक वही है कि जिसने रामचन्द्र के बाद व्यायोग शैली का प्रयोग किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि उत्तर गुजरात के प्रह्लादनपुर (आधुनिक पालनपुर) की नींव लगाने वाला भी यही व्यक्ति है।

३२. मोहराजपराजय कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के जैन मन्त्री यशःपाल की रचना है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह नाटक अजयपाल के राज्यकाल में (११७४–७७ ई०) में लिखा गया था और थारापद्र (आधुनिक थराद, बनासकाठा जिला) मे बनाए कुमारपाल के मन्दिर कुमारविहार में महावीर की रथयात्रा महोत्सव के समय खेला गया था जहाँ कि लेखक या तो राज्यपाल था या वहाँ का केवल निवासी। यह नाटक अपेक्षाकृत प्राचीनकाल के जैन रूपक का अच्छा उदाहरण है। इसमें कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकरण, पशुहिंसा निवारण और राज्य में रुदतीवित्त के अपहरण का निषेध प्रख्यात गुरु हेमचन्द्र के उपदेश से किए जाने का विवरण है। नाटक के शीर्षक का अर्थ है मोह याने

---

१. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ. २६५।

अज्ञान पर विजय। राजा, हेमचन्द्र और विदूषक के अतिरिक्त इसके सब पात्र गुण-दोषों के प्रतीकात्मक हैं।[1] नाटक निःसन्देह गुणों से रहित नहीं है। सरल संस्कृत में यह लिखा हुआ है। उस कृत्रिमता से भी यह रहित है, जो अधिक आडम्बरपूर्ण रचनाओं को दूषित करती है। इसमें कुमारपाल के राज्य के नियमन में जैन प्रवृत्तियों का स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाता है और शिलालेखों एवं गुजरात के इतिहास के अन्य स्रोतों से जो हम जानते हैं उन पर भी अच्छा प्रकाश इससे पडता है। द्यूतरमण की विविध रीतियों और पशुवध-समर्थक विविध सम्प्रदायों के भी आश्चर्यजनक वर्णन इसमें दिये गये हैं। इसकी प्राकृत हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण से बहुत ही प्रभावित है[2]। कृष्ण मिश्र के प्रबोध-चन्द्रोदय (११वीं सदी) रूपक से जिससे कि यह कुछ सीमा तक अवश्य ही प्रभावित है, हम इस रूपक की तुलना कर सकते हैं।

३३. जैनशास्त्रों के संस्कृत टीकाकार एक महान् आचार्य मलयगिरि थे। अनेक आगम शास्त्रों पर टीका लिखने के अतिरिक्त उनने अनेक आगमबाह्य शास्त्रों पर भी टीकाएँ की हैं और मुष्टिव्याकरण नाम से एक संस्कृत का लघु व्याकरण भी लिखा है। मलयगिरि ने अपने ग्रन्थों में न तो अपने विषय में ही कुछ लिखा है और न उन ग्रन्थों के रचना काल के विषय में ही। परन्तु उनने कुमारपाल के राज्य का किसी किसी में निर्देश किया है और अपने लघु व्याकरण में एक उदाहरण इस प्रकार दिया है 'अदहत् कुमारपालोऽरातीन्'[3]। इससे स्पष्ट है कि मलयगिरि कुमारपाल के राज्यकाल में अथवा उसके ही आसपास जीवित थे। इनकी टीकाएँ बहुत विद्वत्तापूर्ण और अर्थस्पष्टतावाली हैं और इसलिए विद्यार्थियों और अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी हैं। आगमों के संस्कृत टीकाकारों में चार नाम प्रसिद्ध हैं, यथा—हरिभद्र, शीलाङ्क, अभयदेव और मलयगिरि। मलयगिरि चाहे इन सबमें अन्तिम ही हों, परन्तु किसी से भी कम ये किसी बात में नहीं हैं। जैन साहित्य में यह एक मार्के की बात है कि मूल आगम यद्यपि मागधी में रचे गये थे, परन्तु उनका अन्तिम संस्करण गुर्जर देश में हुआ और उनकी टीकाएँ भी यहीं लिखी गई हैं।

३४. कुमारपाल और उसके उत्तराधिकारी के राज्य-काल को छोड़ कर जब

---

१. वही, पृ २५३ आदि।

२. वही, पृ. २५५ आदि।

३. जैसाइ, पृ. २७३ आदि। क्योंकि क्रिया अनद्यतनभूत में है, ऐसा माना जा सकता है कि वाक्य बहुत ही निकट काल की घटना का उल्लेख करता है।

हम बारहवीं सदी ईसवी के अन्तकाल का विचार करते हैं तो हमें एक ऐसा ग्रन्थ मिल जाता है कि जो समग्र भारतीय-कथा-साहित्य के अध्ययन में अत्यन्त उपयोगी है। वह ग्रन्थ है जैन साधु पूर्णभद्र का पंचाख्यान। इसकी रचना सन् ११९९ ई० में हुई थी जबकि कदाचित् वस्तुपाल और उसका अनुज तेजपाल किशोर थे। पंचतन्त्र की सरलवाचना (Textus Simplicior) जो पश्चिमी भारत में प्रसिद्ध थी उसी की अलंकृतवाचना (Textus Ornatior) यह पंचाख्यान था जिसमें पंचतन्त्र के कश्मीरी संस्करण याने तंत्राख्यायिका का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रकट है। इस संस्करण में किसी अज्ञात स्रोत से कुछ कहानियाँ बढ़ा दी गई हैं जो कदाचित् लोककथा ही हो। परन्तु इस ग्रन्थ का यथार्थ महत्त्व यह है कि लेखक ने इस सर्वाङ्ग सरल ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी सावधानी से किया है क्योंकि उसके समय तक इसके पाठों में बहुत ही गड़बड़ी हो चुकी थी। इस लेखक ने यह सम्पादन कार्य सोम मंत्री[1] के आदेश से हाथ में लिया था। यह सोम कौन था यह अभी तक भी पहचाना नहीं गया है। जैसा कि इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है, लेखक ने पाठ का शब्द प्रति शब्द संशोधन किया है[2] और नया भाषान्तर तैयार किया है जैसा कि अन्यत्र कहीं भी नहीं है।[3] हमें यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक सम्पादन पद्धति से सम्पादित पंचतंत्र का संस्करण पंचाख्यान नहीं है। फिर भी यह स्पष्ट है कि पूर्णभद्र ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित पंचतंत्र के अनेक संस्करण एकत्रित किये होंगे और सरल वाचना के अपपाठ शुद्ध किए होंगे। समग्र भारतवर्ष में अति प्रचलित होने के कारण इसमें जाली पाठ खूब घर कर गये थे। पूर्णभद्र की सफलता[4] की इस बात से साक्षी मिलती है कि पश्चिमी भार-

---

१. श्रीसोममन्त्रिवचनेन विशीर्णवर्णमालोक्य शास्त्रमखिलं खलु पंचतंत्रम्।
श्रीपूर्णभद्रगुरुणा गुरुणादरेण संशोधितं नृपतिनीतिविवेचनाय।

२. प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकथं प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णभद्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम्॥

३. प्रत्यन्तरं न पुनरस्त्यमुना क्रमेण कुत्रापि किंचन जगत्यपि निश्चयो मे।
किंत्वाद्यसत्कविपदाचतबीजमुष्टिः सिक्ता मया मतिजलेन जगाम वृद्धिम्॥

४. दृष्टान्त के लिए देखो भो. ज. सांडेसरा, पंचतंत्र (गुजराती), पृ. ११–१२ टि.; २४२–४३ टि.; ३२७ टि.; ३३० टि.; ३३१–३२ टि.; ३३३ टि.; आदि।

तीय पंचतंत्र में अनेक स्थानों पर उसके दिए पाठ को स्वीकार करके ही हम यथार्थ पाठ और युक्तिसिद्ध अर्थ तक पहुँच सकते हैं।

३५. गुर्जर देश के मुख्य-मुख्य साहित्यिकों और साहित्यिक कृतियों का यह संक्षिप्त विवरण है। अणहिलवाड़ और गुजरात के चौलुक्य साम्राज्य के अनेक भागों में मूलराज से लेकर अन्तिम हिन्दू राजा कर्ण वाघेला जिसने अणहिल-वाड़ में सन् १२९६ से १३०४ ई० तक राज्य किया था, तक ही नहीं अपितु उसके बाद भी अठारहवीं सदी तक भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और तत्तत् काल में प्रचलित अपभ्रंशोत्तर बोलियों में सैकड़ों ही ग्रन्थों की रचना हुई थी। और ये धार्मिक एवं लौकिक दोनों ही विद्याओं की अनेक शाखाओं में रचे गए थे। चूंकि इनमें अधिकांश साहित्य अप्रकाशित और ऐसे भण्डारों में रखा है कि जिन तक थोड़े विद्वानों की ही पहुँच है, इनका परिचय सर्वसाधारण अध्येताओं को नहीं हो सका है और इसलिए एक पूरी पीढ़ी के अन्वेषकों द्वारा तैयार की हुई विवरणात्मक सूचियों के आड़ोलन से ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता है।

३६. उस विशाल गुर्जर साम्राज्य का अणहिलवाड़ पाटण केन्द्र था कि जो कुमारपाल के राजत्वकाल में अपने शिखर पर पहुँच कर दक्षिण में कोंकण, उत्तर में सारा राजपूताना, पश्चिम में कच्छ एवं सौराष्ट्र, पश्चिमोत्तर में सिंध और पूर्व में सम्पूर्ण मालवा तक फैल गया था। कुमारपाल के जीवन[1] के अन्तिम दिनों ही में गुजरात की शक्ति के छिन्न-भिन्न होने के बीज बोए जा चुके थे। यद्यपि इस ह्रास के चिह्न भीमदेव द्वितीय (११७९-१२४२ ई०) जो कुमारपाल से तीसरा था, के राज्य में ही स्पष्ट प्रतीत होने लग गये थे। बीच के दो राजाओं ने थोड़े काल तक ही राज्य किया था, परन्तु गुजरात का गौरव वीर-धवल वाघेला के राज्यकाल और उसके मंत्रीद्वय वस्तुपाल और तेजपाल के समय फिर से चमक उठा था। मध्यकालीन समग्र हिन्दू राजतंत्र युग में पश्चिम भारत के नगर पाटण को प्राप्त प्राधान्यता का विचार करते हुए यह उचित ही होगा कि हम यहाँ इस नगर की तात्कालिक महत्ता का विचार करें।

३७. यह बताने के कोई भी प्रमाण नहीं है कि चौलुक्य और वाघेला काल में जनगणना जैसी कोई व्यवस्था थी, जैसी कि हम मौर्यकाल में पाते हैं। परन्तु अणहिलवाड़ के अनेक वृत्तान्तों से जो हमें प्राप्त है, निःसंकोच कहा जा सकता है कि उसकी बस्ती बहुत ही घनी थी। कहीं-कहीं तो उसे नरसमुद्र ही

---

१. १ डॉ. परीख, वही, पृ. २२९।

कहा गया है। वह नगर वाणिज्य और व्यापार का भी बड़ा केन्द्र था। समकालिक साहित्यिक कृतियों में नगर के कितने ही उपयोगी वर्णन मिलते हैं। दोनों द्व्याश्रय काव्यों में हेमचन्द्रकृत वर्णन और कीर्तिकौमुदी में सोमेश्वर कृत वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। काव्यालंकारों और अतिशयोक्तियों के होते हुए भी वे वर्णन इतिहास के अध्येता को यथार्थता का बहुत कुछ दिग्दर्शन करा देते है।[1] सिद्धराज के बनाए हुए सहस्रलिंग तालाब जो कि १००८ शिव मंदिरों और १०८ देवी मंदिरो से घिरा हुआ था, और किनारे के महान् कीर्तिस्तम्भ कि जिस पर श्रीपाल की रचित प्रशस्ति उत्कीर्ण थी, ने अणहिलवाड नगर को बहुत ही सुन्दर बना दिया होगा। विद्या की अनेक शाखाओ की शिक्षा देनेवाली सत्र-शालाओ और मठो ने जहाँ अध्यापकों और अध्येताओ को निःशुल्क निवास, भोजन और वसन राज्य की ओर से दिया जाता था,[2] उस क्षेत्र को विश्वविद्यालय के उपनिवेश का-सा रूप ही दे दिया होगा। प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय को वहाँ स्थान था और बौद्ध न्याय सहित सभी दर्शनवादो[3] का अध्ययन अध्यापन किया कराया जाता था। जैसा कि हमें वस्तुपाल के विषय में आगे मालूम होगा, धार्मिक सहिष्णुता सर्वत्र फैली थी। ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि परिवार के भिन्न भिन्न सदस्य आपसी प्रेम सम्बन्ध स्थिर रखते हुए भी अपनी-अपनी धर्ममान्यता भिन्न रखते थे। कितने ही राजघराने के पुरुष तो जैन साधु बन गये थे। इनमें से मुख्य थे द्रोणाचार्य जो भीमदेव प्रथम के मामा थे और सूराचार्य कि जो द्रोणाचार्य के[4] संसारी समय के भतीजे और फिर शिष्य थे।

३८. जैसा कि पहले पृष्ठों में कह आये हैं, नगर का सामान्य सांस्कृतिक जीवन बड़ा उच्च था। राज्य संचालित विद्या मठो के अतिरिक्त भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के चैत्य और मठ भी वास्तव में अकादमी और विद्यालय ही थे कि जहाँ विद्यात्रयी और तत्सम्बन्धित विषयों की शिक्षा दी और विवेचना की जाती थी। यह जानना अत्यन्त ही रोचक होगा कि अणहिलवाड़ और अन्य नगरो में, मेलों खेलो में संस्कृत नाटक खेले जाते थे और उन्हें बड़े उत्साह के साथ झुंड के झुंड नागरिक देखते भी थे। ऐसा होना असम्भव ही होता यदि जनसाधारण

---

१. वही, पृ. २२२।

२. संस्कृत द्व्याश्रय काव्य की टीका, १-७ देखो।

३. प्रभावकचरित, १६. ७३।

४. सूराचार्य महान् विद्वान् और शिक्षाचार्य थे। उनके परम्परागत जीवन के लिए देखो प्रभावकचरित, प्रबन्ध १८।

संस्कृत और प्राकृत के सम्भाषणों का सामान्य आशय नहीं समझता होता। राजा, आमात्य या किसी सेठ-साहूकार के कहने से ही ये नाटक साधारणतया मन्दिरों में खेले जाते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी कवि बिल्हण की नाटिका कर्णसुन्दरी जो कि सिद्धराज के पिता कर्ण सोलंकी के राज्यकाल में कवि के थोड़े दिनों के पाटण में निवास के समय बनाई गई थी, अमात्य सम्पत्कर या शांतु के आदेशानुसार आदिनाथ के मन्दिर में खेली गई थी। हेमचन्द्र के एक शिष्य देवचन्द्र का चन्द्रलेखाविजयप्रकरण (देखो पैरा २७) भी कुमारपाल की सभा के विनोद के लिए कुमारविहार में खेला गया था। प्रह्लादन के पार्थपराक्रम-व्यायोग नाटक (देखो पैरा ३१–३२) और यशःपाल के मोहराजपराजय नाटक के खेले जाने की बात तो पहले ही कही जा चुकी है। विजयपाल, जो वस्तुपाल का निश्चय ही समकालिक था और जो १३वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जीवित था, का द्रौपदी-स्वयंवर नाटक भीमदेव द्वितीय के आदेश से वसन्तोत्सव के समय त्रिपुरुषप्रासाद में खेला गया था और रामचन्द्र का प्रबुद्धरौहिणेय जिसमें जैन कथाओं के अनुसार महावीर के समकालिक रौहिणेय चोर के प्रबुद्ध होने का वर्णन किया गया है, व्यापारशिरोमणि दो भाई यशोवीर और अजयपाल की सूचना से लगभग १२०० ई० में उनके ही बनवाए जिन मन्दिर में जालोर में खेले गए थे।[1] आगे हम उन सभी नाटकों की आलोचना करेंगे कि जो वस्तुपाल और उसके परिवार के सदस्यों द्वारा अभिनीत कराये गये थे। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण इतना सिद्ध करने को पर्याप्त है कि गुजरात का सांस्कृतिक जीवन तब कितना बढ़ा-चढ़ा था। गुजरात ही कदाचित् इस भारतवर्ष का ऐसा प्रान्त है कि जहाँ के प्राग्वाट, श्रीमाल आदि जातियों के वणिक भी विद्वान् थे (तुलना करिये अध्याय ४ का अन्तिम टिप्पण)। उनने संस्कृत और प्राकृत में नाटक और काव्य ही नहीं रचे थे अपितु अलंकार

---

१. भो ज. साडेसरा, वही. पृ ६० आदि। प्रसंगवश यहाँ कह देना उचित है कि गुजरात में मुसलमानी राज्य और अहमदाबाद में स्वतन्त्र गुजराती सुलतानों हो जाने पर भी संस्कृतनाटक का अभिनय करने की परम्परा कम से कम बचे हुए हिन्दू राज्यों में तो चलती ही रही थी। सन् १४४६ ई० के लगभग का पंचमहाल जिले में चांपानेर की गद्दी के राजा गंगादास के आश्रित गंगाधररचित गंगादासप्रतापविलास नौ अंकों नाटक है। इस ऐतिहासिक नाटक में गंगादास द्वारा अहमदाबाद के सुलतान मुहम्मद द्वितीय की पराजय की समकालिक घटना का आधार लिया गया है। इसमें वीर भावना का वर्णन है और चांपानेर में महाकाली के मंदिर के सभा मण्डप में यह खेला गया था।

और दर्शन जैसी साहित्य की शाखाओ पर भी ग्रन्थ रचनाएँ की थी। जो अध-कचरे थे उन्हें अपने विकास के लिए गुरुओं और धर्मप्रचारको के भिन्न-भिन्न विषयो पर ग्रन्थ लिखने की प्रार्थना करते हुए भी हम पाते है। ग्रन्थों की प्रतियाँ लिखवाना, उन्हें योग्य विद्वानो को दान देना, एवं उनके भाण्डारो का स्थापन करना बड़े पुण्यकार्य माने जाते थे। क्योंकि ज्ञान या पुस्तक दान उन सात दान-क्षेत्रों में से ही एक क्षेत्र है जिनमें जैनधर्म धन का सदुपयोग करने का उपदेश देता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि गुजरात की साहित्यिक प्रवृत्ति जैन धर्मानुयायियों तक ही परिसीमित थी। चौलुक्यो का कुलधर्म शैव था और कुल-पुरोहित सदा ही विद्वान् होता था। वस्तुपाल का मित्र और आश्रित सोमेश्वर राजवंश के परम्परागत कुलगुरुओ में से एक था। उसके पूर्वजो में से एक सोम या सोमेश्वर के द्वारा ही दुर्लभराज (१०१२–१०२२ ई०) के राज्य-काल में जैन सम्प्रदाय के सुविहित साधुओं को पाटण में चैत्यवासियो के भयकर विरोध होने पर भी रहने का स्थान प्राप्त हो सका था।[१] राजा विद्वानो को आश्रय देता था और उसके दरबार में काव्य, अलंकार और विद्वन्मण्डलियो के वाद हुआ करते थे। इसलिए ब्राह्मणो द्वारा भी अनेक साहित्यिक रचनाएँ की गई होंगी क्योकि उनमें वंशपरम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान परम्परा चली आती थी। परन्तु जैनों की कृतियों की तुलना में ब्राह्मणो की कृतियाँ जो आज उपलब्ध हैं, बहुत ही थोड़ी है। बहुत सी तो बिलकुल ही नष्ट हो गई होंगी कि जिनका पता भी अब तक नहीं लग सका है। इसका कारण यह है कि जैनो की कृतियाँ तो ऐसे भण्डारों में सुरक्षित पूर्ण सावधानी से रही हैं कि जो सार्वजनिक होने के कारण समस्त जाति द्वारा सुरक्षित किये जाते थे। ब्राह्मण सम्प्रदाय में ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं था। यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणों और बौद्धों के कोई-कोई अद्वितीय ग्रन्थ जैसे कि राजशेखर की काव्यमीमांसा और भट्टजयराशि का तत्त्वोपप्लवसिह और मूल संस्कृत तत्त्व-संग्रह आज जैन भण्डारों में ही पाए गए है। चौलुक्यों और वाघेलो के गुजरात में तो कम से कम दोनो धर्मों के अनु-यायियो में बहुत कुछ सहिष्णुता और बौद्धिक समझ थी जो कि अपने पूर्ण रूप मे विभिन्न साहित्यिक सर्जन में और अद्‌भुत सांस्कृतिक सहकारी जीवन में व्यक्त हुई थी। ऐसा ही समय था जब कि वस्तुपाल और उसका साहित्यमण्डल अस्तित्व में आया और अपना काम कर गया।

---

१. प्रभावकचरित, प्रबन्ध १०

दूसरा विभाग

महामात्य वस्तुपाल और उसका साहित्यमण्डल

दूसरा अध्याय

सामग्री

३६. वस्तुपाल के जीवन और कार्यों का विवरण करने के पूर्व यह उचित होगा कि उस सामग्री का वर्णन कर दिया जाए जिससे आवश्यक तथ्य प्राप्त किए गए हैं। मध्ययुगीन गुजरात का इतिहासज्ञ इस विषय में भाग्यशाली है कि उसे अपने विषय को पूरा न्याय देने की प्रचुर सामग्री प्राप्त है। वस्तुपाल और उसके साहित्यमण्डल का अध्ययन करने की सामग्री तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती है: १. साहित्यिक; २. शिलालेख; और ३ स्थापत्य। साहित्यिक सामग्री दो विभाग में यथा समकालिक और पश्चात्कालिक में बाँटी जा सकती है। इन तीनों ही सामग्रियों का संक्षेप में अब विचार किया जायगा।

समकालिक साहित्यिक सामग्री

४०. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वस्तुपाल विद्या का महान् पोषक था। इसलिए जो भी कवि और विद्वान उसके सम्पर्क में आए, वे सब छिटपुट श्लोकों से लेकर महाकाव्यों तक में अपने आश्रयदाता का विवरण हमारे लिए छोड़ गए हैं। वस्तुपाल के वैयक्तिक इतिहास के लिए ही नहीं अपितु गुजरात के इतिहास के लिए भी ये सब बहुत ही उपयोगी हैं क्योंकि वस्तुपाल का जीवन समकालिक इतिहास से परम घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। फिर इन साहित्यिक कृतियों में से कुछ संस्कृत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण भी हैं। वस्तुपाल के नरनारायण महाकाव्य, कि जिसके अन्तिम सर्ग में वह अपना और अपने वंश का परिचय देता है, के अतिरिक्त भी हमें अपने विषय के अध्ययन के लिए नीचे लिखी समकालिक साहित्यिक कृतियाँ प्राप्त हैं—महाकाव्यों में तो सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव, अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन, बालचन्द्र का वसन्तविलास और उदयप्रभसूरि का धर्माभ्युदय याने सघपतिचरित्र। कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन और वसन्तविलास ऐसे महाकाव्य हैं कि जो समकालिक इतिहास पर ही आधारित हैं और उनका नायक या मुख्य पात्र भी वस्तुपाल ही है। पहली दोनों कृतियाँ वस्तुपाल के जीवनकाल में ही लिखी गई थीं और तीसरी याने वसन्तविलास उसकी मृत्यु के बाद तुरन्त ही लिखी गई है। इस प्रकार तीनों ही वस्तुपाल

का पूरा-पूरा वृत्त देती हैं (अध्याय ६ पैरा १४० से)। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे, सब बातों का विचार करते हुए, अलंकारबहुल काव्य हैं और आधुनिक जीवनचरित के योग्य सभी आवश्यक बाते उनमें हमें नहीं मिलती हैं। यद्यपि सुरथोत्सव में प्रतिपाद्य विषय पौराणिक लिया गया है परन्तु वह ऐतिहासिक रूपक सा लगता है। वह राजा भीमदेव द्वितीय (पैरा ७५) कि जिसके हाथ नीचे वस्तुपाल ने पहले पहल राजनैतिक जीवन प्रारम्भ किया था (पैरा ४७), के उतार-चढ़ाव से कुछ-कुछ सम्बन्धित है। धर्माभ्युदय का ऐतिहासिक अंश वस्तुपाल की श्रद्धावान् जैन के रूप में की हुई तीर्थयात्राओं के वर्णन से भरा पड़ा है (पैरा १६२–६४)। जयसिंहसूरि का लिखा हुआ हम्मीरमदमर्दन नाटक (ई० १२२० और १२३० के मध्य का), वस्तुपाल के राजनैतिक और फौजी जीवन के निरूपण में उपयोगी है क्योंकि उसमें मुस्लिम आक्रमण को विफल करनेवाली युद्धनीति का वर्णन नाटकीय शैली में किया गया है। (पैरा २००–२०२)। वस्तुपाल के धर्मगुरु विजयसेनसूरि का रेवतगिरि रास और किसी अन्य कवि का कि जो अपने को पाल्हणपुत्र कहता है, आबू रास (१२३३ ई०) अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थ हैं और उनमें वस्तुपाल की रेवन्तगिरि याने गिरनार की तीर्थयात्रा और आबू पर मन्दिर निर्माण का क्रमशः विवरण किया गया है अध्याय १२)। जिनभद्र (१२३४ ई०) की प्रबन्धावली भी विचार योग्य है क्योंकि प्रबन्धशैली का यह पुराने से पुराना नमूना है और इसलिए भी कि रचयिता ने वस्तुपाल के जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं की ओर उसमें इशारा किया है कि जो मुख्य कालक्रम की समस्याओं को सुलझाने में परम सहायक हुई है (पैरा १२६)। दो ग्रन्थ छोटे हैं जैसे कि नरेन्द्रप्रभसूरि की वस्तुपालप्रशस्ति (१२२ और २१६) और उदयप्रभसूरि की वस्तुपाल स्तुति (पैरा २१४)। इन सबमें वस्तुपाल के सत्कार्यों का वर्णन किया गया है। इन समकालिक ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी कितने ही ग्रन्थ हैं कि जो चरित्र-नायक की जीवनी से प्रत्यक्ष यद्यपि सम्बन्धित नहीं हैं, परन्तु उनके प्रशस्ति और पुष्पिका में उस युग की उपयोगी सूचनाएँ मिल जाती हैं और उनके मूलपाठ में भी कुछ छिटपुट बातें मिल जाती हैं।

पश्चात्कालिक साहित्यिक सामग्री

४१. पश्चात्कालिक साहित्यिक सामग्री मे अत्यन्त महत्त्व का है मेरुतुङ्ग का प्रबन्धचिंतामणि (१३०५ ई०), राजशेखर का प्रबन्धकोश (१३४९ ई०), और पुरातनप्रबन्धसंग्रह कि जिसमे १३ वीं १४ वीं और १५ वीं सदी के लिखे अनेक प्रबन्ध संकलित कर दिये गये हैं। जिनप्रभसूरि का विविधतीर्थकल्प

(१३३३ ई० में जो सम्पूर्ण हुआ था), वह भी महत्त्व का है। जिनहर्ष के वस्तुपालचरित में (१४४१ ई०) वस्तुपाल का व्यौरेवार जीवन दिया गया है और इसलिये वह सूक्ष्म अध्ययन योग्य है क्योंकि नायक की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद में रचित होने पर भी उसके जीवन के कितने ही ऐसे वास्तविक तथ्य प्राप्त होते हैं, जो किसी भी समकालिक लेखक ने नहीं दिये हैं। फिर यह अतिशयोक्तियों से भी अपेक्षाकृत मुक्त हैं। ऐसा मालूम देता है कि जिनहर्ष ने वस्तुपाल के जीवन और कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली अपने समय में मिलने वाली सभी ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया है। रत्नमंदिरगणि की उपदेशतरंगिणि (लगभग १४६१ ई०), शुभशीलगणि की प्रबन्ध-पंचशती या कथाकोश (१४५३ ई०), और सोमधर्म की उपदेशसप्तति (१४४७ ई०) पन्द्रहवीं शती के प्रबन्धग्रन्थ[1] हैं और इन सब में ही और विशेष रूप से पहले में वस्तुपाल के जीवन के सांस्कृतिक पक्ष के और आश्रय-दाता के रूप में अनेक कवियों से उसके सम्पर्क के अध्ययन करने की उपयोगी सभी सामग्री प्राप्त है। कितने ही जैन कवियों ने प्राचीन गुजराती में वस्तु-पालरास, वस्तुपाल-तेजपाल-रास के काव्य लिखे हैं और ऐसे रास हीरानन्द (१४२८ ई०), लक्ष्मीसागर, (१४५२ ई०), पार्श्वचन्द्र (१५४१ ई०), समयसुन्दर (१६२६ ई०) और मेघविजय (१६६५ ई०) के उपलब्ध हैं। यद्यपि ये सब वस्तुपाल की मृत्यु के चिरकाल बाद के लिखे हुए हैं और काव्य परिपाटी के आदर्श पर है, फिर भी उनमें से कुछ में नायक के वैयक्तिक इतिहास सम्बन्धी महत्त्व के तथ्य ऐसे दिये हैं, जो किसी न किसी कारण से समकालिक लेखकों ने नहीं दिये हैं।

शिलालेख सामग्री

४२. शिलालेख सामग्री में वस्तुपाल के ही अनेक शिलालेख हैं जिनमें से कुछ तो थोड़ी सी पंक्तियों जितने छोटे हैं और दूसरे काव्य जितने लंबे हैं। भारतीय-विद्या की विविध पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश शिलालेख छप चुके हैं और गुजरात के ऐतिहासिक शिलालेख (अंगरेजी), प्राचीन जैन लेख संग्रह और प्राचीन लेखमाला में संग्रहित होकर वे प्रकाशित भी हो चुके हैं। अधिकांश लेख तो आबू और गिरनार के पर्वतों पर मिले हैं। कुछ उत्तर गुजरात की तारंगा पहाड़ी पर, बड़ौदा के डभोई, अणहिलवाड़ पाटण, अहमदाबाद के समीप के

---

१. प्रबन्ध शैली के ऐतिहासिक और साहित्यिक मूल्यांकन के लिए देखिए आगे अध्याय ११।

सेरिसा में जहाँ कि वस्तुपाल और उसके अनुज तेजपाल ने मंदिर निर्माण कराये थे और मेहसाणा जिला के बीजापुर के समीप नवुं संगपुर[1] में मिले हैं। यद्यपि उदयप्रभ की सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी (१२२१ ई०) और जयसिंहसूरि की वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति शिलालेख रूप में आज अप्राप्य हैं, परन्तु इन दोनों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं[2]। प्रभासपाटन से भी दो शिलालेख सरस्वती-सदनप्रशस्ति (१२७२ ई०) नाम के और एक अपूर्ण लेख सौराष्ट्र की वंथली से मिले हैं जो वस्तुपाल के साहित्यमंडल के एक सदस्य ब्राह्मण कवि नानाक की जीवनी के सम्बन्ध में बड़े महत्त्व के हैं (पैरा ८५-८६)। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि ये सब शिलालेख समकालिक सामग्री ही मानी जानी चाहिये क्योंकि इनमें से अधिकांश वास्तुपाल के जीवन काल में ही उत्कीर्ण कराये गये थे और डभोई की सोमेश्वर रचित वैद्यनाथ प्रशस्ति (१२५५ ई.) और सरस्वतीसदन प्रशस्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् ही यद्यपि लिखी गई थी, फिर भी उसके जीवन काल के इतनी सन्निकट लिखी होने से ये भी समकालिक ही गिनी जानी चाहिए।

स्मारक

४३. कला और सस्कृति के इतिहास में स्मारक भी उपयोगी हैं। यद्यपि वस्तुपाल और तेजपाल ने गुजरात और सौराष्ट्र के अनेक स्थानो पर (पैरा ५८-६०) अनेक स्मारक खड़े करवाये थे परन्तु आज उनका चिह्न तक भी अवशिष्ट नही है। केवल आबू और गिरनार के मंदिर ही आज तक सुरक्षित रह पाये हैं। मध्य-कालीन भारतीय स्थापत्य कला के आबू के मंदिर सदा स्मरणीय आदर्श है जो उत्कृष्ट कोरणी द्वारा बहुलता से सजाये हुए हैं और उनके निर्माताओ की अत्यन्त उदारता और सूक्ष्म सुरुचि के जीते जागते प्रमाण है।

---

१. नवुं संगपुर का शिलालेख सबसे कम ख्यातिप्राप्त लेख है। यह वाघेला युग का एक खंडित लेख है जिसमें वस्तुपाल और तेजपाल का मंत्री रूप से ससम्मान वर्णन है। उसका पाठ बहुत वर्षों पहले बुद्धिसागरसूरिजी द्वारा बृहद् बीजापुर-वृत्तान्त (गुज.) के परिचय में पृ. २–८ में प्रकाशित किया गया था। वड़ोदा पुरातत्त्व प्रतिवेदना, १९३८–३९ के पृ. ३ में इस लेख का उल्लेख किया गया है।

२. वस्तुपाल के उन शिलालेखों के सूक्ष्म सर्वेक्षण और साहित्यिक मूल्यांकन के लिए कि जिन्हें स्वतन्त्र काव्य का यश दिया जा सकता है देखिए इस पुस्तक का आठवाँ अध्याय।

तीसरा अध्याय

वस्तुपाल का कौटुम्बिक और राजनैतिक इतिहास

वस्तुपाल के पूर्वज

४४. साहित्य और कला के महान् पोषक के रूप में वस्तुपाल के कर्तृत्व का उचित मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके कौटुम्बिक और राजनैतिक इतिहास का भी संक्षेप में वर्णन करें। इस विषय में सामग्री की कोई भी कमी नहीं है हालाँकि कभी कभी परस्पर विरोधी और उलझन पैदा करने वाली सामग्री भी हमारे सामने आ जाती है। वस्तुपाल और तेजपाल अणहिल वाड़—पाटण के एक सम्भ्रान्त प्राग्वाट परिवार मे जन्मे थे। उनके पूर्वजों के विषय में भी हमें यथार्थ सूचना मिलती है। वृत्तान्तों मे वस्तुपाल का वंशवृत्त चंडप नामक[1] पुरुष से प्रारम्भ होता है। स्वयम् वस्तुपाल और उसके मित्र सोमेश्वर के अनुसार चण्डप एक मन्त्री[2] था। बहुत सम्भव है कि वह अणहिल-वाड़ के किसी राजा चौलुक्य राजा का ही मन्त्री हो[3]। उसका पुत्र था चण्डप्रसाद जिसका हाथ मंत्रीमुद्रा से कभी भी रिक्त नहीं रहा था। उसके दो पुत्र थे सोम और सूर। सिद्धराज जयसिंह के दरबार में सोम रत्नाध्यक्ष था[4]। उसकी स्त्री का नाम था सीता[5] जिससे उसे अश्वराज या आशाराज नाम का एक पुत्र हुआ और वह भी किसी का मन्त्री रहा[6]। अश्वराज ने प्राग्वाट वणिक आभू जो कि दण्डपति[7] था, की कन्या कुमार देवी से विवाह किया। ये अश्वराज और कुमार देवी ही वस्तुपाल के पिता माता थे।

पुनर्विवाहित विधवा का पुत्र वस्तुपाल

४५. एक किम्वदन्ती आज तक भी चली आई है, जिसके अनुसार कुमार देवी विधवा का पुनर्विवाह अश्वराज से हुआ कहा जाता है। मेरुतुंग[8] ने इस किम्वदन्ती का सबसे पहले उल्लेख किया है और लक्ष्मीसागर, पार्श्वचन्द्र[9]

१-२. नना, १६.३; कीकौ, ३.४।　　३. कीकौ, ३.६।

४. वही, ३.१४।　५. वही, ३.१६।　६. वही, ३.१७ और २२।

७. वही, ३.२२; नना, १६.२५; देखो वच, अ. १।

८. प्रचिं, पृ. ६८।　　९. जैसासं, १ भाग ३, पृ. ११२ आदि।

और मेरुविजय[1] कवियों ने स्वरचित प्राचीन गुजराती के काव्य 'वस्तुपालरास' में इसका समर्थन किया है । चिमनलाल दलाल[2] और मोहनलाल द. देसाई[3] इस किम्वदन्ती का सत्य स्वीकार करने से इसलिए इन्कार करते हैं कि किसी भी समकालिक साहित्यकार के ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है । ऐतिहासिक शैली की निःसदेह यह एक दिलचस्प समस्या है । साधारणतया समकालिक विवरण बाद के वर्णनों या लेखों से अधिक विश्वसनीय माने जाते हैं । परन्तु व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखती हुई कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं, जिनके विषय में समकालिक मौन रहना ही पसंद करें, विशेष कर ऐसी बातों में कि जो व्यक्ति विशेष के अथवा उसके परिवार के लिए गौरवमयी न हों और इसलिए ऐसी बाते उनके द्वारा वर्णित ही नहीं हो कि जिनका ध्येय अपने चरित्र-नायक का यथार्थ जीवन प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसकी प्रशसा करना ही हो । इसीलिए वस्तुपाल की माता कुमार देवी के पुनर्विवाह की बात समकालिको द्वारा नहीं कही जा सकती थी जब कि बाद के लेखको के लिये ऐसे संकोच का कोई कारण न था। हम इस किम्वदन्ती को इसलिए त्याज्य नही समझते कि वह समकालिको द्वारा अवर्णित है । मेरुतुंग ने वस्तुपाल की मृत्यु के ६० वर्ष बाद अपना ग्रन्थ लिखा था और उसके लिखने का एक मात्र लक्ष्य था जैनधर्म के महान् पुरुषों का गुणकीर्तन करना । ऐसी स्थिति में वह इस किम्वदन्ती को कभी भी नहीं कहता यदि उसे वह यथार्थ प्रतीत नहीं होती । बाद के रासों में जिनमें कुमार देवी के पुनर्विवाह की बात लिखी है, मेरुतुंग के कथन की नकल नहीं की है, अपितु एक दम स्वतन्त्र आधारों से ही उन्होंने वैसा लिखा है—ऐसा प्रतीत होता है । इससे यह प्रमाणित होता है कि इस तथ्य के समर्थक और भी प्रमाण थे[4] । जैन साधुओं

---

१. वस्तुपाल-तेजपाल रास, पृ. १२ आदि ।

२. कवि परिचय पृ. १३ ।

३. जैसाइ, पृ. ३५१ आदि ।

४. यह एक अद्भुत बात है कि लक्ष्मीसागर और पार्श्वचन्द्र दोनों ही के रास में विधवा-विवाह के दृष्टान्त में यह कहा गया है कि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ने विधवा से विवाह किया था और इसलिए उनका कहना है कि दूसरे भी उस प्राचीन प्रथा का अनुसरण कर सकते हैं (जैसासं, भाग ३, पृ. ११२ व ११८) ।

की प्राचीन गुजराती पट्टावली वीरवंशावली मे भी इस परम्परा का कुछ बदले हुए रूप में समर्थन किया गया है[1]। यदि बात सत्य न होती कि वस्तुपाल विधवा माता का पुत्र था तो उसको मृत्यु के बाद यह परम्परा इतनी प्रसिद्धि कभी भी नहीं पा सकती थी, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

वस्तुपाल के भाई और भगिनियाँ

४६. कुमार देवी और अश्वराज के कुल ११ संतान हुई थीं—सात कन्याएँ और चार पुत्र। कन्याओं के नाम थे जाल्हू, माऊ, साऊ, धनदेवी, सोहाग, वइजू और पद्मदेवी[2]। चार पुत्रो के नाम थे लूणिग, मल्लदेव, वस्तुपाल और तेजपाल। इन चारों भाइयों में से लूणिग तो बचपन में ही मर गया और मल्लदेव युवावस्था में पूर्णसिंह नामक एक पुत्र का पिता होकर मरा। यद्यपि वस्तुपाल के विषय में बहुत-सी सामग्री हमें उपलब्ध हैं फिर भी उसकी जन्मतिथि जानने का साधन हमें अप्राप्त है। पुरानी से पुरानी तिथि जो कहीं पर भी लिखी इस सम्बन्ध में मिलती है वह है वि. सं. १२४९=११९३ ई०[3] जो राजकोट के वाट्सन संग्रहालय में सुरक्षित बिना तिथि के एक शिलालेख में दी हुई है और यह शिलालेख उत्कीर्णलिपिविद्यानुसार वस्तुपाल-काल के बाद का मालूम नहीं होता है। इस लेख के अनुसार वस्तुपाल और उसके अनुज तेजपाल ने अपने पिता के साथ स० १२४९ शत्रुंजय की यात्रा की थी। यह मान लिया जा सकता है कि यह तीर्थयात्रा उनके बचपन मे ही हुई होगी। वस्तुपाल की दो स्त्रियाँ थी, एक ललिता और दूसरी सोखू या वयजल्ल देवी। तेजपाल का विवाह भी दो स्त्रियों से हुआ था एक तो अनुपमा से और दूसरी सुहव देवी से। अनुपमा देवी दोनों भाइयो की ही बुद्धिमती सलाहकार रूप से प्रसिद्ध है, परन्तु दूसरी सुहवा देवी इतनी प्रसिद्ध नहीं है।

---

१. इस ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि वड़ीशाखा और लघुशाखा विभाग (आधुनिक वीसा और दसा) गुजरात की वणिक जातियों में और विशेषतया प्राग्वाटों में, इसी घटना से हुए क्योंकि यह प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल था। जो वस्तुपाल के साथ रहे, वे लघुशाखिया याने छोटे हो गए। देखो जैसासं, भाग ३ वीर वंशावली पृ. २६-३७।

२. प्राजैलेसं, सं. ६४ और सं. ६४-६७ एवं १०२ भी। वच, अ. १ भी।

३. वचि, परिचय, पृ. ११।

राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ

४७. वस्तुपाल और तेजपाल के प्रारम्भिक जीवन के विषय में हमें बहुत ही कम जानकारी है। बिलकुल बचपन में वे अपने पिता के साथ सुंहालकपुर नगर में रहते थे, जो चौलुक्य राजाओं से की गई सेवाओं के उपलक्ष में उनके पिता को उपहार मिला था[1]। अश्वराज के निधन पर दोनों भाई अपनी विधवा माता के साथ मंडली[2] (वीरमगाम के समीप का आधुनिक मांडल) चले गये और माता की मृत्यु तक फिर वे वहीं रहे थे हालाँकि इस बात के निश्चय करने के कोई भी साधन हमें प्राप्त नहीं है। माता की मृत्यु के बाद ही सम्भवतः उनका राजनैतिक जीवन प्रारम्भ हुआ। शत्रुंजय की तीर्थयात्रा से लौटते हुए वे धवलक्क आये। कीर्तिकौमुदी, वसन्तविलास, प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश सभी कहते हैं कि दोनों भाई धवलक्क गये और सोमेश्वर द्वारा उनका परिचय पाकर वीरधवल ने उन्हें मन्त्री पद दिया। पक्षान्तर में सुकृतसंकीर्तन सर्ग ४, जयसिंहसूरि की वस्तुपाल तेजपालप्रशस्ति श्लोक ५१ और उदयप्रभसूरि की सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी श्लोक ११८–१९ में कहा है कि वे अणहिलवाड़ के भीमदेव द्वितीय[3] की सेवा में पहले ही से थे और वीरधवल की माँग का आदर कर भीमदेव द्वितीय ने उन्हें उसे दे दिया था। परन्तु नरनारायणानन्द में वस्तुपाल स्वयं जो कहता है उससे सब सदेह दूर हो जाता है और यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुपाल भीमदेव द्वितीय के पास पहले था और धवलक्क राज को उसकी सेवाएँ बाद में माँगने पर दे दी गई थीं। यह भी पता नहीं है कि वस्तुपाल भीमदेव की सेवा में कब आया। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वि. सं. १२७६ = १२२० ई०[4] में वस्तुपाल और उसका भाई दोनों धवलक्क में नियुक्त हो गये थे। इसके पश्चात् ही उनके उस महान् चरित्र का प्रारम्भ हुआ कि जिसके पद-चिन्ह उनके जीवन की प्रत्येक दिशा व क्षेत्र में अंकित है।

---

१. वच, अ. १।

२. वही। प्रको पृ. १०२ भी।

३. भास्वत्प्रभाकमधुराय निरन्तराय धर्मोत्सवव्यतिकराय निरन्तराय।
यो गुर्जरावनिमहीपतिभीमभूपमन्त्रीन्द्रतापरवशत्वमपि प्रपेदे॥
(नना १६.३५)

४. यह बात वस्तुपाल के गिरनार के सभी शिलालेखों में उल्लेखित की गई है।

गुजरात राज्य की राजनैतिक और आर्थिक सुव्यवस्था

४८. जब भीमदेव द्वितीय अपनी केन्द्रीय शक्ति के स्थिरीकरण का भरसक प्रयत्न कर रहा था वाघेले धवलक्क के आस-पास जहाँ कि उनकी राजधानी थी, उत्तरोत्तर शक्तिशाली होते जा रहे थे। ये वाघेले चौलुक्य वंश की एक शाखा रूप थे, जो कुमारपाल की मासी के पुत्र आनाक या अर्णोराज से शुरू हुई थी। कुमारपाल की सेवाओं के उपलक्ष में आनाक को व्याघ्रपल्ली याने वाघेल, अणहिलवाड़ से दक्षिण-पश्चिम १० मील दूर की जागीर रूप दी गई थी। इसीसे उसके वंशज वाघेला कहलाने लगे थे[1]। आनाक कुमारपाल की मृत्यु के बाद भी जीवित था और उसने भीमदेव द्वितीय की भी सेवा की थी। वह मृत्युपर्यन्त चौलुक्य राज्य के गौरव की पुनर्स्थापना का प्रयत्न करता रहा। आधार ग्रन्थों के वर्णन से ऐसा लगता है कि कुछ काल तक लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल ने धवलक्क का राज्य किया था। भीमदेव द्वितीय कि जो इतिहास में भोला भीम के नाम से सुप्रसिद्ध है, एक निर्बल राजा था और वह अपने राज्य की विदेशियों एवं अपने ही सामन्तों के आक्रमण से रक्षा करने में भी असमर्थ रहा था। एक ऐसा भी समय आ गया था कि जयन्तसिंह नाम के एक सामन्त ने वि. सं. १२८० = सन् १२२४ ई. के लगभग कुछ काल के लिए अणहिलवाड़ की गद्दी तक हड़प ली थी और अपने ही नाम से उसने दानपट्टे भी कुछ दिए थे[2]। तब भीम को भाग कर कहीं किसी के पास आश्रय लेना पड़ा ही होगा। अपना राज्य फिर से हस्तगत करने के लिए भीम ने लवणप्रसाद को अपना सर्वेश्वर अर्थात् राजप्रतिनिधि बना दिया था। इसी लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल को यह सारा श्रेय है कि वे अणहिलवाड़ का नष्ट गौरव कुछ काल तक पुनर्स्थापित करने में सफल रहे हालाँकि ऐसा करते हुए वे

---

१. बंग, भाग १ खण्ड १, पृ. १९८।

२. व्हूलर, इंए, भाग ६, पृ. १८७ आदि। नीचे उद्धरण की भी तुलना करो।

सततवितदानक्षीणनिःशेषलक्ष्मीः रिपुसितरुचिकीर्तिर्भीमभूनभुजंगः।
बलकवलितभूमीमण्डलो मण्डलेशैश्चिरमुपचितचिन्ताक्रान्तचित्तान्तरोऽभूत् ॥
सुकृ, ११.५१

मंत्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः।
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ कीकौ, ११.६१

स्वयं राज्य में शक्तिशाली भी हो गए थे। फिर भी उन्होंने अणहिलवाड़ का सिंहासन स्वयं नहीं हड़पा और जीवन-पर्यन्त उसके महामण्डलेश्वर और राणक ही रहे यद्यपि वे चाहते तो सरलता से महाराजाधिराज भी हो सकते थे[1]। लवणप्रसाद और वीरधवल के मुख्य सहायक थे अमात्य वस्तुपाल और तेजपाल जिनने अपनी राजचातुरी एवं बहादुरी से साबरमती और नर्मदा नदियों के मध्यवर्ती सारे ही क्षेत्र में वाघेलों का प्रताप प्रसारित कर दिया था और सारे गुजरात में शांति और व्यवस्था स्थापन कर देश को विशृंखल करनेवाली शक्तियो से सुरक्षित कर दिया था।

४६. प्रबन्धों के वर्णन से मालूम पड़ता है कि अपनी नियुक्ति के पश्चात् वस्तुपाल स्तम्भतीर्थ अर्थात् खम्भात का राज्यपाल नियुक्त हुआ और तेजपाल प्रधान मंत्री-मुद्रा का अधिकारी[2]। वस्तुपाल ने पूर्ववर्ती राज्यपालो के अनेक अन्यायों को दूर कर दिया था। उसके शासन में जनता के नैतिक स्तर में निःसंदेह ही सुधार हुआ था। नीच तरीकों से धन कमाने वाले अनैतिक व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। प्रत्येक अपना व्यापार-प्रामाणिकता से कर रहा था। उसने समुद्र-चोरों का भी अन्त कर दिया था (कीर्तिकौमुदी, ४.१६)। उसने दृढ़ता से भ्रष्टाचार का अवरोध किया और सारी शासन-व्यवस्था को पुनः स्थापित किया। एक पुराने भ्रष्टाचारी अधिकारी से उसने २१००० द्रम्म का दण्ड वसूल किया[3]। 'लगान की बकाया बहुत ही बढ़ी हुई थी। उसने इस बकाया की वसूली के लिए नीतिशास्त्रानुमोदित चारो ही रीतियाँ प्रयोग की और राजकोश को भर दिया[4]।' स्तम्भतीर्थ के ऐसे अनेक राज्याधिकारियों के हिसाब-किताब की उसने जाँच की कि जो हिसाब प्रस्तुत करने में आनाकानी और टलमटूल करते थे और उन्हें दण्डित किया[5]। स्तम्भतीर्थ के चारों ओर के गाँवो के अनेक

---

१. वीरधवल के पुत्र वीसलदेव (१२३८-१२६१ ई.) के भाग्य में था कि वह महाराजाधिराज हो। ९ वर्ष तक धवलक्क में महामण्डलेश्वर रूप से राज्य करके वह पाटण की राजगद्दी का स्वामी या तो अन्तिम चौलुक्य राजा त्रिभुवनपाल को मार कर या उसके कोई उत्तराधिकारी छोड़े बिना ही मर जाने से, हो गया। (शास्त्री, गुमराइ, भा. २ पृ. ३११)।

२. प्रको, पृ. १०२।

३. वच, अ. २; प्रको, पृ. १०३।

४. वच, अ. २। ५. वही, अ. ४।

बेइमान पटेलों को भी उसने दण्ड दिया और उनसे प्राप्त धन से उसने अनेक मंदिर निर्माण कराए[1]। इस प्रकार उसने राज्य में प्रवर्तित मत्स्यन्याय का अन्त कर दिया (वस्तुपाल चरित्र, ४.४०) और छोटे-बड़े अधिकारियो की शिथिलता को भी प्रशंसनीय दृढ़ता के साथ रोक दिया। बहुत सम्भव है कि वस्तुपाल और उसके भाई ने जंगली न्याय का अन्त करने, लोगों का विश्वास पुनर्स्थापन करने और भीमदेव के शक्तिहीन शासन से खाली हुए राजकोश को पुनः भरने के लिए युद्धो का आरम्भ किया था। वस्तुपाल चरित कहता है कि स्तम्भतीर्थ के एक मुसलमान व्यापारी सदीक या सइद (पैरा ५६) को दण्ड देने में वस्तुपाल का ध्येय यह दिखाने का था कि अत्र मत्स्यन्याय को कोई स्थान नहीं है[2]। संक्षेप में यह कि शक्ति प्राप्त करने पर वस्तुपाल का पहला कार्य गुजरात राज्य का आर्थिक और राजनैतिक एकीकरण ही था।

शंख पर विजय

५०. जब स्तम्भतीर्थ और धवलक्क के चारो ओर के क्षेत्र में वस्तुपाल ने शांति स्थापन करने मे सफलता प्राप्त कर ली, तब लाट के राजा शंख ने यह कह कर उस पर अभियान कर दिया कि स्तम्भतीर्थ का बंदरगाह लाट राज्य का है। स्तम्भतीर्थ के पास वटकूप (या वडवा) में हुए घमाशान युद्ध में शंख को पता लग गया कि वस्तुपाल उससे कहीं अधिक शक्तिशाली है और इसलिए वह जल्दी से पीछे हट गया। इस विजय को स्मरणीय करने के लिए स्तम्भतीर्थ के नागरिको ने देवी एकल्लवीरा के मंदिर में एक उत्सव मनाया कि जो नगर के बाहर था और देवी को श्रद्धाजलि अर्पण करने के लिए अमात्य स्वयं ही वहाँ गया[3]। यह घटना कदाचित् वि. सं. १२७६=सन् १२२३ ई. के पूर्व ही हुई होगी क्योकि उस वर्ष वस्तुपाल ने स्तम्भतीर्थ का शासनतंत्र सुधारने के बाद वहाँ का राज्यपाल पद अपने पुत्र जयतसिह या जयसिह को दे दिया था[4] क्योकि वह उत्तर और पश्चिम भारत का मुख्य बंदर था और इसलिए व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्व का स्थान था।

---

१. वही। २. वही।

३. कीकौ, सर्ग. ४-५; ववि, सर्ग. ५; देखो प्रको, पृ. १०८-१०६; प्रचिं, पृ. १६१ आदि भी।

४. प्राजैलेसं, सं. ४०-४३।

देवगिरि के यादव राजा से सन्धि

५१. संकट का दूसरा समय तब आया था जब कि देवगिरि के यादव सिंहण या सिंघण ने दक्षिण से और चार मारवाडी राजाओं ने उत्तर से आक्रमण किया। लवणप्रसाद और वीरधवल दोनों शत्रुओं के आक्रमण को रोकने के लिए गए। परन्तु शक्तिशाली आक्रामक सामने और चार विरोधी राजाओं का संयुक्त बल पीछे होने से स्थिति निःसंदेह बड़ी ही गम्भीर थी। फिर भी लवण प्रसाद और उसका पुत्र वीरधवल हिम्मत नहीं हारे और मुकाबले में डट ही गए। अन्त में चारों मारवाड़ी राजाओं[1] और देवगिरि के यादव राजा[2] से संधि हो गई। सिंघण की सन्धि के लेख में जो लेख-पद्धति में सुरक्षित है, इसकी तिथि वि. सं. १२८८ = सन् १२३२ ई. दी हुई है। और इसे यदि हम सही मानें तो, और सही मानना ही चाहिए क्योंकि उसके विरोध में कोई भी प्रमाण हमें प्राप्त नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है कि सिंघण से युद्ध उस वर्ष समाप्त हो गया होगा।

वीरधवल और उसके मंत्रियों के अन्य युद्ध

५२. वीरधवल और उसके इन दो मंत्रियों के कितने ही अन्य युद्धों का विवरण प्रबन्धों में मिलता है। पहला ही पहला युद्ध तो वीरधवल की रानी जयतलदेवी के भाई वामनस्थली (जूनागढ़ के पास की आधुनिक वंथली) के सांगण और चामुण्ड के साथ किया और विजयी हुए। ये अपनी बहन के बारंबार समझाने पर भी वीरधवल का वर्चस्व स्वीकार नहीं कर रहे थे। वे सब युद्ध में मारे गए और फलस्वरूप वामनस्थली का बड़ा धन भण्डार वीरधवल के हाथ में आ गया[3]। वीरधवल ने दूसरा अभियान कच्छ के भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह के विरुद्ध किया था। परन्तु मारवाड़ से आए हुए अनेक शक्तिशाली सुभटों की सहायता भीमसिंह को प्राप्त थी, इसलिए वीरधवल उसे पराजित नहीं कर सका और संधि करके ही लौट आया[4]। इस संधि द्वारा एक नया ही मित्र उसे प्राप्त हो गया एवं कच्छ की सीमा खतरे से सुरक्षित हो गई। तदनन्तर वीरधवल ने महीतट क्षेत्र याने मही नदी के तटवर्ती गोद्रह

---

१. कीकौ, ६.६७।
२. लेखपद्धति, पृ. ५२; बंग, पृ. १६६।
३. प्रको, पृ. १०३ आदि, वच, २।
४, प्रको, पृ. १०४ आदि; वच, अ. २।

(आधुनिक गोधरा) के सामंत घूघुल का दमन करने का विचार किया। घूघुल ने मारवाड़ के राजाओं से जब कि उनने गुजरात पर आक्रमण किया था, मेल कर लिया था। और इसलिए वह गुजरात से जानेवाले और गुजरात को आनेवाले सार्थवाहों, यात्रियों और व्यापारियों को सदा लूटता रहता था। तेजपाल बड़ी सेना लेकर उसके विरुद्ध भेजा गया। उसने घूघुल को कैद कर लिया और लकड़ी के पींजरे में बंद कर अपने एक सरदार साथी को गोद्रह का हाकिम नियुक्त कर दिया। घूघुल ने यह अपमान नहीं सह सकने के कारण अपनी जिह्वा को दाँतों से काट कर आत्मघात कर लिया[1]। इन सब विजयों का परिणाम यह हुआ कि वाघेलों की शक्ति गुजरात की पूर्वी सीमा तक फैल गई और मालवा का व्यापार पथ फिर से सुरक्षित हो गया।

मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार

५३. ऐसे बहुत ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि वीरधवल के राज्यकाल में गुजरात पर एक मुसलमानों का आक्रमण भी हुआ था और वह वस्तुपाल के युद्ध-कौशल द्वारा सफलता से विफल कर दिया गया था। जयसिंह सूरि ने इस आक्रमण का नाटकीय वर्णन 'हम्मीरमदमर्दन' नामक संस्कृत नाटक में किया है। प्रबन्धकोश[2] भी वर्णन करता है कि दिल्ली के सुलतान मोजदीन ने गुजरात पर आक्रमण किया और वह चन्द्रावती के धारावर्ष द्वारा उत्तर से और वस्तुपाल द्वारा दक्षिण से जब कि उसकी सेना आबू के समीपवर्ती किसी पहाड़ी-घाटी में घुसी, घेर लिया गया था। इसलिए सुलतान को लौट जाना भी पड़ा[3]। कुछ

---

१. प्रको, पृ. १०७ आदि; वच, अ ३।

२. प्रको पृ. ११७।

३. यह व्यक्ति मोजदीन है या मुइजुद्दीन, इस विषय में कुछ मतभेद है; क्योंकि इस नाम का कोई भी सुलतान दिल्ली की राजगद्दी पर नहीं बैठा था। बम्बई गजेटियर (भा. १ खं. १ पृ. २०१) के मत से मोजदीन मुहम्मद घोरी ही था। श्री. रसिकलाल परीख इसको शहाबुद्दीन घोरी मानते हैं (जैमासं. भा. ३, पृ १५२ आदि)। पं. गौ. ही ओझा (राजपूताने का इतिहास, भाग १ पृ ४६७ आदि), श्री डी. के शास्त्री गुमग , भा २. पृ. ३८० आ.) और सांडेसरा (गुजरार्ता, दिवाली अंक १९३४ ई. पृ. ८ आ.) इसे दिल्ली का सुलतान अल्तमश (१२१०-१२३५ ई) समझते हैं और यही कालक्रमानुसार अत्यन्त उचित प्रतीत होता है।

काल बाद सुलतान की माता (प्रबन्धचिंतामणि के अनुसार उसका गुरु) मक्का की हज करने के लिए गुजरात के बंदरगाह, बहुत करके स्तंभतीर्थ पर जहाज पकड़ने के लिए आई। वस्तुपाल ने अपने आदमियों को वृद्धा को सब माल सहित अधिकार में ले लेने की आज्ञा दे दी। जहाज के कप्तान ने वस्तुपाल से इसकी शिकायत की कि समुद्री-डाकुओं ने वृद्धा को लूट लिया है। वस्तुपाल ने समुद्री-डाकुओं को जो वास्तव में उसी के द्वारा भेजे गए थे, गिरफ्तार कर लिया और वृद्धा का बड़े सम्मान के साथ स्वागत कर सब माल-असबाब लौटा दिया और सुख-शांति से उसकी मक्का यात्रा का प्रबन्ध भी कर दिया। मक्का से लौटने पर वृद्धा वस्तुपाल को अपने साथ दिल्ली ले गई और उसका सुलतान से परिचय करा दिया। वस्तुपाल ने तब सुलतान से वीरधवल से मैत्री रखने का अभिवचन ले लिया और इस प्रकार राज्य सुरक्षित कर लिया। दिल्ली से लौटने पर वीरधवल ने वस्तुपाल का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया[1]। मुस्लीम सुलतान पर वस्तुपाल की विजय का वर्णन करने वाले नाटक 'हम्मीरमदमर्दन' की प्रतिलिपि वि. सं. १२८६ = सन् १२३० ई.[2] में की गई है। इसलिए यह घटना सम्भवतः वि. सं. १२७६ (वस्तुपाल के मंत्रित्व के आरम्भ) और १२८६= सन् १२२० और १२३० के बीच में घटित होना चाहिए।

वीरधवल और वस्तुपाल की मृत्यु

५४. राजा वीरधवल सन् १२३८ ई. में मरा[3]। उसकी लोकप्रियता ने ऐसी किम्वदंती का सर्जन कर दिया है कि उसकी चिता पर बहुतेरे व्यक्ति जल कर

---

१. प्रको, पृ. ११९ आदि; प्रचिं. पृ० १०३।

२. हमम, परिचय, पृ. १; जैभंसू, पृ. २३।

३. बंग, भा. १ खं. १, पृ. २०३। देखो राजावली कोष्ठक भी शत्रुंजयतीर्थोद्धारप्रबन्ध के परिशिष्ट में। ब्यूलर ने वि. सं १२९५ की तिथि दी है (इंएं, भाग ६ पृ. २१३) यह भी यहाँ कह देना उचित है कि हमें लवणप्रसाद की मृत्यु के विषय में कुछ भी पता नहीं है। बंग (भा. १, खं. १, पृ. २००) ने मान लिया है कि लवणप्रसाद ने देवगिरि के सिंघण के साथ सन्धि कर लेने पर सन् १२३२ ई. में पुत्र वीरधवल के लिए राजगद्दी का त्याग कर दिया था। अन्य यह मानते हैं कि उस समय तक वह मर गया था (गुमराइ, भा. २ पृ. ३८१) राजावलीकोष्ठक में वीरधवल का राज्यप्रारम्भ वि. सं. १२८२–सन् १२२६ ई. से निर्दिष्ट है। यह सब देखते

भस्म हो गए थे और लोगों को ऐसा करने से रोकने के लिए तेजपाल को सैन्य लेकर श्मशान में आना पड़ा।[1] वीरधवल के दो पुत्र थे—प्रतापमल्ल और वीसलदेव। प्रतापमल्ल तो वीरधवल के जीवनकाल में ही एक अर्जुनदेव नाम का पुत्र पीछे छोड़कर मर गया था। वीरधवल का कनिष्ठ पुत्र वीसलदेव इसलिए सन् १२३८ ई०[2] में सिंहासन पर बैठा। वस्तुपाल सन् १२४० ई० में (वि० सं० १२९६) अर्थात् वीसलदेव के गद्दी पर बैठने के दो वर्ष बाद मर गया। प्रबन्धकोष[3] और वस्तुपालचरित[4] दोनों में ही वस्तुपाल के देहावसान की तिथि सन् १२४२ ई० तदनुसार वि० सं० १२९८ दी है और यही विश्वास किया जाता था कि यही यथार्थ है। परन्तु वसन्तविलास महाकाव्य समकालिक (समकालिक बालचन्द्र रचित) में उसके निधन की तिथि वि० सं० १२९६ माघ सुदी पंचमी रविवार तदनुसार १ जनवरी १२४० ई० दी है[5]। यह वर्णन ताड़-पत्रीय प्रति की तिथि से भी समर्थित होता है जिसमें कहा गया है कि वस्तुपाल वि० सं० १२९६ मे और तेजपाल वि० सं० १३०४ में मरा[6]। प्रबन्धों में कहा गया है कि वस्तुपाल अंकेवालिया (सौराष्ट्र स्थित और वढ़वाण से १० मील दक्षिण पूर्व) गाँव में उस समय मरा था जब कि वह

ऐसा मालूम पड़ता है कि लवणप्रसाद १२३२ और १२३८ ई. के मध्य में किसी समय मरा था।

१. प्रचि, पृ १०५।

२. प्रबन्धों में वीरधवल के पुत्र, वीरम का वृत्तान्त दिया है और यह कि उसने राज्य पर अधिकार पाने का प्रयत्न किया था। ऐसा कहा जाता है कि उसके प्रयत्न निष्फल गये और वीसलदेव राज्य इसीलिए प्राप्त कर सका कि वस्तुपाल ने उसकी सहायता की। परन्तु अब यह सिद्ध हो गया कि वीरधवल के वीरम नाम का कोई भी पुत्र नहीं था और इसलिए प्रबन्धों की कथा पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। (गुमराइ, भा. २, पृ. ३९० आदि)।

३. प्रको, पृ. १२७ आदि।   ४. वच, सर्ग ८।

५. वर्षे हर्षनिषण्णषण्णवतिके श्रीविक्रमोर्वीभृत:
कालाद् द्वादशसंख्यहायनशतात् मासेऽत्र माघाह्वये।
पंचम्यां च तिथौ दिनादिसमये वारे च भानोस्तवो·
द्दोढुं सद्गतिमस्ति लग्नमसमं तत्त्वर्यतां त्वर्यताम्॥

वसंतविलास, १४.३७।

६. वही, प्रस्तावना, पृ. ८।

शत्रुंजय की तीर्थयात्रा को जा रहा था[१]। यह कथन विश्वसनीय हो सकता है, परन्तु वसन्तविलास में यह बात नहीं कही गई है[२]। प्रबन्धकोष (पृ० १२५) और विविधतीर्थकल्प (पृ० ८०) में वस्तुपाल के मन्त्रित्वाधिकार की समाप्ति और नागर मन्त्री नागड़ के अमात्य होने का कहा गया है। अन्यत्र ऐसा कहा गया है कि वस्तुपाल ने वीसलदेव को क्रुद्ध कर दिया था क्योंकि उसने उसके मामा को इसलिए दण्ड दिया था कि उसने एक जैन साधु की अवहेलना की थी, परन्तु मन्त्री की सोमेश्वर के बीच-बचाव से रक्षा हो गई[३]। ऐसा भी कहा गया है कि एकदा वीसलदेव ने वस्तुपाल से महेसूल का हिसाब माँगा और जब यह जाना कि कुछ धन मन्दिरों आदि के निर्माण में खर्च कर दिया गया है, उसने उसे दण्ड देने का निश्चय कर लिया, परन्तु सोमेश्वर ने उसे दण्ड देने से रोक दिया[४]। यद्यपि ऐसी कथाओं को हम पूर्णतया सत्य विश्वास नहीं कर सकते है परन्तु इनसे इतना तो पता लगता ही है कि वस्तुपाल अपने जीवन के पिछले दिनों में नये राजा की अप्रसन्नता का पात्र हो गया था। और इसमें कोई ऐसी अनहोनी बात भी नहीं है क्योंकि इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि नया राजा अपने पुराने मन्त्री के साथ चलते रहने में कठिनाई अनुभव करता है। परन्तु यहाँ ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त है कि वस्तुपाल को वीसलदेव ने निकाल ही दिया था यद्यपि नये राजा के साथ उसके सम्बन्ध कोई अच्छे नहीं थे। यह असम्भव नहीं है कि नागड़ के नेतृत्व में नागर राज-नीतिज्ञों के दबाव के कारण ऐसा हुआ हो या यह कि वीसलदेव को पुराने अमात्य का अहंकारी स्वभाव असह्य हो गया हो।

तेजपाल की मृत्यु

५५. यह बतानेवाले बहुत ही विश्वस्त प्रमाण हैं कि वस्तुपाल का अनुज तेजपाल, वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् कुछ वर्षों तक प्रधान अमात्य का काम

---

१. प्रचि, पृ. १०५; प्रको, पृ. १२८; वच, ८।

२. पक्षान्तर में वसन्तविलास कहता है कि वस्तुपाल शत्रुंजय पर चढ़ा था और सद्गति, धर्म की पुत्री, का उसने आदिनाथ के समक्ष वरण किया था। अर्थात् उसका शत्रुंजय पर निधन हुआ (ववि, १४-४६,५०)। हम नहीं कह सकते कि यह मात्र रूपक ही है या सच्ची कथा। ऐसा सम्भव है कि यद्यपि वस्तुपाल का शत्रुंजय जाते हुए मार्ग में ही निधन हो गया हो किन्तु बालचन्द्र ने आदिनाथ के समक्ष हुए विवाह का रूपक काव्य दृष्टि से बाँधा हो।

३. प्रको, पृ. १२६ आ; वच, ८।   ४. प्रको, पृ. १२५।

करता रहा था और यह कि राजा की अप्रसन्नता इतनी गहरी नहीं थी कि उसे भी इस पद से हटा दे। वि० सं० १२६६ वैशाख सुदी ३ तदनुसार २६ अप्रैल १२४० ई० के आबू के एक शिलालेख मे तेजपाल को महामात्य कहा गया है[1] और यह उपर्युक्त लेख इस बात का भी समर्थन करता है कि वस्तुपाल का उस वर्ष के माघ मास में निधन हुआ था और तेजपाल ने महामात्य का आसन ले लिया था। एक ताड़पत्रीय वि० सं० १२६८ की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति (कोलोफन) में महामात्य तेजपाल के पुत्र लुणसिंह की भृगुकच्छ का राज्यपाल लिखा गया है[2]। वि० स० १३०३=१२४७ ई० की लिखी आचाराग की एक प्रति मे तेजपाल को अणहिलवाड़ का महामात्य लिखा है[3]। नागड़ को महामात्य बतानेवाली सबसे पहली प्रशस्ति वि० सं० १३१० १२५४ ई०[4] की है जिससे पता चलता है कि तेजपाल की मृत्यु सन् १२४७ और १२५४ ई० के बीच में कभी हुई थी। वस्तुपालचरित के अनुसार तेजपाल की मृत्यु वस्तुपाल की मृत्यु से दस वर्ष बाद हुई थी और प्रबन्धकोश उसकी मृत्यु वि० स० १३०८= १२५२ ई० कहता है। इस प्रकार वि० सं० १३०६ (वस्तुपाल की मृत्यु हुई १२९६ + १० वर्ष—१३०६ वि० सं०=१२५० ई०) अथवा सं० १३०८= १२५२ ई० या १३०४ = १२४८ ई० जैसा कि ताडपत्रीय हस्तलिखित प्रति मे दिया है (देखो पैरा ५४) तेजपाल के निधन की तिथि मानी जा सकती है। दुर्भाग्य की बात यह है कि वस्तुपाल की मृत्यु जैसा कोई विश्वस्त प्रमाण हमें नहीं मिल रहा है जिससे इन तीनो तिथियो में से किसी एक को हम ऐतिहासिक सत्य चुन लें। परन्तु यह तो असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नागर ब्राह्मण नागड़ तेजपाल की मृत्यु के पश्चात् ही वीसलदेव का महामात्य हुआ था।

---

१. प्राजैलेस. सं. ६६। २. पाभंसू, पृ. ६०।

३. पेटरसन, प्रथम प्रतिवेदना, परिशिष्ट १ पृ. ४१।

४. जे भंसू, पृ. ३७ आदि।

चौथा अध्याय

साहित्य और ललितकला का महान् पोषक कवि वस्तुपाल

५६. जैसा कि तीसरे अध्याय से जाना जा सकता है वस्तुपाल और तेजपाल दोनों का धवलक्क और अणहिलवाड़ के राज-दरबार में बड़ा प्रभाव था। उनने गुजरात के राज्य का राजनैतिक और आर्थिक दोनो रीतियों से व्यवस्थित किया था। परन्तु वे इसके लिए नहीं अपितु अपनी महान् दानशीलता द्वारा प्रेरित सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के कारण ही अधिक प्रख्यात और स्मरणीय हैं। उनने गुजरात में ऐसी सांस्कृतिक जागृति को जन्म दिया कि जो महान् विद्वान् हेमचन्द्र के दिनो का स्मरण दिलाती है और मालवाधिपति राजा मुंज और भोज के सांस्कृतिक वैभव से स्पर्द्धा करती है।

वस्तुपाल की तीर्थ-यात्राएँ

५७. प्रबंधों के अनुसार वस्तुपाल ने शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थयात्राएँ तेरह बार की थीं। बचपन में इन दोनों तीर्थों की यात्रा पर वे अपने पिता अश्वराज के साथ गए थे, जो यात्रियों के संघ का नेता या संघपति था। यह सन् ११९३ और ११९४ की बात है। मंत्री बनने के पश्चात् वस्तुपाल ने एक से अधिक बार संघ निकाले और शत्रुंजय एव गिरनार की यात्रा को सन् १२२१,१२३४,१२३५.१२३६ और १२३७ में गया[1]। शत्रुंजय की अन्तिम यात्रा पर वह सन् १२४० ई. में रवाना हुआ था, परन्तु मार्ग में ही उसका निधन हो जाने से वह यात्रा हो नहीं पाई। इसी अन्तिम यात्रा का वर्णन बालचन्द्र ने वसंतविलास में किया है। सन् १२२१ ई. में जो यात्रा उसने की वह कदाचित् सबसे अधिक महत्त्व की थी, क्योंकि इसका जिक्र गिरनार के शिलालेखों में बार-बार किया गया है और कदाचित् इसी का बड़ी यथार्थता के साथ और काव्य चातुरी से समकालिक ऐसे काव्यों में जैसे कि कीर्तिकौमुदी, सुकृत संकीर्तन, और धर्माभ्युदय आदि में वर्णन है। इसका विचार आगे छठे अध्याय में किया जाएगा।

---

१. वच, ८; पुप्रसं, पृ. ५९; जैसाइ, पृ, २०८ आदि भी देखो।

वस्तुपाल के सर्वजनहितैषी निर्माणकार्य

५८. यदि हम उन समकालिक साहित्यिक कृतियों को ही देखें कि जिन पर बिना हिचकिचाहट के भरोसा किया जा सकता है, तो हमें मालूम पड़ेगा कि इन मंत्रियों के द्वारा निर्मित मंदिर, धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब, आदि स्थापत्य एवं पूत कार्य बहुत अधिक थे[1]। यदि पश्चात् कालीन प्रबन्धों को छोड़ कर हम समकालिक साक्षियों का ही विचार करें तो इनमें कोई भी संदेह नहीं रहता है कि उनकी दानशीलता और लोकहितैषिता गुजरात, सौराष्ट्र और मारवाड़ भर के अनेक स्थानों पर प्रकटी थी। जिनप्रभसूरि और राजशेखर कहते हैं कि इनके सर्वजनहितैषी निर्माण-कार्य दक्षिण में श्रीशैल, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और पूर्व में बनारस तक फैले हुए हैं[2]। यह असंभव भी प्रतीत नहीं होता जब कि हम यह बात ध्यान में लेते हैं कि विद्वान्, कवि और धार्मिक पुरुष भारत भर में से उन दिनों अणहिलवाड़ और धवलक्क आया करते थे और वस्तुपाल एवं उसके अनुज तेजपाल से कुछ न कुछ आश्रय और पोषण पाते ही थे। वस्तुपाल के निर्माण कार्य उसके मान्य जैनधर्म ही तक परिसीमित नहीं थे। कहा जाता है कि उसने औषधालय, धर्मशालाएँ, मठ, शिवमंदिर, यहाँ तक कि मस्जिदें[3] भी बनवाई थीं। उत्तरकालीन वर्णनों में कुछ अतिशयोक्ति भी हो सकती है क्योंकि जिन स्थानों पर सर्वजनहितकारी कामों में वस्तुपाल ने धन खर्च किया था, वे सुकृतसंकीर्तन जैसी समकालिक सामग्री के अनुसार लगभग ५० थे। राजशेखर, जिनहर्ष और जिनप्रभ ने इस संख्या को बहुत ही बढ़ा चढ़ा दिया है। इनके ये विस्तृत विवरण कहीं-कहीं भद्दे भी हो गए हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षतः अतिशयोक्ति हैं। परन्तु समकालिक लेखकों के वर्णित अकाट्य तथ्यों को भी देखें तो यह संशय नहीं रहता है कि वस्तुपाल गुजरात और कदाचित् भारतवर्ष के उत्कृष्ट लोकहितैषियों में से एक था।

५९. वस्तुपाल और तेजपाल ने अत्यधिक धन जनहितैषी निर्माणों में व्यय किया था और हम यह जानना चाहेंगे कि इतना धन उन्हें कहाँ से और कैसे प्राप्त हुआ था? हम यह तो जानते ही हैं कि इन दोनों भाइयों का जन्म एक ऐसे रईस घराने में हुआ था, जिसमें वंशपरम्परा से मन्त्रिपद चला आता था इसलिए वे सम्पन्न होंगे ही। प्रबन्धों में ऐसी कथाएँ दी गई हैं कि इन्हें

---

१. नना, १६. २७, सुसं और सुकीक आदि भी देखो।

२. विर्तीक, पृ ७६ आदि; प्रको. पृ. १२०।

३. प्रको, पृ. १२६ आ; वच, २, ३ और ६; विर्तीक, पृ. ७६ आ।

इतना अकल्प्य धन कैसे प्राप्त हुआ था ? यद्यपि ये कथाएँ पढ़ने में पौराणिक-सी हैं, फिर भी इनमें कुछ सत्यांश होना संभव है। जब वस्तुपाल स्तम्भतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त हुआ था, सैयद या सादिक नामक एक मुसलमान व्यापारी ने उसका अधिकार मानने से इन्कार कर दिया था। जब वस्तुपाल ने उसे दण्ड देना चाहा तो उसने लाट के राजा शंख को अपनी सहायता के लिए निमंत्रित किया, परंतु शंख पराजित हो गया। सैयद भी बन्दी बना लिया गया और उसकी सब सम्पत्ति जप्त कर ली गई। जब इसकी सूचना राजा को दी गई तो उसने यह आज्ञा निकाली कि सैयद की समस्त मूल्यवान सम्पत्ति राजकोश में जमा हो और वस्तुपाल उसके घर की धूल ले ले। यह धूल भी अधिकाश में स्वर्ण-धूलि ही थी क्योंकि भीषण आग ने सैयद के अधिकाश सोने और चाँदी को भी धूलधूसरित कर दिया था। इस प्रकार सैयद की अधिकांश सम्पत्ति वस्तुपाल के अधिकार मे आ गई[1]। दूसरे वर्णन में कहा गया है कि सौराष्ट्र के जैन तीर्थों की यात्रा को जाते हुए दोनों भाई अपनी एक लाख की सम्पत्ति को हडालक (आधुनिक हडाला) गाँव के पास गाड़ने को गए थे। वहाँ खड्डा खोदते हुए उन्हें और धन प्राप्त हो गया। वस्तुपाल ने तेजपाल की पत्नी अनुपमा से इस गड़े धन के विषय में सलाह की। अनुपमा ने कहा कि "यह धन पहाड़ के शिखर पर रख दिया जाए ताकि फिर यह किसी के हाथ न पड़े जैसा कि हमारे हाथ आज पड़ गया है।" वस्तुपाल और तेजपाल ने वह सारा धन तब आबू और गिरनार के मंदिरों के निर्माणों मे और शत्रुंजय की यात्रा के तीर्थसंघ निकालने में खर्च कर दिया[2]।

मध्ययुगीन स्थापत्य का चिरजीवी नमूना—आबू का मंदिर

६०. अनुपमा की सलाह सत्य सिद्ध हुई और वस्तुपाल तेजपाल के अन्य स्थापत्य सिवा आबू और गिरनार के मंदिरों के, आज सुरक्षित नहीं है[3]। आबू का मंदिर तेजपाल ने वि. सं. १२८७ = सन् १२३१ ई. मे बनाया था और इसके

---

१. पुप्रसं, पृ. ५६ और ७२।   २. प्रको, पृ. १०१।

३. पाटण में तीन पुराने संगमरमर के स्तम्भ सुरक्षित हैं। इनमें से दो तो कालिका माता के अपेक्षाकृत नवीन मन्दिर में स्तम्भरूप प्रयुक्त हो गये हैं। तीसरा डा. पण्ड्या अभ्यासग्रह के पुरातत्त्व संग्रहालय में रखा हुआ है। उन पर उत्कीर्ण लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये स्तम्भ वस्तुपाल और उसके परिवार के महलों के अवशेष है। ये लेख मैंने प्रकाशित कर दिये हैं। देखो फागुसत्रै, भाग ४, पृ. १९२ आदि।

मुख्य अधिष्ठाता देव हैं श्री नेमिनाथ, वर्तमान चौबीसी के बाइसवें तीर्थंकर। गिरनार के मंदिर वस्तुपाल ने वि. सं. १२८८=सन् १२३२ ई में बनाए। आबू का मंदिर देलवाड़ा के जैन मंदिरों के बीच में है और वस्तुपाल के बड़े भाई लुणिग[1] की स्मृति में लुणवसतिका के नाम से प्रख्यात है। यह मध्ययुगीन भारतीय कला का उत्कृष्टतम नमूना है और कला के इतिहास में निर्माता के नाम को अमर करने वाले हैं[2]। यह मंदिर और विमलशाह द्वारा दो सौ वर्ष पहले निर्मित विमल-वसति मंदिर दोनों ही सम्पूर्णतया श्वेत संगमरमर के बने हुए हैं हालांकि संगमरमर की कोई खान, हलकी जाति के संगमरमर को छोड़ कर, उस मंदिर के २० से ६० मील के घेरे में भी नहीं है। मन्दिर के स्थान तक उस पहाड़ पर इतना संगमरमर ढोकर ले जाने के खर्च ने निःसंदेह उसके निर्माण खर्च में अतिशय वृद्धि की होगी। बाहर से मन्दिर बिलकुल सादा है जिससे भीतर उत्कृष्ट कला सौंदर्य देखने का किसी को भी विश्वास नहीं हो सकता है। जैसा कि कजिन्स कहता है—छतों, स्तम्भों, तोरणों, कमानों और ताखों की बारीक कोरणियाँ, जो मन्दिर में सर्वत्र बिखरी हुई हैं, एकदम अद्भुत हैं। संगमरमर पर मोटदार, सूक्ष्मतम, चमत्कार मानो शंख के जैसा काम अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जाता और कोई-कोई ढाँचे तो सचमुच सौंदर्य के स्वप्न ही हैं। कहा जाता है कि बहुतेरा काम तो संगमरमर को खुरच कर ही बनाया गया था और राजों को पारिश्रमिक उनकी खुरची हुई संगमरमर की धूल के अनुपात से दिया गया था। तेजपाल के मन्दिर के गुम्बज के केन्द्र से लटकता हुआ लम्बक विशेषरूपेण आकर्षक है और प्रत्येक दर्शक की दृष्टि उस पर चिपक जाती है। कर्नल टाड ने ठीक ही कहा है कि "उसका वर्णन करना लेखनी शक्ति को चुनौती है और अति धीर कलाकार की कलम को अत्यधिक कष्टदायी है। यदि वह कहता है कि गाथिक स्थापत्य की अलंकृततम फूल-पत्ती की सजावट शैली के नमूने भी इसकी शोभा को नहीं पहुँच सकते हैं तो किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं है।

---

१ मचि, पृ. १०१ परन्तु शिलालेखों में लिखा है कि यह तेजपाल की स्त्री अनुपमा और उसके पुत्र लुणसिंह के आध्यात्मिक सुख के लिए बनाया गया था।

२. मन्दिर के वर्णन के लिए देखें फर्गुसन. हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आरकीटेक्चर, भाग २, पृ. ३६ आदि; ब्राउन, इण्डियन आरकीटेक्चर, भाग, १, पृ. १४४ आदि। सांकलिया, आरकियालोजी आफ गुजरात, पृ. १०८–१२८।

अर्धविकसित कमल के गुच्छे के समान यह दीखता है, जिसके दल इतने पतले, इतने पारदर्शी और इतनी बारीकी से किए हुये है कि उनकी प्रशंसा मे आँख वही टिक जाती है।" मंदिरों का नक्काशी काम केवल निर्जीव दृश्यो के निर्माण में ही नहीं रहा है, अपितु उसने गृह-जीवन के दृश्यों को भी उत्कीर्ण किया है। यह भी कहा जा सकता है कि पुरातत्व के अध्येता को यदि वह इन कम उभरी नक्काशी का अच्छी तरह अध्ययन करेगा तो, मध्ययुगीन भारत के तौर तरीकों और रीति-रिवाजो के सम्बन्ध में बहुत जानकारी होकर उसका परिश्रम सार्थक हो जाएगा'[1]। प्रबन्धो के अनुसार वस्तुपाल और तेजपाल ने शत्रुंजय पर १८ करोड़ ९६ लाख, गिरनार पर १२ करोड़ ८० लाख और आबू की लूणवसति पर १२ करोड़ ५३ लाख मंदिर निर्माण में खर्च किए थे[2]। इसमें कुछ अतिशयोक्ति भी हो, परन्तु इसमें तो कोई संदेह ही नही है कि प्रचुर धन और श्रमिको का श्रम इन स्मारको के निर्माण में अवश्य ही खर्च हुआ होगा, जो उसके निर्माताओं की धर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धा और खुले हृदय की उदारता के जीते जागते प्रमाण हैं। इतिहास कहता है कि इनके निर्माण में भारतवर्ष के और बाहर के स्थानो पर बनाये गए स्मारकों की तरह न केवल बेगार श्रम का प्रयोग ही नहीं किया गया था, अपितु श्रमिकों को भरपूर मजदूरी दी गई थी और वहाँ के काम करने वाले शिल्पियो की सुख-सुविधा का भी बराबर ध्यान रखा गया था[3]।

वस्तुपाल—विद्या और साहित्य का महान् आश्रयदाता

६१. कला का पोषक और जनहितैषी होने के सिवा, वस्तुपाल विद्या और साहित्य का भी महान् पोषक था। उसने अणहिलवाड़, स्तम्भतीर्थ और भृगुकच्छ इन तीनो स्थानो पर अत्यधिक धन खर्च कर बड़े-बड़े पुस्तक भण्डार स्थापित किए[4] थे। उसका निजी पुस्तक भण्डार भी बड़ा समृद्ध था और उसमें सभी

---

१. फार्ब्स, रासमाला, भाग १, पृ. २५७ आदि।

२. प्रको, पृ १२९।   ३, वही, पृ. १२२ आदि।

४. वही, पृ, १२९; पुप्रसं, ६५; वितीक, पृ. ८०। जैन ग्रथ भडारों की स्थापना गुजरात में बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। जब देवर्द्धि ने जैन श्रुत लिपिबद्ध कराया, तो वे भण्डारो में ही रखे गए होंगे (पैरा ७)। ऐसा कहा जाता है कि कुमारपाल ने २१ ग्रन्थ भण्डार स्थापित किए थे (कुमारपाल-प्रबन्ध, पृ. ९६ आदि)। इन भण्डारों की हस्तलिखित पुस्तकें हमारे लिए आज

प्रमुख शास्त्रों की एक से अधिक प्रतियाँ थीं[1]। विद्वानों और कवियों के प्रति वह बहुत उदार था। उसके सम्बन्ध में यह तक भी कहा जाता है कि भोज और विक्रमादित्य की तरह ही उसने कवियों को एक-एक श्लोक के लिए ही नहीं अपितु श्लोकार्द्धों तक के लिए भी हजारों का पुरस्कार दिया था। उसके दानचमत्कार और कवियों को दिये गये आश्रय के लंबे और विस्तृत विवरण प्रबन्धकोश, वस्तुपालचरित, पुरातन-प्रबन्धसंग्रह और उपदेशतरंगिणी जैसे ग्रन्थों में दिए गए हैं। कवियों के प्रति उदारचेता होने के कारण उसे लघु भोजराज भी कहा जाता था। ज्ञात और अज्ञात अनेक कवि उसकी दानशीलता का लाभ उठा चुके थे, इनमें कवि सोमेश्वर ने कृतज्ञता पूर्वक इन शब्दों में उल्लेख किया है :—

सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता ।
विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मन्त्रिणा ॥[2]

अर्थात् पहले बुद्धिमान दुर्गसिंह ने सूत्रों (कातन्त्र व्याकरण) पर वृत्ति रची, परन्तु मंत्री वस्तुपाल ने सूत्रों के बिना ही कवियों को वृत्ति (आजीविका) दी है।

कवियों को आश्रय देते और ज्ञान-विज्ञान के लिए दान देते हुए वस्तुपाल ने जैन और अजैन का कोई भी भेद-भाव कभी नहीं किया। उसने प्रभास के शिव-तीर्थ[3] के लिए दस हजार द्रम्म दान दिए और कवि गुणज्ञ ब्राह्मणों को भी खूब दान दिया। ऐसे अवसर कदाचित् नहीं अपितु प्रचुर थे। कीर्तिकौमुदी में उसके लिए यह कहा गया है—

नालचे भक्तिमान्नेमौ नेमौ शंकरकेशवौ ।
जैनोऽपि यः सवेदानां दानाम्भः कुरुते करे ॥[4]

अन्य मतों के प्रति उसकी सहिष्णुता इतनी कहावत हो गई थी कि पुरातन-प्रबन्ध संग्रह में यह कहा गया है—

बौद्धैर्बौद्धो वैष्णवैर्विष्णुभक्तः शैवैः शैवो योगिभिर्योगरङ्गः ।
जैनैस्तावज्जैन एवेति कृत्वा सत्त्वाधारः स्तूयते वस्तुपालः ॥[5]

सुरक्षित नहीं हैं। कदाचित् मुसलमानों ने उन्हें नष्ट कर दिया था। पाटण भण्डार में वि. सं. १२८४=सन् १२२८ ई० की जीतकल्प-चूर्णी-व्याख्या की ताडपत्रीय प्रति है (पाभंसू, पृ. ४००); उसकी प्रशस्ति में वस्तुपाल की प्रशंसा में कुछ श्लोक हैं। कदाचित् यह वस्तुपाल के भण्डारों में से विरल अवशेष ही हो (देखो पैरा २२०)।

१. वच, अ. ७, ११३ । २. प्रको, पृ. ११२; वच, अ. ४. ४४३ ।
३. हत, पृ. ७७ । ४. कीकौ, ४. ४० । ५. पुप्रस, पृ. ६८ ।

६२. फिर वस्तुपाल में ऐसी शक्ति भी थी कि कवियो की कविताओं का दोष वह जान जाता था और उसमे उचित सुधार कर देता था। उसे इसलिए सहृदयचूड़ामणि कहा गया है[1]। काव्य और कला को समझने वाला ही वह नहीं था, अपितु वह लोगो को अपने शिक्षण और आनन्द के लिए धार्मिक और साहित्यिक कृतियाँ लिखने की प्रार्थना भी किया करता था। नरचन्द्रसूरि का कथारत्नाकर और नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकारमहोदधि उसकी ही प्रार्थना पर रचे गए थे (पैरा ११९–१२१)। अवकाश का अधिकाश समय उसका साहित्यिकों की संगति में ही बीतता था[2]। अपने नरनारायणानन्द महाकाव्य (सर्ग १६ श्लोक ३६) में उसने ही कहा है कि वह कवियो और पण्डितो के सान्निध्य में इसलिए इतना समय बिता सका है कि उसका अनुज तेजपाल राज्य-कारभार भली प्रकार सम्हाल लेता है। विद्वानों में उच्चपदीय मान प्राप्त होने के बावजूद भी उसकी नम्रता विनयशीलता जनोक्ति हो गई थी और राजकीय कारबार में पूर्ण व्यस्त रहते हुए भी उसने अपने ही हाथ से अपने गुरु विजयसेनसूरि के एक शिष्य उदयप्रभ के धर्माभ्युदय काव्य की प्रतिलिपि करने का अवकाश निकाला था। वि. सं. १२९० = सन् १२३४ ई. की हस्तलिखित यह प्रति खम्भात के भण्डार में सुरक्षित है। और हम बड़े ही भाग्यशाली हैं कि इतने बड़े व्यक्ति के हस्तलेख का नमूना ७०० से अधिक वर्ष बीते बाद भी हमें प्राप्त है (देखिए हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति—सं. १२९० वर्षे चैत्र शुद्ध १२ रवौ श्रीस्तम्भतीर्थवेलाकूलमनुपालयता महं० श्रीवस्तुपालेन श्रीधर्माभ्युदयमहाकाव्यपुस्तकमिदमलेखि)। उन दिनो के गुजरात में जैन या अजैन ऐसा कोई भी विद्वान नहीं था कि जो वस्तुपाल के सम्पर्क में किसी न किसी प्रकार नहीं आया हो। इसलिए यह बिलकुल ही आश्चर्य की बात नही है कि उसके चुम्बकीय व्यक्तित्व से परोक्षरूपेण प्रेरणा पाकर अथवा उसके प्रत्यक्ष आश्रय में ही लिखे हुए इतने अधिक ग्रन्थ प्राप्त हैं।

वस्तुपाल की साहित्यिक कृतियाँ

६३. इतिहास में ऐसा कितनी ही बार हुआ है कि कवियो के आश्रयदाता स्वयं भी कवि रहे हैं। भारतीय साहित्य जगत् में राजा-कवियो के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। वस्तुपाल का नाम भी ऐसे ही व्यक्तियो में गिनाया जा

---

१. सत्कविकाव्यशरीरे दुष्यदगददोषमोषणैकभिषक्।
श्रीवस्तुपालसचिवः सहृदयचूडामणिर्जयति ॥—उरा, २।

२. कीकौ, ६।

सकता है। जैसे कवियों के आश्रयदाता के रूप में उन ग्रन्थों में, जो हमें उसके विषय में प्रचुर सामग्री देते हैं, उसकी प्रशंसा मिलती है, वैसे ही वह उनमें कवि रूप से भी प्रशंसित हुआ है। उसे दाढ़ीवाली सरस्वती (कूर्चाल सरस्वती)[1], कविकुंजर और कविचक्रवर्ती कहा गया है एवं सरस्वती के धर्मपुत्र रूप से उसका कीर्तन किया गया है[2]। प्रबन्धचिन्तामणि (पृ. १००) एवं अन्य ग्रन्थों में उसे 'सरस्वतीकण्ठाभरण' कहा गया है। हमें यह भी सूचना मिलती है कि नरचन्द्र से उसने न्याय, व्याकरण और साहित्य इन तीन विद्याओं का तथा जैनशास्त्र का भी अध्ययन किया था (पेज ११८)। उसका कवि उपनाम 'वसन्तपाल' था और यह नाम उसे हरिहर, सोमेश्वर और अन्य कवियों द्वारा दिया गया था[3]। यही कारण है कि बालचन्द्र ने अपने वस्तुपाल के जीवन सम्बन्धी महाकाव्य को 'वसन्तविलास' नाम दिया। नरनारायणानन्द के अन्त में वस्तुपाल कहता है कि शत्रुंजय गिरि के श्रीआदीश्वर भगवान के दर्शन से प्राप्त नैसर्गिक प्रेरणा से निर्मित स्तोत्र उसकी सबसे पहली कविता थी[4]। वस्तुपाल का आदिनाथ स्तोत्र ही तो यही है। वस्तुपाल ने नेमिनाथस्तोत्र अम्बिकास्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र और दस गाथा की एक छोटी आराधना भी रची है। यह आराधना कदाचित् वस्तुपाल की अन्तिम रचना भी हो क्योंकि उसकी प्रथम गाथा (न

---

१. पुप्रस, पृ. ५५।

२. गिरनार के शिलालेखों में वह 'धर्मसूनुः सरस्वत्याः' और 'शारदाप्रतिपन्नापत्य:' कहा गया है। कीको १. २६ भी देखो।

वस्तुपालयशोवीरौ सत्यं वाग्देवतासुतौ।
एको दानस्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम्॥

वस्तुपाल ने 'वाग्देवीधर्मसूनु' इस नाम का अपने लिए नना, सर्ग १६ श्लोक ४० में उपयोग किया है। वस्तुपाल के विरुदों के लिए देखिए प्रप, ६.१२२-२४; और हीरानन्द का वस्तुपाल रास भी।

३. नना, १६.३८। वस्तुपाल का कवि उपनाम जैसे वसन्तपाल है, वैसे यह भी अघटनीय नहीं कि वस्तुपाल नाम भी किसी ग्रामीण नाम का संस्कृतकरण हुआ हो। मैं ऐसी कल्पना इसलिए करता हूँ कि पुराने गुजराती रासों में वस्तुपाल और तेजपाल को वस्तिग और तेजिग कहा गया है। यह द्रष्टव्य है कि आज भी उत्तर गुजरात और मारवाड़ के बनियों में वस्तो एक साधारण नाम है।

४. वही, १६. ३९।

कृतं सुकृतं किंचित् ०) प्रबन्ध चितामणि (श्लो. २३४), प्रबन्धकोश (श्लो. ३३०) और पुरातनप्रबन्धसंग्रह (श्लो. २०२) में मृत्यु शैया पर मंत्री द्वारा उच्चरित रूप से उद्धृत की गई है। प्रबंधचितामणि (प्र. १०५) कहता है कि अमात्य ने पर्यन्ताराधना इसीसे की थी जब कि वह शत्रुंजय जाते हुए मार्ग में मरणासन्न था। यह लगता है कि इस आराधना की रचना उसने अपनी अन्तिम तीर्थयात्रा में ही की थी जब कि उसका स्वास्थ्य गिरता ही जा रहा था।

६४. साहित्यिक सामग्रियो से यह भी पता चलता है कि वस्तुपाल सूक्तियाँ रचने में भी प्रवीण था। सोमेश्वर ने एक स्थल पर उसकी इस विशेष शक्ति का इस प्रकार वर्णन किया है :—

अम्भोजसम्भवसुतावक्त्राम्भोजेऽस्ति वस्तुपालस्य।
यद्वीणारणितानि श्रूयन्ते सूक्तिदम्भेन ॥[1]

और उदयप्रभ ने अपनी वस्तुपाल स्तुति के पहले ही श्लोक में वस्तुपाल की सूक्तियो की प्रशंसा एक सरल परन्तु काव्यमयी गाथा द्वारा इस प्रकार की है :—

पीयूषादपि पेशलाः शशधरज्योत्स्नाकलापादपि,
स्वच्छा नूतनचूतमंजरिभरादप्युल्लसत्सौरभाः।
वाग्देवीमुखसामसूक्तविशदोद्गारादपि प्रांजलाः,
केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदं श्रीवस्तुपालोक्तयः ॥[2]

वस्तुपाल कृत सूक्तियाँ कितने ही संग्रहो में उद्धृत की गई हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि उसकी काव्यख्याति गुजरात की सीमा के बाहर भी दूर-दूर तक फैल गई थी। उसके चार श्लोक देवगिरि के राजा कृष्ण(१२४०-१२६० ई.), के हस्तिपाल जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि में उद्धृत मिलते हैं[3]। देवगिरि और गुजरात में युद्ध निरन्तर चलता ही रहता था। परन्तु शांति के अन्तर दिनों में सांस्कृतिक सम्पर्क को कुछ-कुछ प्रेरणा मिलती ही रहती थी और ऐसा आदान- प्रदान दोनों ही ओर से हुआ होगा। शाकम्भरी के शार्ङ्गधर की शार्ङ्गधरपद्धति में (१२६३ ई.) भी वस्तुपाल का एक श्लोक स्थान

---

१. उरा, ८।

२. यह श्लोक प्रको (पृ. ११६) और उत (पृ ७८) में मिलता है। उदयप्रभ के धर्माभ्युदय महाकाव्य के १० वें सर्ग के अन्त में भी यह उद्धृत किया गया है।

३. (१) अध्वानं यदि० (२) यन्नोन्मुखं० (३) संप्रति न० (४) साम्म निम्नोन्नतता०। पहला श्लोक नना. १. ६ मे खोज लिया गया है।

पा गया है[1]। प्रबन्धों में भी वस्तुपाल के मुँह में अवसर विशेष पर कहे गए अनेक श्लोक रख दिए गए हैं।[2] कवित्व की इस कला में प्रवीण होने के कारण इनमें से अधिकांश वस्तुपाल के ही कहे हुए हो, यह भी निश्चित है। यह कल्पना की जा सकती है कि वस्तुपाल संस्कृत सूक्तियाँ अवसर विशेष के योग्य तत्काल रच सकता था। आबू प्रशस्ति में, सोमेश्वर ने उसकी काव्य-मौलिकता और राजसंचालन के क्षेत्र में उसके कठोर शासन की अत्यन्त प्रशंसा की है[3]। मृत्यु के पूर्व कहे हुए उसके श्लोक जब कि वह शत्रुंजय की तीर्थयात्रा पर जा रहा था, उनकी गहन धार्मिकता और विनय को प्रकट करते हैं। ऐसी धार्मिकता और विनय पहुँची हुई आत्माओं में ही देखे जाते हैं (प्रचि, पृ. १०५; वच, सर्ग ८, ५७१–७४)।

६५. जैसा कि पहले कहा जा चुका है वस्तुपाल ने सोलह सर्गों में नरनारायणानन्द नामक महाकाव्य रचा, जिसमें अर्जुन और कृष्ण की मैत्री, रैवतक उपवन में उनका विचरण और अन्त में कृष्ण की बहन सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरण का वर्णन है। महाकाव्य के अन्त में (सर्ग १६ श्लो. ३३) उसने अपनी अनेक संघ-यात्राओं का उल्लेख किया है और दूसरे स्रोतों से हम जानते भी हैं कि उसकी पहली संघ-यात्रा सन् १२२१ ई. में हुई थी। इसलिए यह महाकाव्य इसके बाद ही रचा गया हो सकता है। जिसने साहित्य और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इतने सुंदर-सुंदर काम किए, उस वस्तुपाल की प्रशंसा करते हुए नरेन्द्रप्रभसूरि ने निम्न श्लोक कहा है जिसमें उसकी सभी ओर की सफलता का सार आ गया है—

त्यागाः कुड्मलयन्ति कल्पविटपित्यागक्रियापाटवं
कामं काव्यकलापि कोमलयति द्वैपायनीयं वचः।
बुद्धिर्धिक्कुरुते च यस्य धिषणां चाणक्यचिंतामणेः
सोऽयं कस्य न वस्तुपालसचिवोत्तंसः प्रशंसास्पदम् ॥[4]

---

१. संप्रति नं० (सं. ६६), सू मु. में भी यही है।

२. पुप्रस, पृ. ६४, प्रको, पृ ११४, ११६, १२२, १२४ व १२५, १२७; प्रचि, पृ, १०५; वच, ६. ५०७, ५०८, ५५२, ६०१, ६१० आदि कितने ही श्लोकों के संबन्ध में प्रचि ने महत्वपूर्ण बात यह कही है—इत्यादीनि श्रीवस्तुपाल महाकवेः स्वयंकृतान्यमूनि (पृ. १०५)।

३. विरचयति वस्तुपालश्चौलुक्यसचिवेषु कविषु च प्रवरः। न कदाचिदर्थहरणं श्रीकारणे काव्यकरणे वा ॥ (प्राजैलेसं, सं. ६४)।

४. अम, पृ. २।

६६. आधुनिक पाठक को यह कदाचित् अनोखा या असाधारण-सा लगे कि कोई व्यक्ति महान् राजनीतिक और शासक होते हुए भी बड़ा साहित्यिक हो। ऐसे व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान को आश्रय देने वाले तो सुने गए हैं, परन्तु जब उन्हें साहित्यिक ग्रन्थों के रचयिता भी कहा जाता है तो मन में इसकी सत्यता में संदेह होने लगता है और ऐसा संदेह करना बिलकुल अकारण भी नहीं होता क्योंकि भोज और ऐसे ही प्रसिद्ध राजाओं के विषय में कुछ विद्वानों का विश्वास है कि उन्हें उन साहित्यिक कृतियों का, जो उनके आश्रितों की लिखी हुई है, कर्ता प्रसिद्ध कर दिया गया है। क्या वस्तुपाल के साहित्यकार होने के विषय में संदेह करने का कोई भी कारण नहीं है? ऐसे संदेहों का सम्पूर्णतया निरसन नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह साक्षियों की व्याख्या पर आधारित है। परन्तु एक बात निःसंदेह है कि किसी शासक और मुत्सद्दी पुरुष के साहित्य रचयिता होने में कोई स्वाभाविक विसंगति तो नहीं होती है। डिजरेली का उदाहरण हमारे सामने है। उदाहरणों के लिए विदेशों को जाने की भी हमें आवश्यकता नहीं है। गुजरात और भारत के अन्य प्रान्तों के इतिहास से ही हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। कुछ का यहाँ वर्णन कर देते हैं—मुद्राराक्षस का रचयिता विशाखदत्त (ईसवी ५वीं शती) स्वयं महाराजा भास्करदत्त का पुत्र और वटेश्वरदत्त का पौत्र और गुप्त साम्राज्यान्तर्गत एक राज्यवंश का वंशज था। छह रूपकों (रूपषट्कम् शीर्षक से गायकवाड़ प्राच्य ग्रंथमाला से कर्पूरचरित भाण आदि प्रकाशित) का कर्ता वत्सराज कालंजर के परमर्दिदेव और उसके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव का मंत्री था, जो तेरहवीं सदी में हो गए हैं। प्राकृत मुनिसुव्रतचरित के रचयिता श्रीचन्द्रसूरि (११३७ ई.) प्रवज्या लेने के पहले लाट देश के मंत्री थे और यह बात उनके भाई लक्ष्मणगणि (सुपासनाहचरित ११४३ ई. के रचयिता ने इसी ग्रन्थ के अन्त में कही है। वेदभाष्य का कर्ता सायण और उसका भाई माधव (१४ वीं सदी ईसवी) भी विजयनगर राज्य के मन्त्री थे यह किससे अज्ञात है। ये सब महापण्डित थे और पण्डितों के आश्रयदाता भी। उनकी साहित्यिक कृतियाँ इतनी प्रसिद्ध है कि उनका परिचय कराने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की यह परम्परा ही थी कि श्रेष्ठ पदाधिकारी व्यक्ति अपने युग की संस्कृति के भी नेता होते थे और उनकी यह महत्वाकांक्षा होती थी कि अपने जीवन का कार्य पूर्ण कर वे सब सांसारिक बंधनों को त्याग धर्म-ध्यान करते हुए ही मरे जैसा कि हमारे चरितनायक वस्तुपाल ने भी करने का प्रयत्न किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कल्पित विसंगति कह कर वस्तुपाल को उन ग्रन्थों का रचयिता मानने से इन्कार करना, जिनका वह रचयिता कहा जाता है, हमारे

लिए तब तक उचित नहीं होगा जब तक कि ऐसी शंका के पोषक प्रत्यक्ष या घटनापुरस्सर ठोस प्रमाण हमें प्राप्त नहीं हो जाते हैं जैसे कि अन्यत्र प्राप्त हैं।

---

१. गुर्जरदेश की सांस्कृतिक परम्पराओं का विचार करते हुए, प्रान्त के विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त जो जन्म से और व्यवसाय से विद्याव्यासंगिक होते हैं, गुजरात में प्राग्वाट और श्रीमाल जातियों में भी ऐसे सुसंस्कृत व्यक्ति थे जिन्होंने श्रीमाल की साहित्यिक परंपरा वारसे में पाई थी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वस्तुपाल, जिसमें सुरुचिपूर्ण साथ साथ साहित्यकला भी थी, अपनी ज्ञाति की परंपरा को ही चला रहा था। प्राग्वाट और श्रीमाल इन दोनों ही जातियों में न केवल व्यापारी ही हुए हैं अपितु बड़े बड़े शासक, मन्त्री, स्थापत्य निर्माता, पण्डित और कवि भी। कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे—श्रीपाल, उसका पुत्र सिद्धपाल और उसका पौत्र विजयपाल (देखो पैरा २८-२९), प्राग्वाट थे। कुमारपाल का कवि मन्त्री, दुर्लभराज जिसने सन् ११६० ई० में फलित ज्योतिष का ग्रंथ सामुद्रिकतिलक प्रारंभ किया था, जो प्राग्वाट था (जैसाम', पृ. २३३ आदि)। अलंकारशास्त्री वाग्भट (पैरा ३०) और आषाड, मेघदूत का टीकाकार एवम् उपदेशकन्दली और विवेकमञ्जरी नामक दो प्राकृत प्रकरणों का रचयिता, श्रीमाल जाति का था (पिटरसन, प्रतिवेदना १, पृ ५६; प्रतिवेदन ३, पृ १२ और १००)। जगद्देव, जिसे हेमचन्द्र द्वारा बालकवि का विरुद दिया गया था, एक मन्त्री का पुत्र और जाति का श्रीमाल था (पिटरसन प्रतिवेदना ३ पृ. ६६ आदि)। और भी पीछे के काल में हम जो उदाहरण हैं तो मालवा मांडु का मण्डन नाम का मन्त्री (१४५०) श्रीमाली था और वह विद्या का महान् पोषक होते हुए स्वयम् भी एक अच्छा संस्कृत कवि था। (जैसाम', पृ ४७६ आदि)। गुजरात की और भी अनेक वणिक जातियों जैसे कि धर्कट, मोढ और वायड़ा ने भी संस्कृत साहित्य में देन दी है। प्रत्येक जाति का एक एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। यशश्चन्द्र, मुद्रितकुमुदचन्द्र का लेखक (पृ. ११ टि) धर्कट जाति का था और यशःपाल, मोहराजपराजय (पैरा ३२) का रचयिता, मोढ था। मन्त्री पद्म जिसके अनेक स्तुतियों का कर्ता कहा जाता है, (पैरा १०५) जाति से वायड़ था। और भी अनेक ग्रंथकार हैं जिनका नाम लिया जा सकता है, परन्तु ऊपर के उदाहरण ही यह बताने को पर्याप्त होंगे कि गुजरात के राजकर्ता और व्यापारियों द्वारा लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही की समान भक्ति हुई थी।

पाँचवाँ अध्याय

महामात्य वस्तुपाल का साहित्य-मण्डल

६७. वस्तुपाल की जीवनी और उसकी कारगुजारी का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब उसके साहित्यमण्डल के व्यक्ति विशेषों का परिचय पाना हमारे लिये उचित होगा। इन लोगों के जीवन-सम्बन्धी सामग्री के अनुसार हम देखेंगे कि उनकी वस्तुपाल तक पहुँच कैसे कैसे हुई, उन्होने अपने काव्यों और कृतियो द्वारा उसे कैसे कैसे रंजित किया और उसने भी उन काव्यों और कृतियों के प्रति अपना आदर कैसे प्रकट किया था। हम यह भी देखेंगे कि उनमें से कुछ ने कैसे उसके प्रति अपना आदर प्रकट करनेवाली कविताएँ रचीं और कैसे कुछ कृतियाँ विषय विशेष पर उसकी विशेष जिज्ञासा से रची गईं। उक्त विचारणा में हम यह भी देखेंगे कि इन कवियो और विद्वानों का परस्पर सम्पर्क कैसे होता था और वे परस्पर में कैसे मान दिखाते, सहायता करते और स्पर्धा करते थे। इन लोगों ने निःसंदेह एक मण्डल ही बना लिया था। वे अकस्मात् मिलने-वाले नहीं थे, यह भी हमें इस विवरण से स्पष्ट विदित हो जाएगा। परन्तु यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि हम इनको वस्तुपाल का साहित्यमण्डल क्यों कहते हैं और वाघेलो के दरबार का विद्या-मंडल क्यों नहीं ? यह तो सत्य ही है कि ये विद्वान् वाघेला के राजदरबार में आए थे और इनमें से कुछ जैसे कि हरिहर, नानाक, और अरिसिंह (पैरा ८१, ८७, ९६) को राजा से इनामइकराम भी मिले थे। परन्तु साक्षियो से जैसा कि आगे बताया जाएगा यह प्रमाणित होता है कि इन विद्वानो ने वाघेला राजाओं की प्रशंसा कभी-कभी ही की थी। इससे यह स्वतः स्पष्ट है कि इनका सहारा या आश्रय वस्तुपाल ही था और उसीके द्वारा इनके साहित्यिक प्रयत्न पनपे भी थे। इन्हें वस्तुपाल का विद्या-मंडल कहना हम इसीलिए उचित समझते है। इस मंडल की प्रवृत्तियो का अध्ययन वस्तुपाल युग के सांस्कृतिक जीवन पर भी पूरा-पूरा प्रकाश डालता है और यह मध्ययुगीन गुजरात की साहित्यिक और विद्वत्परम्परा के समझने में भी बहुत उपयोगी है। अब हम इन साहित्यिको का बारी-बारी से विचार करेंगे।

[१] सोमेश्वर

यस्यास्ते मुखपंकजे सुखमृचां वेदः स्मृतीर्वेद च-
स्त्रेता सद्मनि यस्य यस्य रसना सूते च सूक्तामृतम् ।
राजानः श्रियमर्जयन्ति महतीं यत्पूजया गुर्जराः
कर्तुं तस्य गुणस्तुतिं जगति कः सोमेश्वरस्येश्वरः ॥

—वस्तुपाल[1]

६८. सोमेश्वर या सोमेश्वरदेव वस्तुपाल का अन्तरंग मित्र और उनके आश्रित कवियों में प्रधान था। वह गुजरात के चौलुक्य राजाओं का वंशपरंपरागत गुरु था और इसीलिए अणहिलवाड़ और धवलक्क के राजदरबार में उसका बड़ा दबदबा था। जब वस्तुपाल और तेजपाल का शत्रुंजय की यात्रा से लौटते हुए धवलक्क में आगमन हुआ तो वे सोमेश्वर से मिले (देखो ४३), और थोड़े ही काल में ऐसे घनिष्ठ मित्र हो गये कि सोमेश्वर ने उनका परिचय वीरधवल से करा दिया। इसी के बाद कदाचित् दोनों भाइयों की योग्यता को मान्य करते हुए वीरधवल ने उनकी सेवाएँ भीमदेव द्वितीय से माँग लीं। इससे यह भी बहुत संभव लगता है कि वस्तुपाल और सोमेश्वर में, वस्तुपाल की महामात्यगीरी प्रारंभ होने की तारीख याने सन् १२२० ई० पहले ही से परस्पर जान पहचान थी, और मैं यह भी कल्पना करने की यदि जोखम उठाऊँ कि उनकी जान पहचान इससे भी पुरानी थी तो अनुचित नहीं होगा। चौलुक्यों की वंश-परम्परा के गुरु, सोमेश्वर का वस्तुपाल से अणहिलवाड में मिलना पहले कदाचित् हो गया होगा। इन दोनों ने परस्पर जो छाप डाली वह धवलक्क में जाकर दृढ़ मैत्री में विकसित हो गई होगी और यही हिन्दू गुजरात के अन्तिम राजनैतिक और सांस्कृतिक पुनरुद्धार का यथार्थ प्रेरणास्थान समझा जाना चाहिए।

सोमेश्वर और उसके पूर्वज

६९. संस्कृत साहित्य के अनेक रचयिताओं की परम्परा से विरुद्ध सोमेश्वर ने न केवल अपने ही विषय में अपितु अपने पूर्वजों के विषय में भी बहुत कुछ सूचना दी है। अपने सुरथोत्सव महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में जिसका शीर्षक 'कवि प्रशस्ति वर्णन' है, उसने अपने दस पूर्वजों की संक्षिप्त जीवनी दी है और आत्मचरित की भी मुख्य बातें कह दी हैं। सर्ग के इस अंश के सार को देख लेना हमें इसलिये उपयोगी होगा। वहाँ सोमेश्वर ने कहा है :—ब्राह्मणों का

---

१. उल्लाघराघव १. ८ में उद्धृत।

एक शहर है जो नगर[1] कहलाता है। इसमें शास्त्रीय आचार-विचार पूर्णतया पाले जाते थे और वहाँ कलि प्रवेश नहीं कर पाया था क्योंकि वह नगर तीनो पवित्र अग्नियों से अर्थात् गार्हपत्य, आहवानीय और दक्षिणा से पवित्र कर लिया गया था। यथार्थ ही वह एक बड़ा तीर्थस्थान था। वहाँ प्रत्येक जन वेदमन्त्र उच्चारण करता था। शिशु तक भी वहाँ अपवित्र या पापी नहीं थे। ऐसी कल्पना थी कि उस नगर की पवित्रता और सुन्दरता से आकर्षित होकर देवता स्वर्ग का त्याग कर ब्राह्मण रूप से अवतार लेकर इस नगर में बस गये थे। उस नगर के वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मणों में एक गुलेचा[2] नाम का कुल रहता था। उस कुल में सोलशर्मा नाम के एक ब्राह्मण का जन्म हुआ जिसने यज्ञो में सो मद्वारा और प्रयाग में श्राद्ध द्वारा अपने पित्रों को सन्तुष्ट किया था। उसे गुर्जर भूमि के स्वामी मूलराज ने अपना पुरोहित या राजगुरु नियुक्त किया और इसलिए उसने चौलुक्यो में सूर्यवंशियो में वशिष्ठ जितनी ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। इस कलियुग में भी उसने बाजपेय यज्ञ विधिपूर्वक किया था। मैं उसके सुकृत्यों को कहाँ तक वर्णन करूँगा ? इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वह ऋग्वेदविद् था, शतक्रतु था, भूखों को अन्न देता था और इन्द्रियविजयी था। उसका पुत्र लल्लशर्मा था जो मूलराज के पुत्र चामुण्डराय का पुरोहित था। इस लल्लशर्मा का पुत्र था मुंज जो दुर्लभराज का पुरोहित था। उसकी पुरीहिती में संसार का कोई पदार्थ दुर्लभराज को अप्राप्य नहीं था। उसका पुत्र सोम था[3] जिसके पुण्य से राजा को सर्वत्र विजय प्राप्त होती थी। सोम का पुत्र आमशर्मा था जिसने छह प्रकार के ज्योतिष्टोम यज्ञ किये और यज्ञसम्राट् की उपाधि या विरुद प्राप्त किया[4]। वह राजा कर्ण का पुरोहित था

---

१. वड़नगर (प्राचीन आनन्दपुर) का संक्षिप्त नाम कि जिससे गुजरात के बड़नगरा नागर ब्राह्मणों का नाम पड़ा है।

२ आज भी नागरों में विवाहविधि के समय गोत्रोच्चार में गुलेचा गोत्र आता है; देखो ध्रुव, दिग्दर्शन। (गुजराती), (पृ. १८ टि)।

३. यह वही सोम या सोमेश्वर होना चाहिये कि जो सुविहित जैन साधुओं के अणहिलवाड़ प्रवेश कराने में सहायक हुआ था (देखो पीछे पैरा ३७)।

४. यह द्रष्टव्य है कि मध्ययुगीन गुजरात में वैदिक यज्ञ हो ते थे इतना ही नहीं अपितु न उनका बहुल मात्रा में प्रचार था। यह परम्परा कम से कम चौदहवीं शती ईसवी के प्रारम्भ तक तो चलती ही रही थी जब कि मुसलमानों ने अण-हिलवाड़ पर अधिकार किया था। चन्डु पण्डित (१२९७ ई०), धवलक

कि जो सिद्धराज जयसिंह का पिता था। जो धन उसे चौलुक्य राजाओं से प्राप्त हुआ वह सब उसने शिव मन्दिर बनवाने, सुन्दर स्थलों में दुर्गसिंह तालाब खुदवाने और गरीबों को दान देने में खर्च कर दिया। एक बार कर्ण ने धारा के राज्य पर अभियान किया। यह समझ कर कि मालवा की सेना युद्ध में हारती जा रही है, धारा के पुरोहित ने कृत्या नाम की राक्षसी उत्पन्न की। परन्तु आम-शर्मन् ने अपने मन्त्र बल से न केवल राजा की ही रक्षा की अपितु कृत्या को भी पराजित किया जो अपने स्रष्टा को ही नष्ट कर विलुप्त हो गई। इस आमशर्मन् का पुत्र था कुमार जो सिद्धराज जयसिंह का पुरोहित था। उनके आशीर्वादों की कृपा से सिद्धराज ने सिन्धु देश के राजा को बन्दी बना लिया, मालवा के राजा उसके रनिवास सहित कैद कर लिया और उद्धत सपादलक्षाधिपति को [illegible] नमाना सिखा दिया। चक्रवर्ती के इस पुरोहित ने अनेक यज्ञ किये और तालाब खुदवाये। इस कुमार का पुत्र था सर्वदेव जो मनुस्मृति में परम निष्णात था। अपने पूर्वजों की परम्परा को पालते हुए उसने भी यज्ञ किये दान देकर [illegible]

निवासी और नैषधचरित का टीकाकार, ने द्वादशाह और अग्निचयन जैसे यज्ञ किये थे। वाजपेय और बृहस्पतिसव यज्ञ करके उसने सम्राट् और स्थपति के विरुद् प्राप्त किये थे —

यो वाजपेययजनेन बभूव सम्राट् कृत्वा बृहस्पतिसवं स्थपतिस्तथापि।
यो द्वादशाह(ज)नेऽग्निचिदप्यभूत् सः श्रीचण्डुपण्डित इमां वितनोति टीकाम्।

उसने अनेक सोमसत्र भी किये थे। चण्डु अनेक सूत्रों से बहुधा उद्धृत करनेवाला संस्कृत काव्यों का टीकाकार है (हण्डिकी-नैषधीयचरित, अनुवाद, प्रस्ता. पृ ३)। इससे पता चलता है कि गुजरात में और विशेषतया पत्तननगर और धवलक से आये ब्राह्मणों में वैदिक ज्ञान का विशेष प्रचार था। धवलक जो कि वस्तुपाल की प्रवृत्तियों का स्थान था, न केवल राजनैतिक अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से भी गुजरात का दूसरा पाटनगर हो गया था। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि तत्त्वोपप्लवसिंह, जयराशि भट्ट का (प्राय. ५-८ वीं सदी ईसवी) जो लोकायत दर्शन का एक अभूतपूर्व ग्रन्थ है, की धवलक में सन् १२९२ ई. में प्रतिलिपि की गई थी। यह भी प्रमाणित करता है कि हेतुवाद बघेलों के राज्य काल में इस नगर में शिक्षा का अत्यन्त प्रिय विषय था, यही नहीं अपितु चार्वाक जैसे प्रायः तिरस्कृत दर्शन के सिद्धान्तों के अध्ययन की भी उपेक्षा यहाँ नहीं की जाती थी (र. छो. परीख, तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रस्ता. पृ. १ आ)।

को सन्तुष्ट किया। परन्तु स्वयं अपना हाथ दान के लिए कभी किसी के सामने उसने नहीं फैलाया। इस सर्वदेव का पुत्र था आमिग जो वेद पारंगत था। उसे सिर्फ दो ही बातें लज्जास्पद थी, एक तो बड़ों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनना और दूसरा संसाररूपी कारागार में निवास करना। उसके सृष्टि रचयिता ब्रह्मा के चार वेदो के समान चार पुत्र थे। सबसे बड़ा सर्वदेव था। वह बड़ा पण्डित था। अन्य तीन के नाम थे कुमार, मुञ्ज और आहड़। सर्वदेव ने राजा कुमारपाल की अस्थियो को पवित्र गंगा में विसर्जन किया था और गया एवं प्रयाग के ब्राह्मणों को दान दक्षिणा से सन्तुष्ट किया था। उसने अनेक स्थानो पर तालाब खुदवाये थे। वह प्रतिदिन शिव की पूजा करता था। प्रत्येक ब्राह्मण का स्वागत करता था और इसलिये उसकी प्रत्येक घर में प्रशंसा होती थी। उसका भाई कुमार लोभरहित था। एक दिन सूर्यग्रहण के समय गुजरात के नाथ ने जो कि कुमारपाल का पुत्र[1] था, उसे अनेक रत्नादि दान देना चाहा, परन्तु अति विनती करने पर भी उसने रत्नों का वह दान स्वीकार नही किया। कटुकेश्वर महादेव का पूजन करते हुए उसने अजयपाल के घातक घावो को अच्छा किया कि जो उसे युद्ध में लगे थे। दुष्काल के समय जब कि प्रजा भूख से कंकालवत् क्षीण हो गई थी, उसने मूलराज द्वितीय से लगान माफ करवा दिये। राष्ट्रकूट वंशी प्रताप-मल्ल ने उसे अपना सलाहकार बनाया था। एक बार चौलुक्य राजा ने उसे अपना सेनाधिपति नियुक्त किया और तब उसने अपने शत्रुओं को पराजित कर अपने सेनाधिपति के चुनाव को परम योग्य प्रमाणित कर दिया। एक बार धाराधि-पति यशोभद्र के पुत्र विंध्यराज से युद्ध हुआ। न केवल उसने विंध्य को रण से भगा ही दिया अपितु उसकी राजधानी गोगस्थान को भूमिसात कर उसके महल के स्थान में एक कुँआ ही खुदवा दिया। मालवा से उसे विपुल धन प्राप्त हुआ और जब वह गया में श्राद्ध के लिए गया तो वह सब धन उसने वहाँ दान कर दिया। कुमार ने अजेय म्लेच्छराज की सेना को भी राज्ञीसर या रानीसर के आसपास हराया और पितरों को पावन गंगा के जल से अन्तिम क्रिया करके संतुष्ट किया। वह ब्राह्मणों के छहों कर्मों में निष्णात था और सदा पवित्र गायत्री मन्त्र

---

१. क्योंकि कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था, हम 'कुमारपालस्य सुतेन राज्ञा–श्लो. ३१' के शब्द सुत का अर्थ उसका उत्तराधिकारी समझते हैं। यह अर्थ करने में हम कुछ भी अनुचित नहीं करते हैं क्योंकि इसी के पश्चात् कुमारपाल का उत्तराधिकारी, अजयपाल के नाम से स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है (श्लो. ३२)।

'भूर्भुवः स्वः' का जाप करता था। यज्ञ करते समय उसने अपने शास्त्रनिष्णात होने और युद्ध में लड़ कर शस्त्रनिपुण होने का परिचय दिया था। वह सदा अपने शरीर पर ब्रह्मसूत्र या यज्ञोपवीत पहनता था। हृदय में उसके राजसूत्र था, अर्थात् वह निरन्तर राज्य और राजा के क्षेम कुशल का ही ध्यान रखता था। कुमार के लक्ष्मी नामा सतीसाध्वी पत्नी थी जो लक्ष्मी के समान ही सुन्दर थी। उसने तीन पुत्रों को जन्म दिया। उनके नाम ये महादेव, सोमेश्वरदेव और विजय[1]।

७०. इस प्रकार सोमेश्वरदेव कुमार और लक्ष्मी का पुत्र था। उसके दो भाई थे। बड़े का नाम महादेव और छोटे का नाम विजय था। उसने अपने पूर्वजों का मूलराज के काल से प्रारम्भ कर २५० वर्ष की लम्बी अवधि का इतिहास दे दिया है। इस वर्णन से स्पष्ट विदित होता है कि सोमेश्वर का जन्म गुजरात के एक प्रख्यात, विद्वत् और ऐश्वर्यशाली ब्राह्मण कुल में हुआ था। यह वंश वड़नगर का था। राजा के बड़े पुरोहित का पद सम्हालते हुए इस वंश के कुछ सदस्य जैसे कि सोमेश्वरदेव का पिता कुमार युद्ध और सेनासंचालन भी सफलतापूर्वक कर सकते थे। मुनिचन्द्रसूरि (११९९ ई.) के अममचरित्र के आधार से यह कहा जा सकता है कि यह गुजरात राज्य का 'नृपाक्षपटलाध्यक्ष' भी कुछ काल तक रहा था और उसने उसका यह ग्रन्थ उसके प्रार्थना करने पर संशोधन एवं शुद्ध भी किया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि प्राचीन भारत में राजपुरोहित के विभिन्न कार्यों का जब हम विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि वे न केवल धर्मशास्त्रनिष्णात ही होते थे अपितु दण्डनीति में भी। और कितनी ही बार तो उन्हें दीवानी और फौजी शासन भी चलाना पड़ता था। हम ऊपर देख ही आये हैं कि सोमेश्वर के पूर्वजों में वैदिक ज्ञान और क्रियाकाण्ड अत्यन्त सम्मानित थे और कोई-कोई तो उनमें निःसन्देह ही महापण्डित थे। फिर भी यहाँ यह कह देना उचित है कि सोमेश्वर ने यद्यपि अपने पूर्वजों के विषय में बड़ा ही रोचक विवरण दिया है, फिर भी उनके साहित्यिक कार्यों के विषय में उसने कुछ भी नहीं कहा है और न यही कि उन्होंने कभी कुछ लिखा भी था या नहीं।

सोमेश्वर की साहित्यिक रचनाएँ

७१. अपने पूर्वजों की प्रशंसा करने के पश्चात् सोमेश्वर ने सुरथोत्सव में अपने सम्बन्ध में भी कुछ बातें कह दी हैं। उसने लिखा है कि उसके समसामयिक

---

१. सुरथोत्सव, १५, १—४३।

हरिहर और सुभट उसके काव्यों को सराहा करते थे[1]। नूतन पदपाक युक्त काव्य और एक नाटक अर्ध-याम में अर्थात् डेढ़ घंटे में रच कर उसने भीमदेव के दरबारियों को बहुत ही प्रसन्न किया था[2]। अपनी काव्यकला की और वस्तुपाल के काव्य एवं दानशीलता की कुछ श्लोकों में प्रशंसा करने के पश्चात् (श्लोक ४८–६६) वह सर्ग समाप्त कर देता है जिससे यह प्रकट होता है कि सुरथोत्सव की रचना के पूर्व रचयिता और उसके आश्रयदाता दोनों खूब गाढ़े मित्र थे।

७२. मारकण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य पर आधारित 'सुरथोत्सव' के अतिरिक्त भी सोमेश्वर ने ग्रन्थ रचे हैं। कीर्तिकौमुदी वस्तुपाल के गौरवपूर्ण कृत्यों का प्रशंसात्मक महाकाव्य है और इसलिए समकालिक इतिहास एवं समाज के अध्ययन में वह बड़े ही महत्त्व का है। उसने रामायण की कथा को नाटक का रूप देनेवाला 'उल्लाघराघव'[3] नामक एक नाटक भी लिखा था। यह नाटक प्रबोधिनी एकादशी[4] के दिन द्वारका में खेला गया था। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि जिस नाटक से सोमदेव ने भीमदेव द्वितीय के दरबार का मनोरंजन किया था, वह उल्लाघराघव नाटक ही था या अन्य। यह नाटक,

---

१. श्रीसोमेश्वरदेवकवेरवेत्य लोकम्पृणं गुणग्रामम्।
हरिहरसुभटप्रभृतिभिरभिहितमेवं कविप्रवरैः॥

+　　+　　+

वाग्देवतावसन्तस्य कवेः श्रीसोमशर्मणः।
धुनोति विबुधान् सूक्तिः साहित्याम्भोनिधेः सुधा॥
तव वक्त्रं शतरत्नं सद्वर्णं सर्वशास्त्रसम्पूर्णम्।
अवतु निजं पुस्तकमिव सोमेश्वरदेव वाग्देवी॥
—वही, १५. ४४ और ४६–४७।

२. काव्येन नव्यपदपाकरसास्पदेन यामार्धमात्रघटितेन च नाटकेन।
श्रीभीमभूमिपतिसंसदि सभ्यलोकमस्तोकसंमदवशंवदमादधे यः॥
—वही, १५ ४१।

३. अस्त्येवं वशिष्ठान्वयसंभूतेश्चौलुक्यचक्रवर्तिवन्दितचरणारविन्दस्य श्रीसोमेश्वरदेवस्य कृतिर्नवमुल्लाघराघवं नाम नाटकम्। —वही, प्रोलोग

४. तदस्य भगवतः श्रीद्वारिकालंकारनीलमणेः श्रीकृष्णदेवस्य पुरतः श्रीप्रबोधैकादशीपर्वणि सर्वदिगागतानां सामाजिकजनानां जनकसुतापतिचरिताभिनयदानेन कृतार्थयामि संसारकदर्थितमात्मानम्। वही, प्रोलोग।

जैसा कि उसी में कहा गया है, कवि के पुत्र मल्लशर्मन्[1] की प्रार्थना पर लिखा और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, खेला गया था। परन्तु इसमें सुरथोत्सव के अन्तिम सर्ग में कहा हुआ नाटक भी यही था इस सम्भावना को हम छोड़ नहीं सकते हैं।

७३. इनके अतिरिक्त सोमेश्वर ने कर्णामृतप्रपा[2] नाम से सुभाषित-संग्रह की रचना की है। किसी भी विद्वान् ने इस संग्रह की ओर अब तक कोई भी ध्यान नहीं दिया है। राम की स्तुति में लिखा १०० श्लोकों का रामशतक[3] भी सोमेश्वर की ही कृति है। इसकी प्रतियों की उपलब्ध संख्या और एकनाथ एवं एक अन्य अज्ञात नाम लेखक की लिखी इन दो टीकाओं से भी इसके एक समय लोकप्रिय होने का पता लग सकता है[4]। सोमेश्वर की लिखी आबू प्रशस्ति[5] की तिथि है वि सं १२८७ = सन् १२३१ ई० जब कि मंदिर में नेमिनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी। वस्तुपाल के गिरनार के लेखों में से दो लेखों के श्लोकांश भी सोमेश्वर रचित हैं[6]। उसकी वैद्यनाथप्रशस्ति दर्भावती के वैद्यनाथ मंदिर के राजा वीसलदेव द्वारा कराए जीर्णोद्धार के स्मारक[7] की तिथि वि. सं. १३११-१२५५ ई. है जो यह

---

१ तदंगजः स्वांगजमल्लशर्मप्रयुक्तया प्रार्थनया प्रणुन्नः ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा रामायणं नाटकरूपमेतत् ।

वही, अन्तिम श्लोक ।

२. कष्टा नद्यपि निविश्य रसांस्तेष्वपि नीरसः ।
धीकुम्भ स्थितो भूते पिपासुर्नवमं रसम् ॥ —कर्णामृतप्रपा, श्लोक ४ ।
संसारस्थलदुःस्थानां प्राणिनां प्रीतिहेतवे ।
श्रीसोमेश्वरदेवेन कृता कर्णामृतप्रपा ॥ — वही, २१७ ।

३. विश्वम्भरामण्डलमण्डनस्य श्रीरामभद्रस्य यशः प्रशस्तम् ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा रामार्धनिष्पन्नमहाप्रबन्ध ॥

—रामशतकम्, श्लोक १०१ ।

४. भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना में रखे हुए सरकारी संग्रह में पाँच प्रतियाँ रामशतकम् की सुरक्षित हैं। एक अज्ञात नाम टीकाकार की टीका की प्रति मुझे मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह में प्राप्त हुई थी।

५. प्राजैलेस, सं. ६५; गुऐले, सं. २०६ ।

६. प्राजैलेस, सं. ३८-१ और ४०-२ ; गुऐले; सं. २०७ और २०८; प्राछेसा, स १६८ व १७० ।

७. एइं, भा. १, पृ. २० आदि; गुऐले, सं. २१५ ।

बताती है कि सोमेश्वर वस्तुपाल के निधन के १६ वर्ष बाद तक तो जीवित ही था। यह वैद्यनाथ प्रशस्ति उसकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है। एक और प्रशस्ति भी सोमेश्वर की लिखी कही जाती है परन्तु उसका कहीं भी कोई पता आज नहीं मिलता है। यह धवलक के राजा वीरधवल के बनवाए हुए वीरनारायणप्रसाद की प्रशस्ति थी[1] और उसके श्लोक १०८ थे। उक्त स्मारक के नाम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह विष्णु या नारायण का मंदिर था। न तो इस मंदिर के और न वस्तुपाल के निर्मित अन्य किसी भवन आदि के कोई भी भग्नावशेष धोलका में आज प्राप्त हैं। विभिन्न विषयों पर उसकी अनेक रचनाओं से ऐसा मालूम पड़ता है कि सोमेश्वर उदार विचारों का व्यक्ति था। वह यद्यपि पक्का शैव और शाक्त था एवं वेदों में निष्णात था, फिर भी उसने राम की प्रशंसा करने वाली कविताएँ और नाटक ही नहीं अपितु जैनमंदिरों की प्रशस्तियाँ भी लिखी थीं।

काव्यादर्श का सोमेश्वर अन्य था

७४. कुछ विद्वानों ने इस सोमेश्वर को और काव्यप्रकाश के टीकाकार अर्थात् काव्यादर्श नाम की टीका के रचयिता सोमेश्वर को एक ही बताया है[2]। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि काव्यादर्श का लेखक भरद्वाज गोत्र के देवक का[3] पुत्र था जब कि हमारा यह सोमेश्वर वशिष्ठ गोत्रीय कुमार का पुत्र था। इसलिए दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं।

सोमेश्वर के ग्रन्थों का तिथिक्रम

७५. शिलालेखों के अतिरिक्त सोमेश्वर की और किसी भी रचना में कोई तिथि नहीं दी गई है। परन्तु उनके आन्तरिक परीक्षण से कुछ कृतियों की तिथि की ऊँची से ऊँची और नीची से नीची सीमाएँ अवश्य ही निश्चित की जा सकती है। सुरथोत्सव और कीर्ति-कौमुदी की तुलना करने पर दोनो काव्यों की

---

१. प्रका, पृ. ५६।

२. पिटरसन, प्रतिवेदना ५, पृ. ८४; केके, भा. १, पृ. १०२ और ७३७। सुरथोत्सव, प्रस्तावना, पृ. १० भी देखो।

३. भरद्वाजकुलोत्तंसभट्टदेवकसूनुना।

सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा॥ जैभंसू, प्रस्तावना, पृ. ६२ टि।

यह सोमेश्वर बारहवीं सदी में या उसके पहले हुआ होगा क्योंकि जैसलमेर के भण्डार में जो उसके ग्रन्थ की प्रति है उसकी तिथि है वि. सं. १२८३= सन् १२२७ ई० (वही पृ. ४३)।

शैली में बड़ा अन्तर प्रकट होता है। पहली की कमोवेश वह गौड़ी शैली है कि जो कृत्रिम, अस्पष्ट और थकाने वाली तुकों से भरी है जब कि दूसरी की वह वैदर्भी शैली है जिसमें स्पष्टता प्रत्यक्ष है और जो यह विश्वास दिलाती है कि लेखक का आदर्श कालिदास रहा था। इन शैलीभेद को कोई भी विश्वास के साथ काल पौर्वापर्य का चिह्न नहीं स्वीकार कर सकता है। यह तो इस विश्वास की ओर झुकाता भर है कि गौड़ी शैली का ग्रन्थ ही कदाचित् पहले रचा गया होगा। यह अनुमान दोनों काव्यों के विषय से भी समर्थित होता है। सुरथोत्सव काव्य भीमदेव द्वितीय के राजनैतिक दुर्भाग्य का और अणहिलवाड़ पर उसकी सत्ता के पुनर्स्थापन का रूपक हो सकता है। सन् १२२४ ई. के एक दान-पत्र से हम यह जान जाते हैं कि उस समय तक जयन्तसिंह ने अणहिलवाड़ की गद्दी हड़प ली थी (पैरा ४८)। अतः भीम को कहीं अन्यत्र शरण लेनी पड़ी और वह १२२५ या १२२६ ई. या यों कहिए कि १२२७ ई. पूर्व ही (देखो गुमराइ, भा. २, पृ. ३५६) लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल की सभी सेवाओं के फलस्वरूप उस अपहृत गद्दी को फिर से प्राप्त कर सका था। सुरथोत्सव में पौराणिक राजा सुरथ (पैरा १६६–१७१) के ऐसे ही दुर्भाग्य की और सत्ता की पुनःप्राप्ति की कथा है और बहुत संभव है कि सोमेश्वर ने इस काव्य का विषय सुरथ की कथा समकालिक घटनाओं के आश्चर्यजनक साम्य के कारण ही चुनी हो और उसने भीमदेव की सत्ता के पुनर्स्थापन की स्मृति कायम रखने को ही सन् १२२७ ई. के लगभग ही उसकी रचना की हो। कीर्ति-कौमुदी (६. ३१) में वस्तुपाल के जीवन की घटनाएँ वर्णित हैं और उनमें शत्रुंजय पर उसके बनाए मंदिर की घटना भी है। कार्यवटे (कीर्ति-कौमुदी, प्रस्तावना, पृ. १७) के अनुसार वह सन् १२३२ ई. के बाद की रचना है। कर्णामृतप्रपा और रामशतक के रचना काल के विषय में निश्चयात्मक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उनकी शैली में हुए सुधार के आधार पर मैं यह कहना चाहूँगा कि ये दोनों ही सुरथोत्सव के बाद की ही रचना होनी चाहिए।

सोमेश्वर की सूक्तियाँ

७६. प्रबन्धों में कितने ही सदर्भ और कथानक दिए गए हैं कि जो वस्तुपाल और सोमेश्वर से सम्बन्धित हैं। इन सबको सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनके सूक्ष्म परीक्षण से हमें पता चलता है कि उनका कुछ ऐतिहासिक आधार अवश्य ही है। मैं कुछ उल्लेख एकत्रित कर रहा हूँ और उनमें से मुख्य और दिलचस्प पाठकों के विचार के लिए यहाँ देता हूँ।

एक दिन वर्षा ऋतु में वस्तुपाल और सोमेश्वर स्तम्भतीर्थ गए। उस समय एक जहाज पर से विदेश[1] से आयत किए हुए घोड़े उतारे जा रहे थे। वस्तुपाल ने घोड़ो को देखा और सोमेश्वर को यह समस्या पूर्ति करने को दी—

प्रावृट्काले पयोराशिः कथं गर्जितवर्जितः।

समस्या पूर्ति करते हुए सोमेश्वर ने तुरत ही कहा—

अन्तःसुप्तजगन्नाथनिद्राभंगभयादिव ॥

फलस्वरूप उसे पारितोषिक में १६ घोड़े दे दिए गए।[2]

एक समय सारा साहित्यमण्डल एकत्र हुआ था और उसमें वस्तुपाल एवं तेजपाल भी उपस्थित थे। एक समस्या तब दी गई काकः किं वा क्रमेलकः। सोमेश्वर ने तुरत एक श्लोक रचा जिससे प्रत्यक्ष असम्बद्ध अर्थ पूर्ण बन गए। वह श्लोक इस प्रकार है—

येनागच्छन्समाख्यातो येनानीतश्च मे पतिः।
प्रथमः सखि कः पूज्यः काकः किं वा क्रमेलकः ॥

इस आशुकविता से अति प्रसन्न होकर वस्तुपाल ने सोमेश्वर को सोलह हजार द्रम्म का पारितोषिक दिया।[3]

एकदा वस्तुपाल के भवन पर सोमेश्वर पधारे। उन्हें एक आसन बैठने को दिया गया परन्तु वे उस पर नहीं बैठे। कारण पूछने पर उसने नीचे लिखा श्लोक कह सुनाया :—

अन्नदानैः पयःपानैर्धर्मस्थानैश्च भूतलम्।
यशसा वस्तुपालेन रुद्धमाकाशमण्डलम् ॥

श्लोक सुनकर मंत्रीश्वर ने नौ हजार द्रम्म भेट किए[4]।

शत्रुंजय की किसी संघयात्रा मे मंत्रीराज जिन पूजा कर रहे थे। याचकगण एक साथ उनकी ओर दौड़े। उस समूह को देखकर सोमेश्वर ने कहा—

---

१. यह सुप्रसिद्ध है कि ऊँची जाति के घोड़े अरब जैसे विदेशों से भारतवर्ष में आयात किए जाते थे (बुप्र, भा. १०, पृ. १६५ आ)। तटवर्ती नगरों में अरब व्यापारियों के उपनिवेश थे। सादिक या सैयद उन्हीं में से एक प्रख्यात और धनी व्यापारी था (देखो पैरा ५१ पीछे)।

२. प्रको, पृ. १२१; वच, न. २७७-८४। ३. वही।

४. प्रचिं, पृ. १०४; उत, पृ. ७६।

इच्छासिद्धिसमुन्नते सुरगणे कल्पद्रुमैः स्थीयते
पाताले पवमानभोजनजने कष्टं प्रणष्टो बलिः ।
नीरागानगमन्मुनीन् सुरभयश्चिन्तामणिः काप्यगात्
तस्मादर्थिकदर्थनां विपहतां श्रीवस्तुपालः चिरं ॥

प्रबन्धों में कहा गया है कि इस श्लोक पर सोमेश्वर को भारी धनराशि[1] मिली।

जब वस्तुपाल शंख को पराजित कर अभियान से लौटा तो सोमेश्वर ने उसका इस श्लोक द्वारा स्वागत किया—

श्रीवस्तुपाल प्रतिपक्षकाल त्वया प्रपेदे पुरुषोत्तमत्वम् ।
तीरेऽपि वार्द्धेरकृतेऽपि मात्स्ये दूरं पराजीयत येन शंखः ॥[2]

७७. इन उदाहरणों के अतिरिक्त भी प्रबन्धों में सोमेश्वर के अवसर विशेष पर पूर्व तैयारी बिना ही कहे हुए अनेक श्लोक उद्धृत हैं। घुघुल को हरा कर लौटे तेजपाल की प्रशंसा में, वस्तुपाल द्वारा पालीताना में बनाए और अपनी स्त्री के नाम पर नामांकित किए तालाब का सुंदर वर्णन[3], शत्रुंजय की संघयात्रा के समय वस्तुपाल की प्रशंसा में कहे श्लोक[4], [illegible] के अनन्तर वीरधवल के दरबार में की गई प्रशस्ति[5] ऐसी कविता के कतिपय उदाहरण हैं। जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि में सोमेश्वरदेव के चार श्लोक दिए हैं[6]। हम यह भी जानते हैं कि इस नाम के एक से अधिक कवि भी हुए हैं[8] और इसलिए निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त चार सूक्तियों का रचयिता प्रस्तुत सोमेश्वर है। परन्तु जब यह बात विचार में लेते हैं कि सूक्तिमुक्तावलि में गुजरात के अन्य कवि जैसे कि हेमचन्द्र, सोमप्रभ, श्रीपाल, वस्तुपाल, वाग्भट्ट, विजयपाल, प्रह्लादन, दुर्लभराज, देवबोधि या देवबोध,[9]

---

१. प्रको, पृ. ११६; उत, पृ. ७४ ।

२ पुप्रसं, पृ ७४ । ३. पुप्रसं, पृ. ६६; वच; ३. ४२८-३३ ।

४. वही, पृ. ७२; प्रचि, पृ. १०२; वच, ६. ५१७; उत, पृ. ३१ ।

५ वच, ६. ८३; उत, पृ. ७५ । ६. वच, ३. ४६४-६८ ।

७ इन्द्राभ्यनर्थपा०, यथावद्दनात्०, वनभुवि०, याचं यस्मन्द० ।

८. कृष्णमाचारियर, क्लैसीकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ११०८-९ ।

९ प्रभावकचरित अध्याय २१ में कहा गया है कि देवबोध सिद्धराज के राज्य-काल में अणहिलवाड में आया था और तब कवि श्रीपाल के झगड़े में पड़ गया था। वह भागवत सम्प्रदाय का आचार्य था। देवबोध और श्रीपाल दोनों

कुमुदचन्द्र, अरसी ठक्कुर अथवा अरिसिंह की और जयसिंह सिद्धराज की भी दो सूक्तियाँ हैं तो यह बहुत ही सम्भव प्रतीत होता है कि उद्धृत सूक्तियाँ दूसरे किसी की नहीं अपितु हमारे इसी सोमेश्वर की हैं और यह सम्भावना इस बात से और भी दृढ़ हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि रचयिता सोमेश्वरदेव नाम से उसी प्रकार अपना परिचय कराता है जैसा कि सूक्तिमुक्तावलि के संकलनकार ने कराया है। फिर सूक्तिमुक्तावलि में वैद्यनाथप्रशस्ति[1] के दो श्लोक भी उद्धृत हैं, जो निश्चय ही सोमेश्वर के हैं। संग्रहों या चयनिकाओं में शिलालेखों से उद्धरण क्वचित ही दिए जाते हैं और जब वैद्यनाथ प्रशस्ति के श्लोक हमें उसमें उद्धृत मिलते हैं तो यह विश्वास हो जाता है कि इसे उच्चकोटि का साहित्य ही माना जाता था[2]। यह भी द्रष्टव्य है कि कीर्तिकौमुदी का एक श्लोक (७.७६ निगदितुं विधिनापि०) भी १५ वीं शदी ईसवी के वसन्तविलास नामक प्राचीन गुजराती के फागु में स्थान पा गया है।

वस्तुपाल के निधनोपरान्त सोमेश्वर ने व्यासविद्या त्याग दी

७८ वस्तुपाल की प्रशंसा में ऊपर कथित सूक्तियों से सोमेश्वर की उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम प्रकट होता है। वस्तुपाल ने भी उतने ही स्पष्ट शब्दों में सोमेश्वर के काव्यगुण, पाण्डित्य और उच्च पद के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं (पैरा ६८ के प्रारम्भ में उद्धृत श्लोक देखो)। प्रबन्धों के अनुसार सोमेश्वर ने ही वस्तुपाल की वीसलदेव के क्रोध से दो बार रक्षा की थी (देखो पैरा ५४)। जब वीसलदेव वस्तुपाल और तेजपाल को उनके किये हुए उपकारों के बावजूद भी, त्रास दे रहा था, तब सोमेश्वर ने राजा की अकृतज्ञतादर्शक एक श्लोक[3]

ही सिद्धराज के कृपापात्र थे। परन्तु उनके आपसी सम्बन्ध कम से कम मैत्री के नहीं थे (र. वो. परीख, काव्यानुशासन, परिचय, पृ २५५ आदि)।

१. सिन्दूरं सीमन्तात्०, और यद्येतत्त्रयवह्नि० । प्रशस्ति का पाठ जिस शिला पर वह खुदी है, उस शिला के ध्वंसावस्था में प्राप्त होने से बहुत ही नष्टभ्रष्ट हो गया है, इसलिए ये श्लोक बराबर पढ़े नहीं जा सके हैं।

२. सूक्तिमुक्तावलि में उद्धृत दूसरा श्लोक सोमनाथप्रशस्ति लेख का है। यह लेख सम्भवतया गुजरात ही का है। सोमनाथ मन्दिर से सम्बन्धित किसी भी उपलब्ध शिलालेख में (सन्ध्याताण्डव० आदि) नहीं मिलता है। इससे अनुमान होता है कि यह इसी मन्दिर की किसी प्राचीन प्रशस्ति का है क्योंकि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार अधिक बार हो चुका है।

३. प्रको, पृ. १२६; वच, ३. ३२२; वितीक, पृ. ८०।

तुरन्त ही रचा और उसे सुनकर राजा बड़ा ही लज्जित हुआ। प्रबन्ध में कहा गया है कि वस्तुपाल के निधन के पश्चात् सोमेश्वर ने उनके वियोग से अतीव दुःखित होकर व्यासविद्या का ही त्याग कर दिया था और राजा के प्रार्थना करने पर भी वह पुराणकथा कहने को फिर तैयार नहीं हुआ। तब राजा ने उसके स्थान पर गणपति व्यास को नियुक्त कर दिया[1]। इस कथन में भी कुछ सचाई है क्योंकि हम सन् १२७२ ई० में नानाक की दूसरी प्रशस्ति गणपति व्यास की लिखी हुई ही पाते हैं और इसमें उसने अपने को वीसलदेव की मालवा विजय की स्मृति में लिखे गये धाराध्वंस नामक काव्य का रचयिता उल्लिखित किया है[2]। इससे यह स्पष्ट है कि वीसलदेव का राजकवि गणपति व्यास ही गया था।

७९. हमें सोमेश्वर की निधन की तिथि का उसी प्रकार कोई पता नहीं है कि जिस प्रकार उसकी जन्म तिथि का। वह वैद्यनाथ प्रशस्ति की तिथि सन् १२५५ ई० तक तो जीवित ही था।

(२) हरिहर

मुधा मधु मुधा सीधु मुधा कोऽपि सुधारसः।
आस्वादितं मनोहारि यदि हारिहरं वचः॥—वस्तुपाल[3]

स्ववाक्पाकेन यो वाचां पाकं शास्त्यपरान् कवीन्।
कथं हरिहरः सोऽभूत् कवीनां पाकशासनः॥—सोमेश्वर[4]

८०. उस युग की साहित्यिक प्रमुख विभूतियों में से एक हरिहर भी था इसीलिये तो राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में एक पूरा प्रबन्ध ही उन पर लिखा है और वस्तुपाल भी उसकी कविताओं के प्रति उच्च श्रद्धा रखता था। प्रबन्धकोश के अनुसार[5] हरिहर नैषधचरित के कर्ता श्रीहर्ष (लगभग ११७४ ई०)[6] का ही वंशज था। हरिहर नैषध की प्रतिलिपि गुजरात में लाने वाला था और वस्तुपाल की ही प्रेरणा से उस ग्रन्थ का खूब प्रचार प्रान्त में हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस पर प्राचीनतम टीकाएँ भी गुजरात में ही लिखी गई हैं।

---

१. पुप्रसं, पृ. ८०। २. गुऐले. न २१६ श्लो. १८।

३. प्रको, पृ. ५८ में उद्धृत। ४ कीकौ, १. २५।

५. प्रको, पृ. ५८ आ।

६. पण्डित शिवदत्त, नैषधीयचरित, प्रस्ता पृ. ९–१२; कृष्णमाचारियर, क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. १७३–७८।

हरिहर का प्रबन्धकोषगत वृत्तान्त

८१. प्रबन्धकोष में कहा गया है कि हरिहर एक धनाढ्य व्यक्ति था और गुजरात में ५० ऊँटों २०० घोड़ों और ५०० पदाति के साथ गौड़ देश से आया था। मार्ग में उसने खूब उदार मन से भूखों को भोजन खिलाया। जब वह धवलक्क की सीमा में पहुँचा तो उसने अपने आने की सूचना दरबार में देने और वीरधवल, वस्तुपाल और सोमेश्वर को अपना आशीर्वाद पहुँचाने के लिए एक बटु पहले भेजा। सूचना पाकर वस्तुपाल और वीरधवल यह जानकर बड़े ही प्रसन्न हुए कि उनके नगर में ऐसा महान् विद्वान् आ रहा है। उन्होंने दूसरे दिन खूब धूमधाम से उसका नगर में प्रवेश कराने का निश्चय किया। परन्तु सोमेश्वर को ईर्ष्या हो उठी और उसने संवादवाहक से बातचीत करने का सौजन्य भी नहीं दिखाया। दूसरे दिन हरिहर का राजा और मन्त्रियों द्वारा बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ और वह एक राजमहल में ठहराया गया। उस दिन से वह प्रति दिन दरबार में आता और साहित्य-गोष्ठियो में भाग भी लेता था। एक बार वीरधवल ने हरिहर से उसके बनवाये वीरनारायणप्रासाद की सोमेश्वरकृत प्रशस्ति के १०८ श्लोकों के काव्यगुण की परीक्षा करने को कहा। हरिहर ने जो कि राजकवि की प्रत्यक्ष ईर्ष्या से अप्रसन्न था, कहा 'ये सब श्लोक तो उज्जयिनी के भोजदेव के सरस्वती-कण्ठाभरण प्रासाद की प्रशस्ति में मेरे देखे हुए हैं। और यदि तुम्हें मेरे कथन पर विश्वास नहीं हो तो मैं सब के सब श्लोक कण्ठस्थ सुना सकता हूँ।' तदनन्तर उसने सब श्लोक ज्यों के त्यों क्रमशः सुना भी दिये। वीरधवल और वस्तुपाल श्लोकों को सुनकर दुखी हुए और सोमेश्वर भी इस प्रकार साहित्यचोरी से लांछित होकर बड़ा ही लज्जित हुआ और अपना मुँह तक न दिखा सका। कुछ समय बाद, सोमेश्वर वस्तुपाल के पास गया और उसने सब बताया कि किस प्रकार अन्याय से वह सब की हँसी का पात्र बनाया गया था। वस्तुपाल ने उसे हरिहर के साथ मित्रता करने की सलाह दी और फिर दोनों ही हरिहर के निवास पर साथ-साथ गये। सोमेश्वर ने हरिहर से उस पर लगाये साहित्य चोरी के झूठे दोष से मुक्ति की प्रार्थना की और हरिहर ने इसे स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन दरबार में हरिहर ने कहा कि देवी सरस्वती उस पर प्रसन्न है और उससे वह कोई भी १०८ श्लोक जो उसके समक्ष एक बार भी पढ़े जायें बोल कर सुना सकता है और इसके समर्थन में सोमेश्वर की प्रशस्ति के श्लोको का उदाहरण उसने प्रस्तुत किया और कहा कि वे उसने इसी प्रकार सुना दिये थे। राजा और दरबारियो को इसका भरोसा दिलाने के लिये हरिहर ने तब और भी स्मृति चमत्कार कर दिखाये। वीरधवल

ने हरिहर से पूछा, 'यदि ऐसा था तो तुमने सोमेश्वर पर साहित्य चोरी का अपराध क्यो लगाया ?' हरिहर ने उत्तर दिया कि सोमेश्वर ने उसका अपमान किया था इसलिये उसने ऐसा किया। इस तरह अन्त मे सब भेद खुल जाने पर दोनो पण्डित वीरधवल के बीच-बचाव से परस्पर मित्र हो गये और सोमेश्वर का साहित्यिक जीवन निष्कलक प्रमाणित हो गया। तदनन्तर राजदरबार की साहित्यिक गोष्ठियाँ बड़ी सजीव होने लगीं। वस्तुपाल के समय तक गुजरात में नैषध जो कि सन् ११७४ ई. की रचना है, को कोई भी नही जानता था। उस काव्य के श्लोको को सुनकर सभी उसके कवित्व चमत्कार और गुणो पर चकित हो जाते थे। एकदा वस्तुपाल के पूछे जाने पर हरिहर ने कहा कि श्लोक नैषध काव्य के है, जो श्रीहर्ष की कृति है। वस्तुपाल ने उसकी प्रति के लिये प्रार्थना की। हरिहर ने सिर्फ एक रात्रि के लिये अपनी प्रति उसको दी क्योंकि वह बहुत ही कम प्राप्य थी। वस्तुपाल ने उस एक रात मे ही उसका प्रतिलिपि करवा ली और अपने निजी पुस्तक भण्डार में पत्रों पर सुगन्धि चूर्ण छिड़क और पुराने वेष्टन एवं डोरी से बाँध कर रख दिया। जब हरिहर दूसरे दिन अपनी प्रति लेने को आया तो अमात्य ने कहा, 'मुझे स्मरण है कि यह ग्रन्थ मेरे पुस्तकालय में भी है।' उसने तत्काल ग्रन्थ खोज कर लाने का आदेश दिया। कुछ ढूँढ़-ढाँढ़ के बाद वह प्रतिलिपि गई और हरिहर को दिखा दी गई। हरिहर आश्चर्यचकित रह गया और बोला, 'यह तो आपका कौशल है। दूसरा कोई ऐसा कौशल नहीं कर सकता है। आपने शत्रुओ को योग्य रीति से ही दण्डित किया है, जैन, वैष्णव और शैव धर्मों का प्रभाव स्थापित किया है और अपने प्रभु के वश को गौरव के पथ पर चढ़ाया है'[५]।

गुजरात मे नैषध का प्रचार व अध्ययन

८२. हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि प्रबन्धकोश का उक्त वर्णन हर बात में पूरा पूरा सही ही है। ब्यूलर[६] एवं अन्य विद्वानों के अनुसार जैन प्रबध उस ऐतिहासिक परम्परा पर रचे गये हैं कि जो वृद्ध परम्परा या गुरुओं की एक एक शाखा द्वार सुरक्षित होकर वारसागत चली आई है। इससे राजदरबारों के वातावरण पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जहाँ कि कवि और विद्वान् सख्याबद्ध एकत्र होते और राज्यानुग्रह अथवा अमात्यानुग्रह के लिये परस्पर प्रतिस्पर्धा करते थे। यह सदेह करने का कोई भी कारण नहीं है कि नैषध के प्रति गुजरात में

---

५. प्रको, पृ० ५८ आदि। ६. ब्यूलर, हेमचन्द्राचार्य की जीवनी, पृ. ४।

पहले-पहल हरिहर द्वारा ही प्राप्त हुई थी और वस्तुपाल द्वारा वह गुजरात के साहित्यिक संसार में प्रचार पाई क्योंकि गुजरात से ही उसकी प्राचीनतम प्रति प्राप्त है। ताड़पत्रीय नैषध की दो प्रतियाँ वि. सं. १३०४=१२४८ ई० और वि. सं. १३६५=१३३६ ई० की लिखी पाटण के जैन भण्डार में सुरक्षित हैं[1]। एक और ताड़पत्रीय प्रति वि. सं. १३७८–१३२२ ई० की लिखी जैसलमेर के जैन भण्डार में सुरक्षित है[2]। इनके अतिरिक्त भी कुछ एक ताड़पत्रीय प्रतियाँ इन्हीं भण्डारो मे प्राप्य हैं परन्तु उन पर कोई तिथि नही दी गई है[3]। यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि नैषध की एक प्रति राजा वीसलदेव के पुस्तक भंडार भारती भाण्डागार[4] में रखी गई थी जो कदाचित् हरिहर की प्रति ही से अथवा उससे नकल की हुई वस्तुपाल की प्रति से नकल की गई थी। इस प्रसिद्ध काव्य पर प्राचीनतम टीका भी गुजरात की ही प्राप्त है। एक तो विद्याधर की साहित्यविद्याधरी और दूसरी धवलक्क के सुप्रसिद्ध पण्डित चंडू की। विद्याधरी टीका सम्भवतः वीसलदेव के राज्यकाल में (१२३८–१२६१ ई०) ही तैयार हुई थी क्योंकि टीकाकार ने उस पाठ पर टीका लिखी है जो वीसलदेव के राज्य-पुस्तक-भण्डार में प्राप्त था[5]। चण्डू पण्डित की टीका स्वयं टीकाकार के अनुसार ही वि० सं० १३५३ (१२९७ ई०) की रचित है[6]। रचना की एक सदी के भीतर भीतर ही गुजरात के विद्वत्संसार में नैषध की इतनी अधिक लोकप्रियता और प्रचार का प्रधान कारण हरिहर का गुजरात में आगमन और वीरधवल एवं वीसलदेव वाघेला राजाओं और अमात्य वस्तुपाल के आश्रित विद्यामण्डल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं। हरिहर का आगमन कवि बिल्हण के आगमन का स्मरण करा देता है जो काश्मीर जैसे दूर देश से गुजरात में आया था और जिसने अणहिलवाड़ में रहते हुए कर्णसुन्दरी नाटिका की रचना, सिद्धराज के पिता कर्ण के राज्यकाल में की थी (पैरा ३८)।

हरिहर के सुभाषित

८३. कीर्तिकौमुदी में किये सोमेश्वर के वर्णन के अनुसार हरिहर एक नामी कवि था। सम्भव है हरिहर ने कोई रचना की हो, परन्तु अभी तक तो उसकी

---

१. पाभसू, पृ. ६४ और ११२। २. जेभंसू, पृ. १४।
३. वही, पृ. १३, १६, १७; पाभंसू, पृ. १७०।
४. हण्डिकी, नैषधीयचरित, पृ. ९।
५. सांडेसरा, भावि, भाग ३, पृ. २६। ६. वही।

एक भी कृति नहीं मिली है। प्रबन्धों में उसके नाम से कितने की श्लोक उद्धृत किये मिलते हैं। वस्तुपाल सहित वीरधवल उसके स्वागत को गया तब की रची वीरधवल की प्रशंसा में उसकी दो सूक्तियाँ[1], उसकी की हुई वस्तुपाल की उस समय की स्तुति जब कि उसने वीरधवल राजा को परदेशी राजा द्वारा अधीनता की स्वीकृति के चिह्न रूप भेजे हुए सुवर्ण दण्ड को याचकों को भेंट कर दिया था,[2] और वस्तुपाल की संघयात्रा[3] के समय की सूक्तियाँ विशेष रूप से चित्ताकर्षक हैं। सूक्तिमुक्तावलि और शार्ङ्गधरपद्धति में हरिहर के नाम से कितने ही श्लोक दिये हैं। परन्तु हम निश्चय से नहीं कह सकते कि वे सब प्रस्तुत हरिहर की ही रचना हैं अथवा इसी नाम के किसी अन्य कवि की।

८४. हम यह भी ठीक-ठीक नहीं जानते कि कब तक हरिहर गुजरात में रहा था परन्तु जो वर्णन प्रबन्ध में दिया गया है उससे मालूम पड़ता है कि वह धवलक्क में अवश्य ही कुछ वर्षों तक रहा होगा। प्रबन्ध में कहा है कि एक बार हरिहर प्रभास सोमेश्वर या सोमनाथ महादेव का दर्शन करने के लिये गया था। परन्तु वहाँ नामों की समानता के कारण सोमेश्वर द्वारा उसके प्रति किये कठोर व्यवहार का उसे स्मरण हो आया और फल स्वरूप उसने तत्काल दो सूक्तियाँ बनाईं जिनमें से एक निम्नलिखित है और इसमें रचयिता का नाम भी दिया हुआ है—

> क्व यातु क्वायातु क्व वदतु सम केन पठतु
> क्व काव्यान्यव्याजं रचयतु सदः कस्य विशतु।
> खलव्यालग्रस्ते जगति न गतिः क्वापि कृतिना-
> मिति ज्ञात्वा तत्त्वं हर हर विमूढो हरिहरः ॥[4]

---

१. शम्भुर्मानससन्निधौ०, इष्टस्तेन शरान्० प्रको, पृ. ५८।

२. आः। साम्यं न सहामहे० वही पृ. ६१।

३. धन्यः स वीरधवल.०, आजन्मापि वर्शीकृताय० वच, ६. ७९—८०।

४. प्र को, पृ. ६१। दूसरा श्लोक है आरक्षाम नृपप्रसाद०। राजशेखरकृत क्व यातु० श्लोक की व्याख्या ऐतिहासिक रूप से यथार्थ प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सोमेश्वर और हरिहर दोनों ने परस्पर एक दूसरे के काव्य की प्रशंसा की है (कीकौ, १. २५; सूउ, १५. ४४), और यद्यपि परस्पर की ईर्ष्या द्वारा ही उनकी पहचान पहले पहल हुई थी, परन्तु अन्त में वह दोनों की समादृत मित्रता में बदल गई। प्रबन्ध में जैसा कि वर्णन से प्रतीत होता है, उनकी ईर्षा की किम्वन्ती पर अधिक भार दिया गया है।

और उसने आधी सम्पत्ति विरुदावली गायकों को बाँट दी एवं आधी लेकर वह धवलक्क लौट गया जहाँ से वीरधवल एवं वस्तुपाल से छुट्टी लेकर वह काशी चला गया[1]।

(३) नानाक

मुखे यदीये विमलं कवित्वं बुद्धौ च तत्त्वं हृदि यय सत्त्वम्।
करे सदा दानमयावदानं पादे च सारस्वततीर्थयानम्॥
काव्येषु नव्येषु ददाति कर्णं प्राप्नोति यः संसदि साधुवर्णम्।
विभूषणं यस्य सदा सुवर्णं प्राप्ते तु पात्रे न मुखं विवर्णम्॥

—गणपति व्यास[2]

८५. नानाकभूति या नानाक भी सोमेश्वर और हरिहर की भाँति विद्वान् ब्राह्मणों के एक सम्पन्न कुल में जन्मा था। वह राजा वीसलदेव का राजकवि था और वस्तुपाल के सम्पर्क में भी वह आया था। उसने प्रभास पाटण में एक सरस्वतीसदस् या महाविद्यालय स्थापित किया था जहाँ कि सरस्वती नदी समुद्र में गिरती है[3]। महाविद्यालय की स्थापना की दो प्रशस्तियाँ मिलती हैं[4] और उनसे नानाक और उसके वंश के विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातों का पता चलता है। पहली प्रशस्ति में कोई तिथि नहीं है, जब कि दूसरी में वि. सं. १३२८=१२७२ ई० लिखा है कि जो राजा वीसलदेव की मृत्यु के बाद का ११ वाँ वर्ष है। पहली प्रशस्ति में भी वीसलदेव का उल्लेख 'त्रिदशसुहृद्' अर्थात् देवों का मित्र नाम से किया है जिससे अनुमान होता है कि वह उस समय जीवित नहीं था। इससे हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नानाक वीसलदेव से और वस्तुपाल से अवस्था में बहुत छोटा था।

नानाक का वंश परिचय

८६. नानाक का परिवार आनन्दपुर या नगर (आधुनिक वड़नगर) में रहता था। वह जाति से नागर ब्राह्मण था और उसका गोत्र था कापिष्ठल।

---

१. प्रको, पृ. ६१।

२. नानाक की दूसरी प्रशस्ति, श्लोक १४-१५।

३. नानाक के महाविद्यालय का स्थान आज भी ब्रह्मेश्वर के मन्दिर के पास प्रभास पाटण में देखा जाता है। वहाँ नवरात्रि के अन्तिम दिन प्रति वर्ष सरस्वती पूजा होती है।

४. इंएं, भाग ११, पृ. ९८ आदि। गुऐले, सं. २१८-१९; गद्रे, बड़ौदा राज्य के महत्त्वपूर्ण शिलालेख, पृ. १४ आदि भी देखिए।

प्रशस्तियों में उसका वंशवृक्ष सोमेश्वर नाम के पुरुष से प्रारम्भ होता है। सोमेश्वर वड़नगर के समीप के गुंजा नामक गाँव में जन्मा था, जो वैजवाप गोत्र के ब्राह्मणों का था। वह उस गोत्र के किसी ब्राह्मण को किसी चौलुक्य नृपति द्वारा दान में दिया हुआ था क्योंकि उसके मंत्रित्व से राजा मुग्ध हो गया था[1]। सोमेश्वर आचार्य था और उसके पढ़ाये शिष्य भी बड़े पण्डित हुए थे। उसके सीता नाम की स्त्री और आमट नाम का एक पुत्र था, जो कर्मकाण्ड में बड़ा निष्णात और पटु था। आमट की स्त्री सज्जनी थी और उससे उसे गोविन्द नाम का एक पुत्र था जो ब्रह्मा के समान विद्वान् था। उस गोविंद के दो पत्नियाँ थीं—लाछी और सुहवा। सुहवा गुणों की ऐसी भाण्डार थी कि जो भी प्रशंसा की जाये थोड़ी हो रहे। उसकी संगति में गोविन्द ने तीन ऋण चुकाये और फिर पवित्र रेवा में स्नान कर वह चतुर्थ आश्रम मे प्रविष्ट हो गया। उसके तीन पुत्र थे। सबसे बड़ा पुरुषोत्तम वेदों का अध्येता था। सबसे छोटे का नाम मल्हण था जो छहों गुणों में पारंगत होने के कारण राजा के दरबार में बड़ा तपा। उसने काशी की यात्रा भी की थी और सारे ऋग्वेद का वह पाठ कर सकता था। इस गोविद का द्वितीय पुत्र नानाक था। वह धनी भी था और सरस्वती का प्यारा भी था। नानाक ने कातंत्र व्याकरण का गहन अध्ययन किया था। उसे सारे ऋग्वेद का गम्भीर ज्ञान था। वह रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतियों में निष्णात था, काव्य, नाटक और अलंकारशास्त्र मे कुशल था। वह कवि भी था। जैसा कि प्रशस्ति मे कहा है—उसकी जिह्वा पर सरस्वती ने प्राचीन कवियों के रूप में वास कर लिया था ताकि उसका पुत्र-शोक दूर हो जाये। नागर जाति का भूषण भी वह कहा गया है (नानाक नागरोत्तंसः, पहली प्रशस्ति श्लोक २३)। उसकी स्त्री का नाम था लक्ष्मी जो दोनो ही कुलों की लक्ष्मी स्वरूप थी। उसका पुत्र गंगाधर था जिसकी सफलताओं के विषय में प्रशस्ति मौन है, परन्तु जिसको उसमे आशीर्वाद अवश्य ही दिया गया है जिससे यह अनुमान होता है कि वह उस समय बहुत ही छोटा बालक होगा।

नानाक को वीसलदेव ने आश्रय दिया

८७. वीसलदेव ने नानाक पर बहुत ही कृपा दिखाई थी। वीसलदेव ने प्रभास

---

१. यद्यपि सोमेश्वर कापिष्ठल गोत्र का था परन्तु उसका जन्म वैजवाप गोत्र के ग्राम में हुआ था; इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि गुंजा ग्राम कदाचित् उसके नाना का हो। देखो आर. सी. मोदी, आचार्य ध्रुव स्मारक ग्रंथ, पृ. ३८६।

में वीसल ब्रह्मपुरी का निर्माण ब्राह्मणों के निवास के लिए किया था। उसके पास नानाक को एक महालय उसने दिया और इस प्रकार उसे इस नगरी का निवासी ही बना दिया। सोमनाथ की पूजा के समय वीसलदेव ने उसे वगसरा (सौराष्ट्र का आधुनिक बगसरा) नगर भी दान कर दिया। बदले में नानाक राजा को जब तक राजा जीवित रहा, पुराण पढ़ कर सुनाता था और उसके मर जाने पर वह राजा का श्राद्ध बराबर ही किया करता था। सोमनाथ मदिर के मठाधीश वीरमदेव नानाक को मंगल ग्राम (सौराष्ट्र के दक्षिण तट स्थित आधुनिक मांगरोल) की मालगुजारी का सप्तमांश नानाककृत सोमनाथ की पूजा से प्रसन्न होकर भेंट कर दिया। नानाक अपने अतिथि सत्कार के लिये प्रसिद्ध था और वह अपने सम्बन्धियों और मित्रो की सहायता उदार हाथ से किया करता था।

नानाक—कवियों का आश्रयदाता

८८. इस प्रकार नानाक और उसके परिवार एवं वंश की हमें बहुत सी जानकारी हो जाती है। उसकी सम्पन्नता और विद्याप्रेम उसके प्रशंसको की अतिशयोक्ति ही नहीं थी क्योंकि हम जानते हैं कि उसने एक महाविद्यालय खोल रखा था और उसे चलाता था। अन्य कवियों को आश्रय दे सके उतना वह स्वयं धनवान भी था। कुवलयाश्वचरित के लेखक के पौत्र और रत्न के पुत्र कवि कृष्ण ने उसकी पहली प्रशस्ति लिखी है। उसकी अष्टावधान शक्तियों से प्रभावित होकर लोग उसे बालसरस्वती भी कहा करते थे। दूसरी प्रशस्ति धाराध्वंस के लेखक गणपति व्यास की लिखी हुई है (देखो पैरा ७८)।

नानाक द्वारा वस्तुपाल की प्रशंसा

८९. नानाक की कोई भी साहित्यिक कृति हमें प्राप्त नहीं है हालाँकि प्रशस्तियों में उसके काव्य की सफलता के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। सौराष्ट्र की वनस्थली[1] का एक अधूरा शिलालेख नानाक रचित कहा जाता है क्योंकि लेखक अपने को आनन्दपुर का निवासी कहता है, अपना गोत्र कपिष्ठल और पिता गोविन्द को बताता है। अन्तिम पंक्ति आधी ही उत्कीर्ण है और इस प्रकार शिलालेख अधूरा ही है। फलतः हम वहाँ लेखक का नाम नहीं पाते हैं। लेख की तिथि भी अज्ञात है क्योंकि पहली पंक्ति खण्डित है। यह लेख नानाक की कविता का एक असाधारण नमूना माना जा सकता है। प्रबन्धकोश में लिखा है कि जब अमरचन्द्र ने वीसलदेव के राजदरबार में प्रवेश किया (देखो पैरा १०२),

---

१. अनाल्स, भाग ५, पृ. १७१; गुप्ले, सं. २१५।

उसकी कवित्व शक्ति की परीक्षा नानाक सहित अनेक लोगों द्वारा की गई थी[1]। नानाक की कविता का एक दूसरा नमूना भी हमें प्राप्त है और वह इसलिये भी महत्त्व का है कि उससे वस्तुपाल के साथ उसके सम्पर्क का भी पता लगता है। एक समय बहुत से कवि वस्तुपाल की उदारता का गुणगान कर रहे थे और अमात्य सिर झुकाये सुन रहे थे। उस समय युवक नानाक ने यह सूक्ति कही थी—

एकस्त्वं भुवनोपकारक इति श्रुत्वा सतां जल्पितं
लज्जानम्रशिराः स्थिरातलमिदं यद्वीक्षसे वेद्मि तत्।
वाग्देवीवदनारविन्दतिलक श्रीवस्तुपाल ध्रुवं
पातालाद् बलिमुद्दिधीपुरसकृन्मार्गं भवान् मार्गति ॥

इस सूक्ति के लिये कवि को मूल्यवान उपहार भेंट किया गया[2]।

(४) यशोवीर

लक्ष्मीर्यत्र न वाक् तत्र यत्र ते विनयो न हि।
यशोवीर महच्चित्रं सा च सा च स च त्वयि ॥

—वस्तुपाल[3]

प्रकाश्यते सतां साक्षाद् यशोवीरेण धीमता।
मुखे दन्तद्युता ब्राह्मी करे श्रीः स्वर्णमुद्रया ॥

—सोमेश्वर[4]

यशोवीर—वस्तुपाल का अन्तरंग मित्र

९०. यशोवीर वस्तुपाल का एक अन्तरग मित्र था। सोमेश्वर ने दोनों

---

१. प्रको, पृ. ६२। यहाँ नानाक को वीसलनगरीय अर्थात् वीसलनगर से आने वाला कहा गया है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र (पृ. १२०) उसे महानगरीय अर्थात् वडनगर से आनेवाला कहा गया है। परन्तु समकालिक प्रशस्तियों की साक्षी से यह स्पष्ट है कि नानाक वडनगर का निवासी था न कि वीसलनगर (उत्तर गुजरात का आधुनिक वीसनगर) का।

२. प्रको, पृ. १२०। पुप्रस, पृ. ६० के अनुसार, पारितोषिक की राशि १६००० थी। उपदेशतरंगिणी पृ. ६५ में कहती है कि वस्तुपाल ने नानाक को स्वर्ण जिह्वा दी। प्रबन्धों के बाद के सग्रह में जो कि पुरातन प्रबन्ध संग्रह में सम्मिलित है (पृ ७४) यह श्लोक सोमेश्वर का कहा गया है।

३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ १०२ में उद्धृत।　　४. कीकौ, १. २७।

मित्रों की एक श्लोक में सरस्वती के दो पुत्र कह कर प्रशंसा की है[1]। यशोवीर जाति का वणिक और जैन धर्म माननेवाला था। परन्तु वह किस जाति का था यह कुछ भी पता नहीं है। वह जाबालिपुर (राजपूताना का आधुनिक जालोर) के चौहान राजा उदयसिंह का मन्त्री था[2]। कीर्तिकौमुदी में उसे 'चौहान राजा का मन्त्री' स्पष्ट रूप से बताया गया है[3] हालाँकि राजाविशेष का नाम वहाँ कोई नहीं दिया है। जयसिंहसूरि के हम्मीरमदमर्दन नाटक, सर्ग ५ श्लोक ४८ में वस्तुपाल द्वारा यशोवीर का अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान आदर करना बताया गया है। इस ग्रन्थ के आधार से यह भी कहा जा सकता है मुसलमान आक्रमण को विफल बनाने की योजना जो वस्तुपाल ने बनाई थी उसमे तेजपाल की सहायता यशोवीर ने की थी और तेजपाल द्वारा यशोवीर की सलाह सभी महत्व के विषयो पर ली जाती थी क्योंकि मारवाड़ और मेवाड़ दोनो ही तब युद्धस्थली थे (हम्मीर., ५. ४७ और पृ. ५४)। यशोवीर के पिता का नाम उदयसिंह ही था जैसा कि उसके शिलालेख से निश्चय होता है[4]। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उसके पिता का नाम दुसाज दिया है और भाटो के कुछ अपभ्रंश दोहे भी उद्धृत किये गये हैं जहाँ उसे दुसाजुत्र[5] कहा गया है (देखो पैरा ६२)। इसका यह अभिप्राय होता है कि यशोवीर के पिता उदयसिंह का दूसरा नाम दुसाज था। यशोवीर की स्त्री का नाम था सुहागदेवी। उसके पाँच पुत्र थे जिनमें से एक कर्मसिंह का नाम ही हमें ज्ञात हैं।

यशोवीर का शिल्पशास्त्र का ज्ञान

६१. यशोवीर सरस्वतीकण्ठाभरण[6] भी कहा जाता था, कदाचित् इसीलिये कि उसे विद्या से प्रेम था और वह कवियों को पोषण देता था। शिलालेखों में

---

१ वही, १. २९।   २. वच, अ. ८; पुप्रसं, पृ. ४९।

३ कीकौ, १. २८।   ४. प्राजैलेसं, सं. १०८, १०९, २११।

५. पुप्रस, पृ. ५०–५१। इस यशोवीर को वही यशोवीर नहीं समझना चाहिये कि जिसके संरक्षण में प्रबुद्धरौहिणेय नाटक अभिनीत हुआ था (पैरा ३८), क्योंकि वह पासु का पुत्र था और इस यशोवीर का समकालिक वृद्ध। वह उदयसिंह के पिता समरसिंह के राजकाल में हुआ था, जब कि यह यशोवीर उदयसिंह का मन्त्री था। प्राजैलेसं, सं. ३५२; जैसासइ, पृ. ३२५ टि)।

६. प्रको, पृ. १२३।

उसे कवीन्द्रबन्धु[1] भी कहा गया है कदाचित् इसलिये कि वह वस्तुपाल का अन्तरंग मित्र था। सोमेश्वर ने उसके विषय में चार प्रशंसात्मक श्लोक कीर्तिकौमुदी के प्रथम सर्ग मे दिये हैं और इनसे भी सोमेश्वर के आश्रयदाता के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। सन् १२३१ ई० में लूणवसति की प्रतिष्ठा के अवसर पर वस्तुपास से उसके मिलाप का वर्णन किया गया है। जाबालिपुर का राजा उदयसिंह, नाड्डूल का ठाकुर और चन्द्रावती का परमार सोमसिंह, ये राजा लोग उस उत्सव पर आये थे और चौलुक्य राज्य के नगर[2] और गाँवों के सैकड़ों अधिकारी भी आये थे। यशोवीर भी अपने राजा के साथ वहाँ आया था। तब वस्तुपाल ने उसका कितनी ही सूक्तियों द्वारा स्वागत किया और यशोवीर ने प्रत्युत्तर में वस्तुपाल की दो कवित्तों में प्रशसा की[3]। प्रबन्धों मे यशोवीर को स्थापत्य कला का अधिकारी कहा गया है और यह कि उससे आबू के मन्दिर के निर्माण में सलाह माँगी गई थी। यशोवीर ने तब वहाँ के प्रमुख शिल्पकार शोभनदेव का ध्यान शिल्पशास्त्रानुसार निम्न त्रुटियों की ओर दिलाया था रंगमण्डप में शाल भंजिकायुगल की उतनी विशाल आकृति बिलकुल अनुचित है और वह शिल्पशास्त्रों में निषिद्ध भी है। फिर गर्भगृह के प्रवेश द्वार में सिंहों का तोरण देवपूजा में परम विघ्नकारक है, मन्दिर के पिछवाड़े में पूर्वजों की मूर्तियो से सुसज्जित गजशाला भी जिसने मन्दिर का निर्माण कराया उसके वंशविस्तार का घातक है। विज्ञ शिल्पकार द्वारा ऐसी अचूक भूलें जिसका प्रतिकार अब सम्भव नहीं, हो जाना पूर्व जन्म के पापोदय का ही कारण कहा जा सकता है।' इस प्रकार अपना मत देकर यशोवीर अपने स्थान पर लौट गया[4]।

---

१. तदगजन्मास्ति कवीन्द्रबन्धुर्मन्त्री यशोवीर इति प्रसिद्धः।
ब्राह्मीरमाभ्यां युगपद् गुणोत्थविरोधशान्त्यर्थमिवाश्रितो य ॥

प्राजैलेस, स. १०८, १०९, २१२।

२. वच, अ ८।

३. प्रचि, पृ. १०१-२; प्रको, पृ १२४; पुप्रसं, पृ. ७०-७१।

४. प्रचि, पृ. १०१। स्थापत्य कला सम्बन्धी दोषों की एक और सूक्ति प्रको, पृ. १२४ में दी गई है। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि दोषों की यह सूची यथार्थतया एवं पूर्णरूपेण यशोवीर मे ही प्राप्त हुई थी। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसने वास्तुशास्त्र की दृष्टि से मन्दिर के स्थापत्य की आलोचना की होगी कि जिसमें कला सम्बन्धी दोषों की ओर ध्यान दिलाया

यशोवीर—कवि और साहित्य का आश्रयदाता

९२. प्रबन्धों में उद्धृत उसकी कविताओं से मालूम पड़ता है कि यशोवीर एक गुणी संस्कृत कवि था। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि कीर्ति कौमुदी में उसकी कालिदास, माघ और अभिनन्द[1] से तुलना की गई है। परन्तु यशोवीर की कोई भी कृति आज तक प्राप्त नहीं हुई है। उच्च अधिकारी होने के कारण, वह साहित्य का आश्रयदाता भी था। एक ताड़पत्रीय संस्कृत सुभाषित संग्रह में जो कि पाटण के संघवी पाड़ा भण्डार में सुरक्षित (अपूर्ण विभाग, सं. ५२) है, सज्जन प्रशंसा नामक विभाग में अमात्य यशोवीर की प्रशंसा में कितने ही पद्य दिए है। चूँकि प्रति अपूर्ण है, न तो यह कहा जा सकता है कि उसके निर्माण या प्रतिलिपि की तिथि क्या है और न यही कि उसका और उसके संकलनकर्ता का क्या नाम है ? परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यशोवीर को कुछ कवियो द्वारा उच्च आदर प्राप्त था। राजस्थान की सुन्धा पहाड़ी पर चाचिगदेव की प्रशस्ति के लेखक और वादी देवसूरि के प्रशिष्य जयमंगलसूरि ने यह सूक्ति उस समय कही थी जब यशोवीर ने जालोर में अपने बनाए मन्दिर चन्दनवसति में भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी—

> यत्त्वयोपार्जितं वित्तं यशोवीर प्रतिष्ठया।
> तल्लक्षगुणितां नीतं यशो वीरप्रतिष्ठया ॥[2]

और काव्यप्रकाश संकेत टीकाकार माणिक्यचन्द्र (देखो पैरा १२६–१३०), ने भी यशोवीर की प्रशंसा में एक अवसर पर कहा है—

> यशोवीर लिखत्याख्यां यावच्चन्द्रे विधिस्तव।
> न माति भुवने तावदाद्यमप्यक्षरद्वयम् ॥[3]

९३. यशोवीर चारणो में सुप्रख्यात था क्योंकि वह उन्हें खूब ही पारितोषक देकर पोषण करता था। प्रबन्धों में चारणों के कहे कितने ही उसके प्रशंसात्मक अपभ्रंश दोहे सुरक्षित हैं और वे यशोवीर के व्यक्तिगत और चारणों को दिए पोषण के इतिहास संकलन के लिए ही नहीं अपितु गुजरात एवं राजस्थान के अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन के लिए भी उपयोगी है जिसका अत्यन्त महत्व-

---

गया होगा और साथ ही उन त्रुटियों की ओर भी जो मूढ़विश्वासों की दृष्टि से बुरी कही जा सकती हैं।

1. कीकौ, १. २६। 2. पुप्रसं, पृ. ५०। 3. वही, पृ. ५०।

पूर्ण अंश हेमचन्द्र की प्राकृतिक व्याकरण और प्राकृत पिंगल जैसे ही अन्य ग्रंथों मे सुरक्षित है। जब यशोवीर ने अपने राजा उदयसिंह के प्रतिनिधि रूप से धवलक्क के राजा वीसलदेव से सन्धि कर अपने राजा के राज्य को सुरक्षित कर लिया तो एक चारण ने अपभ्रंश का यह दोहा कहा था —

जिम केतू ह्रि आजु तिम जइ लंकां हुत दुसाजुत्र।
नाउं बूडत राजु राणाहीव रावण तणउं ॥[1]

अर्थात् हे दुसाज के पुत्र ! जैसे कि आज तुम यहाँ हो वैसे ही यदि तुम लंका में होते तो महाबली राजा रावण का राज्य नष्ट ही नहीं होता।

६४. जैसा कि हम देख आए है, यशोवीर ने जालोर में एक मन्दिर बनवाया था। उसने सम्वत् १२८८ = १२३२ ई० में मादरी (मारवाड़ में ऐरणपुरा-रोड के पास)[2] में अपनी माता के आध्यात्मिक सुख के लिए मन्दिर निर्माण करा कर उसमें सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई और वि. सं १२९१ = १२३५ ई० में आबू पर भी दो देव-कुलिकाएँ बनाईं[3]। इन स्थानों के लेखों से मालूम पड़ता है कि यशोवीर जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सण्डेरक गच्छ के आचार्य श्री शान्तिसूरि का अनुयायी था।

(५) सुभट

सुभटेन पदन्यासः स कोपि समितौ कृतः।
येनाधुनापि धीराणां रोमांचो नापचीयते ॥—सोमेश्वर[4]

६५. सुभट का वैयक्तिक इतिहास हमें कुछ भी नहीं मालूम है। परन्तु वस्तु-पाल के विद्यामण्डल से उसका सम्बन्ध इस बात से स्थापित होता है कि सोमेश्वर ने उस मण्डल के कवि नरचन्द्र, विजयसेन, हरिहर और यशोवीर की कविताओं के साथ-साथ इस सुभट कवि की कविताओं की भी प्रशंसा की है। फिर सुरथोत्सव में सुभट और हरिहर द्वारा सोमेश्वर की कविताओ की प्रशंसा होना भी कहा गया है (देखो पैरा ७१)। सुभट रचित एकांकी संस्कृत नाटक 'दूतागद' जिसको लेखक ने छाया नाटक कहा है, आज भी हमें प्राप्य है। इसके पूर्ववचन में कहा गया है कि राजा कुमारपाल द्वारा प्रतिष्ठित शिवमूर्ति के दोलोत्सव

---

१ वही, पृ ५२। यशोवीर की प्रशंसा के दो और अपभ्रंश दोहे उसी ग्रन्थ में पृ. ५०-५१ पर उद्धृत हैं। एक दोहा उदयसिंह की प्रशंसा में भी वहाँ पाया जाता है।

२. जैसासंइ, पृ. ३८१।   ३. प्राजैलेसं, सं. १०८-१०९।

४. कीर्तिकौमुदी, १. २४।

पर यह नाटक राजा त्रिभुवनपाल (१२४२-१२४४ ई०) की आज्ञा से अणहिलवाड़ में खेला गया था। परन्तु जब सोमेश्वर द्वारा दी हुई उसको 'कविप्रवर' की उपाधि का हम विचार करते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मान को सार्थक करने वाले उसने अवश्य और भी महान् काव्य लिखे होंगे। सुभट ने उस पूर्ववचन में अपने को तर्क में निष्णात भी कहा है।

(६) अरिसिंह

यत्कवेर्लवणसिंहजन्मनः काव्यमेतदमृतोद्दीर्घिका।
वस्तुपालनवकीर्तिकन्यया धन्यया किमपि यत्र खेलितम् ॥

—अमरचन्द्रसूरि[1]

अरिसिंह और अमरचन्द्र

६६. ठक्कुर अरिसिंह लावण्यसिंह या लवणसिंह का पुत्र था[2]। वह वस्तुपाल का प्यारा था और उससे उसे भूमि आदि भेट उसी प्रकार प्राप्त हुई थी जैसी कि कीर्तिकौमुदी के[3] लेखक श्री सोमेश्वर को। प्रबन्धकोश के अनुसार वह वायड़ गच्छ[4] के जिनदत्तसूरि का अनुयायी था और इसलिये उसे जैन कहा जा सकता है। यद्यपि अरिसिंह श्रावक ही था, परन्तु सुप्रसिद्ध गद्यकार और कवि अमरचन्द्र का ललितकलाओं में यह गुरु था[5]। अरिसिंह और उसके काव्य का अमरचन्द्र बहुत सम्मान करता था जैसा कि अमरचन्द्र की कृतियों से पता चलता है। ये दोनो साहित्यिक, एक गृहस्थ और दूसरा साधु, परस्पर मिल कर काम करते थे। जैसे अरिसिंह ने अमरचन्द्र को काव्यकला में प्रवेश कराया था, वैसे ही अमरचन्द्र ने अरिसिंह को वीसलदेव के राजदरबार में प्रवेश करा दिया था। एक बार वीसलदेव ने अमरचन्द्र को पूछा, 'ललितकलाओं में तुम्हारा गुरु कौन है?' अमरचन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया, 'कविराज अरिसिंह'। राजा ने फिर कहा, 'उन्हें कल मेरे पास लाइये'। दूसरे दिन अमरचन्द्र अरिसिंह को राजदरबार में राजा के पास ले गया। राजा तब तलवार से खेलता था। उसने अमरचन्द्र से पूछा, 'क्या ये ही कविराज हैं?' उसने उत्तर दिया, 'हाँ।' तब राजा ने उन्हें अवसरानुकूल कुछ कहने का आदेश दिया। आदेश पाकर अरिसिंह ने वीसलदेव के खड्ग की प्रशंसा में चार श्लोक सुनाये। राजा उनसे इतना प्रभावित हुआ कि कवि को उसने राजदरबारियों मे स्थायी नियुक्त कर दिया और उसका अच्छा वेतन भी बाँध दिया। थोड़े ही काल बाद उसका वेतन दुगुना भी कर दिया

1. सुकृतसङ्कीर्तन, १०. ४६।
2. वही, ८. ४८ और १०. ४६।
3. उपदेशतरंगिणी, पृ. ७६।
4. प्रबन्धकोश, पृ. ६१।
5. वही, पृ. ६१।

गया क्योंकि उसने राजा के हाथ में रही एक घास की पत्ती का काव्य में कौशल-पूर्ण वर्णन कर सुनाया था[1]।

सुकृतसकीर्तन और उसका रचना काल

९७. अरिसिंह के काव्यगुण की प्रशंसा गुजरात के बाहर भी फैल गई थी और उसकी अनेक काव्योक्तियाँ सूक्तिमुक्तावलि[2] एवं शार्ङ्गधरपद्धति जैसे संग्रहों मे भी समाविष्ट कर ली गई थीं[3]। इन पुस्तकों में उसका नाम अरसी ठक्कुर दिया है। अरसी नाम उसके अरिसिंह नाम का प्राकृत रूपान्तर ही है और दोनो की समानता और भी अधिक सम्भव लगती है जब कि हम देखते है कि प्रबन्धकोश में उसका नाम अरसिंह लिखा गया है और यह रूप भी पूर्वोक्त संग्रहो में दिए अरसी नाम के बहुत ही निकट है। उपदेशतरंगिणी में वस्तुपाल की प्रशसा मे रचित अरिसिंह का एक श्लोक उद्धृत किया गया है कि जिस पर उसी ग्रंथ के अनुसार रचयिता को २००० का पारितोषक भी मिला था[4]। परन्तु अरिसिह की काव्य कृतियो में उत्कृष्टतम है महाकाव्य सुकृतसकीर्तन, जो कि उसने अपने आश्रयदाता वस्तुपाल के सुकृतों को चिरस्मरणीय करने के लिए लिखा। इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पाँच श्लोक अरिसिंह के नहीं अपितु अमरचन्द्र या अमर पण्डित के रचे हुए हैं। 'इस काव्य में जिसकी रचना अरिसिंह ने की है, प्रत्येक सर्ग के ये चार श्लोक अमर पण्डित ने' रचे है"[5] इस बात का निर्देश पाँचवाँ श्लोक जो प्रत्येक सर्ग में दोहराया गया है, करता है। इन श्लोको का मूल के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। पहले तीन श्लोक में वस्तुपाल की सामान्य प्रशंसा करते हुए उसको आशीर्वाद दिया गया है या अरिसिंह द्वारा जो बातें कहना छूट गई है, वह कही गई हैं। चौथे श्लोक में सदा इस ग्रन्थ का रचयिता अरिसिंह है यह सूचना देते हुए उसके काव्यचातुर्य की प्रशंसा की गई है और पाँचवें श्लोक मे यह सूचना दी गई है कि पूर्व के चारों श्लोक अमर पण्डित द्वारा रचित है।

---

१. वही, पृ. ६३।

२. अतिविपुलं०, कान्तारे दैव०, तद्दृष्ट्वा पङ्को वा०, दधिमथन०, नक्तं निरंकुश०, मध्येन तस्या०। यह द्रष्टव्य है कि दधिमथन० भूल से यहाँ अरिसिंह की रचना कह दी गई है, क्योंकि अमरचन्द्र के बालभारत के आदिपर्व के ग्यारहवें सर्ग में यह श्लोक है।

३. अतिविपुलं० (सं. ११)।

४. उपदेशतरगिणी, पृ. ७३।

५. सुकृतसङ्कीर्तन, १. ४६।

९८. यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सुकृतसंकीर्तन की रचना तब की गई थी जब वस्तुपाल अपनी सत्ता के शिखर पर था[1]। यह पहले और दूसरे सर्ग के अन्तिम दो श्लोकों से भी समर्थित होती है—

'हे मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ! ब्राह्मण प्रति दिन तुम्हें आशीर्वाद देते हैं, 'तुम सदा चिरंजीवी रहो।' प्रमुख चारण यह कि, 'तुम ब्रह्मा की आयु प्राप्त करो' और कुलीन स्त्रियाँ यह कि, 'तुम कभी वृद्ध न होओ और अमर रहो।' परन्तु मैं भी कुछ कहूँगा और वह यह कि, 'तुम अपने जीवन में तब तक प्रसन्न रहो जब तक कि तुम्हारी दिग्दिगंतव्यापी कीर्ति आकाश में नाचती रहे।' (१. ४२)।

'कामधेनु, कल्पवृक्ष, पारसमणि ! तुम क्यों मेरु पर्वत के डगमगाते शिखरों में अपने को छुपाए हो ? भूतल को विभूषित करो ; तुम्हारी आकांक्षा किसी को भी नहीं है। हमारा पुण्यश्लोक मंत्री वस्तुपाल सदा चिरायु रहे, यही कामना है।' (२. ५२)।

इस ग्रन्थ की रचना की उत्तर और पूर्व मर्यादा प्रमाणपूर्वक निर्धारित की जा सकती हैं हालाँकि निश्चित तिथि का संकेत उसमें कोई भी नहीं दिया गया है। बहुत संभव है कि यह १२३१ ई० पूर्व लिखा गया होगा कि जिस वर्ष का आबू का शिलालेख है क्योंकि वहाँ के सुन्दर स्थापत्य का इसमें वर्णन तक भी नहीं है। परन्तु यह सन् १२२२ ई० (वि. सं. १२७८) के बाद का लिखा होना ही चाहिए क्योंकि आबू पर मल्लिनाथ की बनी कुलिका का वर्णन उसमें है जो उस वर्ष बनी थी[2]।

९९. सुकृतसंकीर्तन के अतिरिक्त अरिसिंह की कोई भी रचना आज उपलब्ध नहीं है। अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता के एक श्लोक से (१ २)[3] ब्यूलर ने अनुमान किया है कि अरिसिंह ने कवितारहस्य नाम का एक और ग्रन्थ भी रचा होगा और वह कविता कला का पाठ्यग्रन्थ होगा[4]। यद्यपि कवितारहस्य शब्द ग्रन्थपरक न होकर सामान्यार्थक भी हो सकता है। ऐसा भी मालूम पड़ता है कि अरिसिंह न्याय और तर्क निपुण भी था क्योंकि अमरचन्द्र ने एक स्थल पर उसका 'प्रतिवादी गजों में सिंह' समान कह कर उल्लेख किया है[5]। परन्तु हम

---

१. ब्यूलर, इंएं, भाग ३१, पृ. ४८० ।

२. सुकृतसङ्कीर्तन, ११, ३४ ।

३. सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोर्मत्वारिसिंहसुकवेः कवितारहस्यम् ।
किंचिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किंचिद् व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम् ॥ (१·२

४. ब्यूलर, वही, पृ, ४७६ ।

यह कह सकने में असमर्थ हैं कि उसने न्याय पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं।[1]

१००. अरिसिंह के ग्रन्थ से सन्देह तो रहता ही नहीं है कि वह स्वयं और अमरचन्द्र दोनों ही वस्तुपाल के विद्यामण्डल के सदस्य थे जैसा कि प्रबन्धों में बार-बार कहा गया है। अमरचन्द्र स्वयं ही सर्ग समाप्ति के श्लोको में से एक में कहता है—

'दरिद्रता ने निराश होकर उन लोगों को जो वस्तुपाल की प्रशंसा में सदा दत्तचित्त रहते है एकदम ऐसा त्याग दिया है कि वह दैववचन से मन्द होकर, उनके पडोसियो के घरों की देहली तक क नहीं लॉंघती (२, ५३)

इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि अरिसिह एवं अन्य कवियो को वस्तुपाल उनकी काव्य रचनाओ के लिए खूब ही पुरस्कृत करता था और जो कुछ बाद के प्रबन्धों मे वस्तुपाल की साहित्य पोषकता के विषय मे कहा गया है वह बहुतांश में सत्य ही है। यद्यपि हम अरिसिह और अमरचन्द्र के कवि जीवन का प्रारम्भ वीसलदेव के राज्यकाल तक खींच कर नही ले जा सकते हैं, फिर भी यह तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि वे धवलक के राजदरबार में वीरधवल और उनके आश्रयदाता वस्तुपाल की मृत्यूपरान्त भी पर्याप्त प्रिय रहे थे।

(७) अमरचन्द्रसूरि

ब्रह्मज्ञप्रवरो महाव्रतधरो वेणीकृपाणोऽमरः।

—नयचन्द्रसूरि[2]

अमरचन्द—वायड़ गच्छ का एक साधु

१०१. मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में अमरचन्द्रसूरि एक प्रख्यात व्यक्ति हैं। बालभारत और काव्यकल्पलता के कर्ता के नाम से उसकी अनन्यतम प्रसिद्धि है। अमरचन्द्र श्वेताम्बर जैनो के वायड गच्छ के जिनदत्तसूरि[3] का शिष्य था। इस गच्छ का नाम वायड अथवा वायटीय गच्छ अणहिलवाड़ से १५ मील उत्तर पश्चिम स्थित वायड़ से पडा था। उस स्थान मे 'वायु' अर्थात्

---

१. सुसं, १, ४५। २, ५५ भी देखिये।

२. हम्मीर महाकाव्य, १४, ३१।

३. यह जिनदत्तसूरि अरिसिंह का गुरु ही है (पैरा ९६)। यही विवेकविलास का रचयिता है (लगभग १२२० ई० का), जैन गृहस्थ के शिक्षण का

पवन देवता का मन्दिर है और इसीलिए इसका नाम वायड़ है। वायड़ा ब्राह्मण और वायड़ा वनिये इसी गॉव के उद्भूत और वायु (पवन देवता) के मानने वाले हैं। इस वायड़ा गच्छ की यह प्रथा थी कि इसके आचार्यों के तीन प्रकार के नाम ही होते थे[1] यथा—जिनदत्त, राशिल्ल और जीवदेव। इस प्रकार अमरचन्द्र का गुरु जिनदत्त था। उसका चेला राशिल्ल था और उस चेले का चेला जीवदेव। इसके वाद फिर जिनदत्त नाम ही आचार्य का होता था। वायड़ गच्छ और उसके आचार्यों के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्रभावकचरित्र के ७ वें अध्याय और वालभारत की प्रशस्ति से प्राप्त की जा सकती है।

साधु होने के पूर्व कदाचित् वायड़ ब्राह्मण था

१०२ अमरचन्द्र का साधु होने से पूर्व के वैयक्तिक इतिहास का कुछ भी पता नहीं है। परन्तु यह भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह ब्राह्मण ही था क्योंकि उसके जैन साधु होने के वावजूद, उसने अपने वालभारत ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में व्यास को और उसी ग्रन्थ की प्रशस्ति में वायड़ों के देव वायु (पवन देव) को स्तुति की है[2]। वहाँ यह भी कहा गया है कि उसकी रचना वायड़ा में रहने वाले ब्राह्मणो की प्रार्थना पर ही की गई थी[3]। १४ वीं सदी ईसवी के हम्मीर महाकाव्य में अमरचन्द्र की ब्रह्मज्ञ या वेदज्ञ के रूप में प्रशंसा की गई है। और काव्यकल्पलता से भी अमरचन्द्र के ब्राह्मण विद्याओं में पूर्ण निष्णात होने का प्रमाण मिलता है। यद्यपि अमरचन्द्र जैन साधु हो गया था परन्तु यह मालूम होता है कि उसने अपने सनातन ब्राह्मण संस्कार एकदम नहीं छोड़ दिए

विश्वकोश जैसा यह ग्रन्थ है। अमरचन्द्र कहता है कि उसके गुरु ने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे (वाभा, अन्तिम सर्ग, श्लोक ३), परन्तु इसके सिवा और कोई भी उपलब्ध नहीं है। वस्तुपाल को जिनदत्तसूरि के दिए उपदेश के लिए देखो प्रचिं, पृ० १०१)।

१. अमीभिस्त्रिभिरेव श्रीजिनदत्तादिनामभिः।
सूरयो भूरयोऽभूवस्तत्प्रभावास्तदन्वये ॥ (वाभा अन्तिम सर्ग श्लोक ३७)

२. किंचित् संचलितेऽपि वस्तुनि भृशं यत्संभवान्मन्महे
विश्व यन्मयमीश्वरादिमयतास्पष्टप्रमाणेप्सितम्।
संसारप्रसरः परस्तनुमतां यस्यानुरोधेषु यत्
संरोधेषु शिवं स यच्छतु सतां श्रीवायुतां मारुतः ॥
—वही, अन्तिम सर्ग, श्लोक १।

३. वही, अन्तिम सर्ग, श्लो०, ४२–४४।

थे। दीक्षा लेने के बाद अमरचन्द्र के जीवन का परिचय हमें कुछ अधिक मिलता है हालाँकि उसमें भी चमत्कारों का मेल बहुत कुछ हो ही गया है। प्रबन्धकोश[1] में कहा गया है कि जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र को कविराज अरिसिंह से सिद्ध सारस्वत का मंत्र प्राप्त हुआ था। मंत्री पद्म के महल के एकान्त स्थान में निरन्तर २१ दिन के इस मन्त्र के जाप करने के पश्चात् इक्कीसवें दिन की मध्य रात्रि में चन्द्रबिम्ब में से विद्या देवी सरस्वती उसको साक्षात हुई और यह वरदान दे गई कि वह सब राजाओं का सम्मानित सिद्ध कवि होगा। पुरातनप्रबन्धसंग्रह[2] में लिखा है कि अमरचन्द्र ने एक पण्डित को असाध्य रोग से नीरोग किया और उसने उसको सिद्धसारस्वत मन्त्र दिया था। तथ्य जो भी हो, इतना तो सत्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अमरचन्द्र का काव्यरचना कला में प्रवेश किसी ऐसे साहित्यिक विद्वान् ने कराया था कि जो उसके प्रति किसी कारण से कृतज्ञ था। सम्भवतः वह साहित्यिक विद्वान् अरिसिंह ही हो।

वीसलदेव के दरबार में अमरचन्द्र : अमरचन्द्र और अरिसिंह

१०३. प्रबन्धकोश में लिखा है कि इसके पश्चात् अमरचन्द्र ने कितने ही ग्रन्थ लिखे और वह कवि रूप से प्रसिद्ध हो गया और महाराष्ट्र के एवं अन्य राजाओं द्वारा वह सम्मानित हुआ। उसकी कीर्ति सुनकर वीसलदेव ने उसे अपने दरबार में मन्त्री वैजल द्वारा निमन्त्रण भेजा। दरबार में प्रवेश करते समय अमरचन्द्र ने वीसलदेव की प्रशंसा में दो सूक्तियाँ कहीं। इस प्रकार अमरचन्द्र की आशुकवि-शक्ति की परीक्षा हो गई और उसको सोमेश्वर, वामनस्थली के सोमादित्य, कृष्णनगर के कमलादित्य, नानाक आदि दरबारी कवियों द्वारा समस्याएँ पूर्ति के लिए दी गईं जिन्हें उसने कविता रचकर तुरत पूरा कर दिया। प्रबन्धों में कहा गया है कि इस प्रकार उसने १०८ समस्याओं की पूर्ति की थी और इससे सारी सभा प्रभावित हुई कि सायकाल होने तक भी वह बैठी रही और वीसलदेव ने कवियों मे शिरोमणि उसे स्वीकार कर लिया[3]। यद्यपि अमरचन्द्र ने साहित्यिक महान् कीर्ति अर्जन कर ली थी, परन्तु अपने ललितकला गुरु अरिसिंह का वह सदा पूरा सम्मान करता था और इसका प्रमाण उन श्लोकों से मिलता है कि जो सुकृतसकीर्तन के प्रत्येक सर्ग के अन्त मे उसके द्वारा रचकर जोड़े गये हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

---

१. प्रको, पृ० ६१। २. पुप्रसं, पृ० ७८।
३. प्रको, पृ० ६२–६३।

'प्रतिवादी गजों में सिंह अरिसिंह ने इसकी रचना की कि जो सदा कृपालु वस्तुपाल के दृष्टिपात के अमृत रस का अनुकरण करनेवाला है (१. ४५)'।

"यह ग्रन्थ जो लावण्यसिंह के पुत्र के मुखचन्द्र की किरणों का समूह है और दुष्टों के मुखकमलों से भौंरों के झुंड के झुंड दूर करता है, वरेण्य मन्त्री वस्तुपाल की कीर्ति के क्षीर समुद्र में ज्वार के समान लहरें उत्पन्न करता है' (८. ४८)।

अमरचन्द्र की साहित्यिक कृतियाँ

१०४ अमरचन्द्र एक प्रतिभाशील और विविध विषयों में लेखक था। उसका बालभारत महाकाव्य जो कि महाभारत काव्य का सार है, और काव्यकल्पलता जो कि अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ है, प्रसिद्ध ही है। यह भी द्रष्टव्य है कि काव्यकल्पलता की कारिकाएँ, अमरचन्द्र के कथनानुसार ही[1], कुछ तो उसकी ही रची हुई हैं और कुछ अरिसिंह द्वारा रचित है। इस काव्यकल्पलता की टीका भी स्वयं अमरचन्द्र ने ही कविशिक्षा नाम की लिखी है। इसी ग्रन्थ की दो और टीकाएँ भी उसने लिखी हैं, एक तो काव्यलता परिमल और दूसरी काव्यलता मंजरी जिसमें से मंजरी आज अभी तक अप्राप्य है[2]। काव्यलता में लेखक ने इन दोनों टीकाओं का उल्लेख किया है[3]। अमरचन्द्र ने अलंकारशास्त्र पर भी 'अलंकारप्रबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसका भी उक्त टीका में (पैरा ११६) निर्देश है, परन्तु इसका पता अभी तक तो नहीं लगा है। अमरचन्द्र ने छन्दोरत्नावलि नामक ग्रन्थ छन्दशास्त्र पर, और स्यादिशब्दसमुच्चय नामक ग्रन्थ व्याकरण पर भी लिखे हैं जिन पर किसी अज्ञातकालीन जयानन्द ने टीकाएँ भी लिखी ऐसा कहा जाता है। प्रबन्धकोश में अमरचन्द्र के दो और ग्रन्थों के नाम भी दिए हैं यथा सूक्तावलि और कलाकलाप,[4] जो कि नष्ट हो गये प्रतीत होते हैं। पहला ग्रन्थ तो कदाचित् सुभाषितों का संग्रह ग्रन्थ था। परन्तु दूसरे को प्रबन्धकोष में शास्त्र कहा है। ऐसा लगता है कि यह हेमेन्द्र के कलाविलास का सा ही अनेक प्रकार की ललित कलाओं पर कोई ग्रन्थ होगा।

१, पृ० ४६ टि १२।

२. शुभविजय ने काव्यकल्पलता पर सन् १६०६ ई० में मकरन्द नामक एक टीका लिखी है (जिरको, पृ० ८६)।

३. काकल, पृ० १९,२८,६३,६७। देखो कापड़िया, पद्मानन्द महाकाव्य, प्रस्ता०, पृ० २८ और ४२; और जैसासंइ, पृ० ३७८ भी।

४. प्रको, पृ० ६२।

अमरचन्द्र का पद्म मन्त्री से सम्बन्ध

१०५. अमरचन्द्र के ग्रन्थों में पद्मानन्द महाकाव्य अथवा जिनेन्द्रचरित विशेष रूप से वर्णनीय है क्योंकि वह वस्तुपाल के अतिरिक्त साहित्यिक आश्रयदाता के संरक्षण में लिखा गया है। यह दूसरा आश्रयदाता था मन्त्री पद्म कि जिसका नाम उस ग्रन्थ के साथ सम्मिलित कर दिया गया है और जिसके घर में वह सिद्धसारस्वत मन्त्र की साधना करने को प्रबन्ध (पैरा १०२) में कहे अनुसार ठहरा था। पद्मानन्द की प्रशस्ति में अमरचन्द्र ने पद्म के सम्बन्ध मे बहुत सा विवरण दिया है कि जिससे हम अणहिलवाड़ के अभिजात्य कुल के सम्बन्ध में भी जो विद्या और साहित्य का खूब शौकीन था, बहुत कुछ जान सकते हैं। यह पद्म एक वायड़ वणिक कुल में जन्मा था और अमरचन्द्र ने उसकी वंशावलि का प्रारम्भ किसी वासुपूज्य नाम के व्यक्ति से किया है जो कि मन्त्री था। पद्म को वीसलदेव से श्रीकरणमुद्रा याने मन्त्री की मुद्रा प्राप्त हुई थी। उसका छोटा भाई मल्लदेव भी मन्त्री ही बताया गया है। वह वीसलदेव के सलाहकारो में कदाचित् हो और उसके उत्तराधिकारी अर्जुनदेव के काल में जिसने महामात्य पद प्राप्त कर लिया हो क्योंकि शिलालेखों के अनुसार अर्जुनदेव का महामात्य मल्लदेव नाम का ही कोई व्यक्ति था[1]। यह पद्म न केवल एक चतुर राजनीतिज्ञ ही था अपितु वह एक कवि भी था कि जो नए नए स्तोत्र बना कर तीर्थङ्करों की स्तुति करता था। उसके सामने अमरचन्द्र और गौरगुण नामक एक पण्डित के बीच शास्त्रार्थ भी हुआ था और अमरचन्द्र को विजय के उपलक्ष में उसने जयपत्र और ब्रह्मेन्दु का विरुद भी प्रदान किया था। इसी की प्रार्थना पर अमरचन्द्र ने पद्मानन्द महाकाव्य रचा। मूल में एक ही स्थान वायड़ा के निवासी होने के और एक ही गच्छ के अनुयायी होने के कारण ये दोनों व्यक्ति—एक गृहस्थ और दूसरा साधु—परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क में थे। इसलिए यह किंचिन्मात्र आश्चर्य की बात नहीं है कि अमरचन्द्र को पद्म से अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों मे बहुत उत्साह और सहायता भी मिली हो जैसे कि उसे वस्तुपाल से मिली थी। पद्मानन्द महाकाव्य का विषय है प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ का जीवनचरित्र, और इसीलिए वह जिनचरित भी कहलाता है। अमरचन्द्र ने इसके अतिरिक्त एक छोटा ग्रन्थ २४ तीर्थंकरों के जीवन पर प्रकाश डालनेवाला भी लिखा है कि जिसका 'चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि' नाम है।

---

१. वंग, भाग १, लं० १, पृ० २०६।

अमरचन्द्र के ग्रन्थों का कालक्रम

१०६. अमरचन्द्र के ग्रन्थों के कालक्रम के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किसी में भी उसकी रचना का काल नहीं दिया गया है। अन्दरूनी प्रकाश भी इस गुत्थी को सुलझाने को अधिक नहीं मिलता है। इतना ही कहा जा सकता है कि काव्यकल्पलतामंजरी, काव्यकल्पलतापरिमल, अलंकारप्रबोध और छन्दोरत्नावली की रचना काव्यकल्पलता वृत्ति की रचना के पूर्व ही हुई थी क्योंकि इस पिछले ग्रन्थ में इन सबका ही उल्लेख है[1]। फिर वृत्तियो के नामकरण से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मंजरी सबसे पहले लिखी जानी चाहिए और परिमल ठीक उसके पश्चात् ही। पद्मानन्द महाकाव्य वीसलदेव के राज्यारोहण की तिथि १२३८ और खंभात की प्रति की लेखन तिथि[2] १२४१ ई० (वि. सं. १२९७) के बीच कभी भी लिखा गया होना चाहिए। वीसलदेव के राज्यारोहण के पहले का लिखा हुआ वह इसलिए नहीं हो सकता है कि उसकी प्रशस्ति में राजा रूप से वीसलदेव का वर्णन है। इसी प्रकार उसकी प्रशस्ति की तिथि १२४१ ई० के बाद का भी वह नहीं हो सकता है। चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तानि चरितानि[3] से यह जाना जा सकता है कि इसके बाद ही पद्मानन्द महाकाव्य रचा गया था।

१०७. अमचन्द्र के बनाये कुछ सुभाषित प्रबन्धो में सुरक्षित हैं। वस्तुपाल की किसी एक संघयात्रा के समय अमरचन्द्र ऊँघ रहे थे, इसलिए वस्तुपाल ने उन्हें टोक दिया। परन्तु अमरचन्द्र ने अपने ऊँघ जाने का कारण जिस कविता द्वारा दिया उसमें उन्होने संघयात्रा की जाहोजलाली पर विष्णु और लक्ष्मी में हो रही परस्पर वार्ता का वर्णन कर दिया[4]। उसे सुनकर वस्तुपाल ने अमरचन्द्र का सिहासन कवियों में सबसे प्रथम रखा दिया। एक दूसरा श्लोक भी उपदेशतरंगिणी में उद्धृत है। एकदा वस्तुपाल अमरचन्द्र का उपदेश सुनने गए थे, परन्तु व्याख्यानशाला अर्थात् उपाश्रय के द्वार मे घुसते-घुसते उसने गुरु के मुख से निकली निम्न पक्ति सुनी—

---

१. छन्दोरत्नावलि के लिए देखो काकल, पृ० ६।

२. व्यूलर, इंएं, भाग ३१, पृ० ४८०।

३. पूर्वं श्रीवृषभादीनामर्हतां चरितानि ते।
पुरः श्रीपद्मसंक्षेपाद वच्ये विस्तरतस्तत;। (१. २)

४. लक्ष्मि प्रेयसि० (वच, ९. ९०)। पुप्रसं, पृ० ६२ में यह श्लोक नरचन्द्राचार्य का कहा गया है।

अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारङ्गलोचना।

सुनते ही कि आचार्य का मन स्त्रियो सम्बन्धी विचारों से पूर्ण है, ऐसा मान कर वस्तुपाल ने आचार्य को वन्दना नहीं की और वैसे ही बैठ गया। त्यों ही आचार्य ने दूसरा चरण इस प्रकार कहा—

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाल भवादृशाः।

इससे आश्चर्यचकित होकर वस्तुपाल ने उनका बहुत विनय के साथ वन्दन किया[1]।

अमरचन्द्र वेणी-कृपाण भी कहालाते थे

१०८ जैसे संस्कृत साहित्य में कालिदास, दीपशिखा-कालिदास कहलाता है माघ, घण्टा-माघ और हर्ष अनंगहर्ष कहलाते है, वैसे ही अमरचन्द्र भी वेणी-कृपाण (प्रको, पृ. ६२) कहा जाता है क्योंकि बालभारत के एक सुन्दर श्लोक में उसने नवयुवति के वेणी-विन्यास की तुलना कामदेव के कृपाण से की है[2]।

मन्दिर में अमरचन्द्र की मूर्ति का स्थापन

१०९. अणहिलवाड़ के एक जैनमन्दिर में अमरचन्द्र की प्रतिमा वि. सं. १३४९=१२९३ ई० की किसी पण्डित महेन्द्र के शिष्य मदनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित है[3]। यह प्रतिमा इसकी साक्षी है कि अमरचन्द्र को पण्डितो में और साहित्य के क्षेत्र में कितना महत्व का स्थान प्राप्त था और जैनधर्म मे भी। हालाँकि वह किसी भी जैन गच्छ का नायक या आचार्य नही था, फिर भी उसकी मृत्यु के अनन्तर काल मे ही उसकी प्रतिमा जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित होकर पूजी जाने लग गई थी।

---

१. उपदेशतरंगिणी, पृ० ७४। प्रको, पृ० १०९–१११ और वच. ४८५ आदि में यह घटना स्तम्भतीर्थ के स्तम्भन पार्श्वनाथ चैत्य के अधिष्ठायक मल्ल-वादी की बताई गई है, जब कि पुप्रसं, पृ० ७६ में यही भृगुकच्छ के मुनि सुव्रत स्वामी चैत्य के बालहंससूरि की कही गई है। परन्तु हमे स्मरण रखना चाहिए कि मल्लवादी वल्लभी युग में हुए थे (पैरा ८) और वीरसूरि और उनके शिष्य जयसिंहसूरि वस्तुपाल के समय में मुनिसुव्रत चैत्य के अधिकारी होंगे (पैरा १२६) और इसलिए उपदेशतरंगिणी की कही बात विशेष विश्वस्त दीखती है। ऐसा मैंने अपनी अंग्रेजी पुस्तक में लिखा है किन्तु बाद के सशोधन से पता चलता है कि स्तम्भतीर्थ के अधिष्ठाता मल्लवादी थे यह सच है— देखो १७ वीं प्राच्य विद्यापरिषद की रिपोर्ट में डॉ० उमाकान्त का लेख।

२. आदिपर्व, ११. ६। इसी भाव के श्लोक के लिए देखो आदिपर्व ३.६३।

३. प्राजैलेस, सं० ५२३।

(८) विजयसेनसूरि

जीयाद् विजयसेनस्य प्रभोः प्रातिभदर्पणः ।
प्रतिबिम्बितमात्मानं यत्र पश्यति भारती ॥—उदयप्रभसूरि[1]
मुनेर्विजयसेनस्य सुधामधुरया गिरा ।
भारतीमंजुमंजीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥—सोमेश्वर[2]

विजयसेनसूरि—वस्तुपाल के कुलगुरु

११०. विजयसेनसूरि नागेन्द्रगच्छ के आचार्य थे और वस्तुपाल के पितृपक्ष के कुलगुरु होने से वस्तुपाल के बनवाये मन्दिरों में मूर्तियो का प्रतिष्ठा महोत्सव उन्हीं के करकमलों से हुआ था। विजयसेनसूरि के उपदेश और सलाह का ही फल है कि वस्तुपाल और तेजपाल ने संघयात्राएँ कीं, ग्रंथभण्डार स्थापित किए और मन्दिर निर्माण कराए।[3]

नगेन्द्रगच्छ की पट्टावलि

१११. नगेन्द्रगच्छ की गुर्वावलि विजयसेनसूरि के शिष्य श्री उदयप्रभसूरि ने धर्माभ्युदय महाकाव्य की प्रशस्ति में और उपदेशमाला की अपनी टीका के अन्त मे दी है। उदयप्रभ ने इसका प्रारम्भ आचार्य महेन्द्रसूरि से किया है, जो आगमों के महान पण्डित और न्यायशास्त्र में परम पारंगत थे। उनके शिष्य थे शांतिसूरि जिनने दिगम्बरो को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनके दो शिष्य थे, आनन्दसूरि और अमरचन्द्रसूरि। ये दोनों धर्म गज के द्वि-दन्त समान और साहित्य के अगाध सागर में मन्दराचल समान थे। उनने बचपन में ही प्रतिवादी तार्किकों को पराजित कर दिया था, इसलिए सिद्धराज जयसिंह द्वारा ये 'सिंहव्याघ्रशिशुकौ' कहलाए। तदनन्तर हरिभद्रसूरि हुए जो अपने अगाध ज्ञान के कारण 'कलिकाल गौतम' कहलाए। उनके शिष्य थे विजयसेनसूरि जिनकी वाणी संसार-स्थिति की वह्नि को बुझाने में मेघवारि के समान थी। प्रशस्ति से हमें यह भी पता चलता है कि अणहिलवाड़ में रहते हुए विजयसेन सदा पंचासरा पार्श्वनाथ के मन्दिर में बैठ कर ही अपना उपदेश देते थे, जो नगर के संस्थापक वनराज द्वारा बनवाया हुआ माना जाता है।

---

१. धर्माभ्युदय, १. १४। २. कीकौ, १. २३।

३. वच, ५. ४२० आदि; ६. ६३ आदि और ६१३ आदि; ७. २३२ आदि; ८. १ आदि।

वस्तुपाल के परिवार से विजयसेनसूरि का घनिष्ठ सम्बन्ध

११२. वस्तुपाल के परिवार से विजयसेनसूरि के सम्बन्ध बड़े ही घनिष्ठ और हार्दिक थे। वे उस परिवार के कुलगुरु या कुलोपदेशक थे। मेरुतुङ्ग ने इनकी इस घनिष्ठता की एक घटना का वर्णन किया है। वह कहता है कि तेजपाल की पत्नी अनुपमादेवी जब मर गई तो तेजपाल के शोक की गाँठ दिन प्रतिदिन गहरी घुलती ही गई और वह दूर नहीं की जा सकी। तब आचार्य विजयसेन ने आकर उसका शोक शांत किया। तेजपाल ने भी जब अपने शोक पर कुछ काबू पा लिया तो उसे स्वयं को ही अपने ऊपर लज्जा आने लगी। उस समय आचार्य ने भी उससे कहा, 'हम भी तुम्हारे इस दम्भ को देखने आए थे।' यह सुनकर वस्तुपाल ने जिज्ञासा की कि ऐसा गुरु क्यों कहते हैं? गुरु ने तब इस प्रकार उत्तर दिया, 'जब तेजपाल बालक ही था, तब मैंने धरणिग से अनुपमा देवी का इससे विवाह कर देने को कहा था और वह सम्बन्ध पक्का भी हो गया। इसके पश्चात् तेजपाल को अनुपमादेवी के सुन्दर न होने की बात मालूम पड़ी। अतः यह सम्बन्ध तोड़ने के लिए इसने चन्द्रप्रभु स्वामी के मन्दिर के क्षेत्रपाल को आठ द्रम्म के मूल्य के नैवेद्यादि बलि चढ़ाए थे। परन्तु आज यह उसके वियोग दुःख से विपन्न है। अब तुम्हीं बताओ दोनों में से कौन बात सच हो सकती है? जब तेजपाल को यह पुरातन कथा स्मरण कराई गई तो उसने अपना हृदय कठोर कर लिया'[1]।

विजयसेन—पण्डित और कवि

११३. आचार्य विजयसेन के कहने पर वस्तुपाल वृद्ध तपागच्छ[2] श्री जगच्चन्द्रसूरि को वन्दना करने गया और उनका व उनके शिष्यों का उसने सम्मान भी किया। विजयसेन महान् पण्डित थे। समरादित्य-संक्षेप (१२६८ ई०) के रचयिता प्रद्युम्नसूरि को न्यायशास्त्र इन्होंने पढ़ाया था[3], और बालचन्द्र की विवेकमंजरी-टीका का भी इन्होंने संशोधन किया था[4]। उपदेशतरंगिणी में वस्तु-

---

१ यह अंश टानी (Tawny) पृ. १६७ से यहाँ वहाँ सुधार कर उद्धृत किया गया है। देखो प्रचि (संस्कृत) पृ. १०४-५ भी।

२. वच, ८. ३१ आदि। यहाँ यह सूचना कर देना आवश्यक है कि जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य विजयचन्द्रसूरि साधु होने के पूर्व वस्तुपाल के घर में हिसाब-किताब लिखने वाले मेहता जी थे (मुनिसुंदरसूरि की गुर्वावलि, श्लोक १२२-२५)।

३. समरादित्य-संक्षेप, १. २४। ४ पिटरसन प्रतिवेदना ३, पृ. १००।

पाल की प्रशंसा का एक श्लोक (पृ. ७६ – देव स्वर्नाथ कष्टं०) इन्हींका रचा हुआ बताया जाता है, परन्तु यह बात विश्वास नहीं की जा सकती है क्योंकि यही श्लोक नरेन्द्रप्रभ के गिरनार शिलालेख के काव्यांश का सातवाँ (प्राजैलेसं, सं. ४–४; गुऐशि, सं. २१०) और उसी की वस्तुपालप्रशस्ति का सत्ताइसवाँ भी है[1]। विजयसेन की अन्य कोई भी संस्कृत कृति आज तक नहीं मिली है। परन्तु समकालिक लेखकों द्वारा उनकी काव्यकला का जो वर्णन किया गया है है उसका विचार करते हुए यह बहुत संभव है कि उन्होंने अवश्य ही महत्त्व के संस्कृत काव्य रचे होंगे। उनका लिखा अपभ्रंश भाषा का रेवंतगिरि रासु हमें प्राप्त है। यह वस्तुपाल की गिरनार यात्रा के समय लिखा गया था।

विजयसेन का निधन

११४. बड़ोदा के समीपस्थ छाणी के जैन भण्डार में प्राप्त पिण्ड-निर्युक्ति की प्रति की प्रशस्ति के अनुसार विजयसेन सूरि का निधन वि सं. १३०१ = १२४५ ई० में हुआ[2]। यह प्रति नागेन्द्र गच्छ के किसी साधु द्वारा लिखी हुई मालूम पड़ती है क्योंकि प्रशस्ति में उसी गच्छ के साधुओं के महेन्द्रसूरि से प्रारंभ होती गुर्वावलि काव्य द्वारा दी गई है और इसलिए इसमें दी गई तिथि पर विश्वास किया जा सकता है।

(६) उदयप्रभसूरि

गुरोस्तस्याशिषां पात्रं सूरिरस्त्युदयप्रभः।
मौक्तिकानीव सूक्तानि भान्ति यत्प्रतिभाम्बुधेः ॥—सोमेश्वर[3]

उदयप्रभ—वस्तुपाल से अवस्था में छोटे थे

११५. विजयसेनसूरि के शिष्यों में प्रमुख उदयप्रभसूरि थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे वस्तुपाल से उम्र में बहुत छोटे थे, क्योंकि वस्तुपाल ने भिन्न भिन्न विषयों को पढ़ाने के लिए दूर-दूर के गणमान्य पण्डितों और विद्वानों को बुलाया था[4]।

---

१. प्रको, पृ. ५६ मे यही श्लोक हरिहर का कहा बताया गया है और वच, ५. ४०३ में किसी अज्ञात कवि का।

२. १०३१

इन्दुखाग्निविधुसंख्यवत्सरे ज्येष्ठकृष्णनवमं तिथौ निशि।
स्व पुरीमलमकार्पु[र]र्हतां ध्यानतो विजयसेनसूरय. ॥ श्लो ० ५।

३. आबू प्रशस्ति, श्लोक ७। ४. पुप्रसं, पृ. ६४।

वस्तुपाल ने ही उनके आचार्य पद प्रदान का महोत्सव बहुत धन खर्च करके कराया था[१]।

उदयप्रभ की साहित्यिक कृतियाँ

११६ उदयप्रभसूरि की प्रमुख कृति धर्माभ्युदय महाकाव्य याने संघपति-चरित है जो कदाचित् वस्तुपाल की महान् यात्रा के अवसर पर सन् १२२१ ई० रचा गया था हालाँकि रचयिता ने न तो रचना काल ही उसमें स्वयं लिखा है और न किसी यात्राविशेष का ही उसमें लक्ष्य किया है। कुछ भी हो, यह सन् १२३४ = वि० सं० १२६० के पहले की रचना तो अवश्य ही होनी चाहिए क्योंकि इस तिथि की लिखी इसकी एक प्रति वस्तुपाल के हाथ की ही, खम्भात के जैन भण्डार में सुरक्षित है। उदयप्रभ का नेमिराज चरित (जिरको पृ० २१७; जैसासंइ, पृ० ३८६) स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु इसी धर्माभ्युदय काव्य का (सर्ग १०–१४) ही एक अंश है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि नेमिनाथ चरित्र के ग्रन्थाग्र २१०० बताए गये है (जिरको, पृ. २१७) और धर्माभ्युदय के पाँच सर्गों की कुल श्लोक संख्या भी २१४२ है और यदि हम प्रतिलिपिकार के हाथों से यहाँ वहाँ के कुछ श्लोक की भूल-चूक होना भी स्वीकार कर लें तो यह संख्या लगभग सम कही जा सकती है। उदयप्रभ की दूसरी रचनाओं में हम वस्तुपाल और तेजपाल के सुकृतों की प्रशंसक दो स्तुतियाँ—सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी और वस्तुपालस्तुति गिना सकते हैं। पहली तो सन् १२२१ ई० की वस्तुपाल की संघ-यात्रा के समय की रची और वस्तुपाल के बनाए शत्रुंजय पहाड़ पर के इन्द्र-मण्डप में एक शिला पर उत्कीर्ण कर दी गई थी[२]। सन् १२४३ ई० = वि० सं० १२९९ में उदयप्रभ ने धर्मदासगणि की सुप्रसिद्ध प्राकृत रचना 'उपदेश-माला' (नवीं सदी पहले की) पर कर्णिका नाम की टीका भी लिखी जब कि वह धवलक में बनाए वस्तुपाल के उपाश्रय में ठहरा हुआ था[३]। जैसा कि उसकी प्रशस्ति में लिखा है यह टीका लेखक के गुरु विजयसेनसूरि के सुझाव से लिखी गई थी और उसकी पहली प्रतिलिपि देवबोध नामक पण्डित द्वारा की गई थी। कनकप्रभसूरि के शिष्य और समरादित्य-संक्षेप के रचयिता प्रद्युम्नसूरि द्वारा यह संशोधित की गई थी। उदयप्रभ के पाण्डित्य की छाप अन्य क्षेत्रों में भी

---

१. वच, ७. ६०-६१। २. सुकीक, श्लोक १६५–६७।

३. सेय पुरे धवलके नृपवीरवीरमन्त्रीशपुण्यवसतौ वसतौ वसद्भिः।
वर्षे ग्रह-ग्रह-रवौ कृतमार्कसंख्यैः श्लोकैर्विशेषविवृतिर्विहिताऽद्भुतश्रीः॥
—'कर्णिका', प्रशस्ति।

पाई जाती है। फलित-ज्योतिष का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'आरम्भसिद्धि' भी इसी की रचना है। पाटण के खेतरवसी भण्डार में सुरक्षित ४७ गाथाओं का एक अपूर्ण ग्रन्थ भी इसी उदयप्रभ का रचा हुआ है। इसका नाम कदाचित् 'शब्दब्रह्मोल्लास' है जैसा कि उसके द्वितीय श्लोक (प्रमोदयप्रभः शब्दब्रह्मोल्लासः प्रकाशताम्) से अनुमान किया जा सकता है। प्राप्त श्लोक प्रायः सब ही मांगलिक हैं और यह निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है कि इसका प्रतिपाद्य विषय क्या होना चाहिए। सम्भव है कि यह व्याकरण दर्शन पर ही कोई ग्रन्थ हो जैसा कि उसके नाम से अनुमान हो सकता है। वस्तुपाल के गिरनार शिलालेख के श्लोक उदयप्रभ रचित हैं[1]। सन् १२२५ ई० (वि. सं. १२८१) में स्तम्भतीर्थ में वस्तुपाल द्वारा बनवाई गई औषधशाला की १६ श्लोक की प्रशस्ति भी उदयप्रभ की लिखी हो है[2]। और प्रबन्धों में भी उसके नाम से कुछ श्लोक दिए गए हैं[3]। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जैन-दर्शन के प्रमुख ग्रंथ स्याद्वादमंजरी, जो हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका पर टीका है, का रचयिता मल्लिषेण (१२९२ ई०) भी इसी उदयप्रभसूरि का शिष्य था (जिरको, पृ १२; पिटरसन, प्रतिवेदना ४, पृ. १२५)। उदयप्रभ कि जिसने नेमिचन्द्र[4] के प्रवचनसारोद्धार पर टीका और कर्मविचार, कर्मस्तव और शतक नामक तीन कर्मग्रन्थों पर टिप्पण लिखा है, वह रविप्रभसूरि[5] का शिष्य था और इसलिये इस उदयप्रभसूरि से वह भिन्न है। यह दूसरा उदयप्रभ हमारे उदयप्रभ से प्राचीन भी है। उसका काल बारहवीं सदी ईसवी है[6]।

---

१. गुऐशि, सं. २१२; प्राजैलेसं, सं. ४३-६।

२, अनाल्स, भाग ६, पृ. १७७।

३. पुप्रसं, पृ. ७१; उत, पृ. १४२।

४. पिटरसन, प्रति, ३, पृ. २६२; (जिरको, पृ. २७२)।

५. देखो शतक के टिप्पण के अन्त में—

स्वपरसमयज्ञानप्रीतिप्रहृष्टजगज्जनाश्चतुरवचनामोदमृष्टामरेशगुरुप्रभाः।
अभिनृपसमं गंगागौरप्रनर्त्तितकीर्त्तयस्तदनु महसः पात्रं यातारविप्रभसूरयः॥
तच्छिष्यः स्वपरकृते श्रीशतकस्य टिप्पनम्।
श्रीउदयप्रभसूरिश्चकार शुभमङ्गलम्॥

इसी प्रकार के श्लोक कर्मविपाक और कर्मस्तव के टिप्पण के अन्त में भी देखे जाते हैं (देखो प्रति नं. २१७३ प्रवर्तक कांतिविजयजी शास्त्रसंग्रह, वड़ोदा),।

६. जैसासंइ, पृ. २५।

(१०) जिनप्रभ

११७. जिनप्रभ उदयप्रभसूरि का ही शिष्य था। इसके विषय में और कोई भी जानकारी हमें नहीं है। परन्तु इतना तो हम निश्चय ही जानते हैं कि इसने सन् १२३४ ई० (वि० सं० १२६०) में एक ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों का संग्रह प्रबन्धावली वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के पठनपाठन के लिए तैयार की थी[1]। आज यह जिस रूप में प्राप्त है उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता है और कुछ क्षेपक भी हैं (देखो पैरा २३४)। फिर भी गुजरात के इतिहास पर इसमें पर्याप्त सामग्री है और इसीलिये आचार्य जिनविजयजी ने इसे पुरातन प्रबन्ध संग्रह पुस्तक में सम्मिलित कर लिया है।

(११) नरचन्द्रसूरि

नरचन्द्रमुनीन्द्रस्य विश्वविद्यामयं महः।
चतुरन्तधरित्रीशसभ्यैरभ्यर्चितं स्तुमः॥—उदयप्रभसूरि[2]

कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च नरचन्द्रो जयत्यसौ।
प्रशस्तिर्यस्य काव्येषु संक्रान्ता हृदयादिव॥—सोमेश्वर[3]

११८. हर्षपुरीय या मलधारगच्छ के देवप्रभसूरि[4] का शिष्य यह नरचन्द्रसूरि था। वह वस्तुपाल का मातृपक्ष से गुरु[5] था और विजयसेनसूरि एवं उनके शिष्य का निकट संपर्की था। वस्तुपाल इसको बहुत मानता था। इसने वस्तुपाल को तीनों विद्याएँ—न्याय, व्याकरण और साहित्य, और जैन शास्त्र षडावश्यक और कर्मप्रकृति[6] पढ़ाए थे। अपनी किसी संघयात्रा में, वस्तुपाल ने

---

१. पुप्रसं, पृ. १२६।

२. धर्माभ्युदय, १. १३। ३. कीकौ १. २२।

४. देवप्रभसूरि ने महाभारत के जैन संस्करण याने पाण्डवचरित की रचना की, और मुरारि के अनर्घराघव नाटक पर टीका एवं अन्य भी अनेक ग्रन्थ रचे थे। प्रबन्धों में कहा गया है कि वह अपने उपदेशों में ब्राह्मण शास्त्रों के प्रमाण दिया करते थे। उनके उपदेश को सुन कर राजा वीरधवल ने शिकार करना छोड़ दिया और मांस व मदिरा सेवन का भी त्याग कर दिया था (वच, ५. ३४८ आदि; प्रको, ११२)। जगच्चन्द्रसूरि भी जैनागमों की व्याख्या करने में देवप्रभ द्वारा परिचालित थे (वच, ७. ३२०)।

५. वच, १. ६२; प्रको, पृ. ११२। ६. प्रको, पृ. ११२।

उसे अपना वासक्षेप संस्कार करने की प्रार्थना की। परन्तु अपने आचार की दीर्घ दृष्टिवाले नरचन्द्र ने उसके लिए इन्कार कर दिया और उसके ही कहने से वस्तुपाल ने अपने पितृपक्षी गुरु विजयसेन और उदयप्रभ को पिलुपद्र या पिलुआई (बीकानेर राज्य के हनुमानगढ़ से कुछ दूरस्थित, आधुनिक पीलू कदाचित्) मारवाड़ से बुला भेजा[1]। नरचन्द्र वस्तुपाल के साथ कितनी ही तीर्थयात्राओं में गया था।

नरचन्द्र की साहित्यिक कृतियाँ

११६. नरचन्द्र एक महान् पण्डित था। न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष इन चारो शास्त्रों में वह पूर्ण निष्णात था। न्याय में श्रीधर की न्यायकन्दली पर विद्वत्तापूर्ण टिप्पण, व्याकरण का प्राकृत व्याकरण प्रबोध नामक महानिबंध, साहित्य में मुरारि[2] के अनर्घराघव पर टिप्पण और ज्योतिष में जैन फलित ज्योतिष का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ज्योतिःसार याने नारचन्द्र ज्योतिःसार जो संक्षेप में नारचन्द्र भी कहा जाता है,[3] इसने लिखे हैं। खेद यह है कि इस ज्योतिःसार

१. वच, ५, ४२०; प्रको, ११२।

२. इस टिप्पण को लिखने में नरचन्द्र की सहायता एक विमलसूरि ने की थी; प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक इस विषय में दर्शनीय है—

शब्दप्रमाणसाहित्यत्रिवेणीसङ्गमश्रियाम्।
श्रीमद्विमलसूरीणामिदमुद्यमवैभवम् ॥

३. तुलना करो न्यायकन्दली पंजिका (लगभग १२४६ ई.) नरचन्द्र के विषय में राजशेखरसूरि के विचार।

टिप्पनमनर्घराघवशास्त्रे किल टिप्पनं च कन्दल्याम्।
सारं ज्योतिषमद्भुतः प्राकृतदीपिकामपि च ॥
—पिटरसन, प्रतिवे, ३ पृ. २७५।

यहाँ यह भी जानने की बात है कि प्रश्नशतक (११७८ ई.), ज्योतिषचतुर्विंशिका और जन्मसमुद्र के लेखक नरचन्द्र कासहृद गच्छ के एक जैन साधु और सिंहसूरि का शिष्य था, और इसलिए हमारे नरचन्द्र से वह भिन्न था। देखो प्रश्नशतक की प्रशस्ति—इति श्रीकासहृदगच्छीयश्रीसिंहसूरिशिष्यश्रीनरचन्द्रोपाध्यायकृतायां ज्ञानदीपिकासंज्ञायां प्रश्नशतकवृत्तौ वृत्तिवेडालघुभगिन्यां वृष्टिवार्तादिप्रकीर्णकफललक्षणो नाम सप्तमः प्रकाशः ॥छ॥ ज्ञानदीपिकानामवृत्तिः समाप्ता ॥ जन्मप्रकाशं कवितत्त्वलेशं प्रश्नप्रकाशं नरचन्द्रनामा। योऽध्यापकः प्रश्नशतं स चक्रे कासहृदोजन्मसमुद्रवृत्तीः ॥

के दो अध्याय ही अब मिलते हैं और अज्ञाततिथेय एक सागरचन्द्र ने इन्हीं दो अध्यायों पर टीका की है इससे यह भी कहा जा सकता है कि उसको भी यह पूर्ण पुस्तक प्राप्त नहीं थी। जैनधर्म सम्बन्धी कथानक सुनने की वस्तुपाल की उत्कंठा को शांत करने के लिए ही इस नरचन्द्र ने अनेक धर्मकथावाला कथारत्नाकर या कथारत्नसागर नामक ग्रंथ रचा[1]। पाटण के भण्डार में नरचन्द्र की लिखी चतुर्विंशति जिनस्तोत्र की भी एक प्रति होने का पिटरसन[2] ने नोंध किया है परन्तु मुझे उस नगर के किसी भी भण्डार में इसका पता नहीं मिला। सर्व-जिन-साधारण-स्तवन नाम की नरचन्द्र की एक स्तुति जैन-स्तोत्र संदोह के पृष्ठ २०-२२ में पाई जाती है। सम्भव है यही वह हो जिसकी कि पिटरसन ने नोंध की है। वस्तुपाल के गिरनार के दो लेखों के पद्यांश भी नरचन्द्र रचित[3] हैं और वस्तुपालप्रशस्ति भी उसी की है। यह भी कहते हैं कि नरचन्द्र ने अपने गुरु देवप्रभसूरि रचित पाण्डवचरित्र और उदयप्रभसूरि के धर्माभ्युदय का संशोधन भी किया था जैसा कि इन दोनों ही ग्रन्थों के अन्त में कहा गया है। इसने प्रद्युम्नसूरि[4] को उत्तराध्ययनसूत्र की वाचना भी दी थी कि

(प्रति नं. २१६४, प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी संग्रह, वडोदा।)

ज्योतिषचतुर्विंशिका की प्रशस्ति—

श्रीकासहृदगच्छपोऽर्बुदगिरिन्यस्तादिनाथः पुरा। चैकाकी नवमासकल्पविकृतिः श्रीसिंहसूरिप्रभुः। तन्नामप्रतिमाभिधो गुरुरभूद् गोत्रेऽस्य शिष्यः श्रुतस्तेनायं चतुरार्थमर्थबहुला चक्रे चतुर्विंशतिः। इति नरचन्द्रोपाध्यायकृता चतुर्विंशतिका सम्पूर्णा ॥ छ ॥

(प्रति नं. ५१०१, श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर पाटण।

१. अन्येद्युर्भक्तितो मौलौ निधाय करकुण्डलम्। तेन विज्ञपितः श्रीमान् नरचन्द्रमुनीश्वरः ॥ युष्माभिः स्वकराम्बुजस्य शिरसि न्यस्तस्य माहात्म्यतः, प्राप्तं जन्मजितोऽपि दुर्लभतरं संघाधिपत्यं मया। धर्मस्थानशतानि दानविधयस्ते ते च सन्तेनिरे, चेतः सम्प्रति जैनशासनकथाः श्रोतुं समुत्कण्ठते ॥ इत्यभ्यर्थनया चक्रे वस्तुपालस्य मन्त्रिणः। नरचन्द्रमुनीन्द्रास्ते श्रीकथारत्नसागरम् ॥

—कथारत्नाकर, १. ८-१०।

२. पिटरसन, प्रतिवे., ५, पृ ६६।

३. गुऐशि, स० २०८ व २११; प्रोजैलेसं, सं० ३६-२ और ४१-५।

४. समरादित्य-संक्षेप, १. २३।

जिसका वर्णन पहले ही (पैरा ११३ और ११६) किया जा चुका है। प्रबन्धों में नरचन्द्र के रचित माने जाने वाले कितने ही श्लोक दिए गए हैं[१]। शत्रुंजय पर अपनी माता की मूर्ति को देखकर वस्तुपाल के शोक के शमनार्थ धैर्य का जो उपदेश उसने दिया था वह बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। परन्तु वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व का है क्योंकि उसमें राजा सिद्धराज जयसिंह की ऐसी ही घटना का भी उल्लेख है[२]।

नरचन्द्र का मृत्यु समय

१२०. प्रबन्धकोश के अनुसार नरचन्द्रसूरि का निधन भाद्रपद कृष्णा १० वि० सं० १२८७=१२३१ ई०[३] हुआ था। प्रबन्ध में यह भी लिखा है कि मृत्यु के कुछ काल पूर्व नरचन्द्रसूरि ने वस्तुपाल के मृत्यु के वर्ष की भी घोषणा कर दी थी[४]।

(१२) नरेन्द्रप्रभसूरि

तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुनरेन्द्रप्रभः प्रभावाढ्यः।
योऽलंकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ॥—राजशेखरसूरि[५]

वस्तुपाल की प्रार्थना पर अलंकारमहोदधि की रचना

१२१. एकदा वस्तुपाल ने श्रद्धा से हाथ जोड़कर नरचन्द्रसूरि से ऐसा कहा 'अलंकार के कुछ ग्रंथ ग्रहण करने में बड़े कठिन हैं क्योंकि वे लंबे हैं तो दूसरे बहुत छोटे होने से पर्याप्त स्पष्ट नहीं हैं। दूसरे कुछ ग्रन्थों में विषयान्तर की भी बहुत बातें हैं और वे कठिनाई से ही समझे जा सकते हैं। मैं ऐसे ग्रंथों को सुनते सुनते थक गया हूँ जिनमें अलंकारकला की यथार्थ प्रकृति के विषय में कोई भी निर्णय नहीं दिया गया है। इसलिए कृपा कर मुझे ऐसे शास्त्र का ज्ञान कराइए जो अत्यन्त लम्बा न हो, जिसमें अलंकार का सार हो और जो साधारण बुद्धि-वाला भी समझ सके।' यह सुनकर आचार्य ने अपने शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को ऐसा ग्रंथ रचने का आदेश दिया और उसने अलंकार महोदधि कारिका और

---

१. पुप्रस, पृ. ६६; प्रको, पृ. ११५; वच, ६.७५,३७२; उपत, पृ. ७३।

२. प्रको, पृ. ११५; वच, ६. ४६८ आदि।

३. प्रको, पृ. १२७। ४. वच, ८. ४४०–४२।

५. पेटर्सन, प्रतिवेदना ३ के पृ. २७५ में उद्धृत न्यायकन्दली-पंजिका की प्रशस्ति।

वृत्त वस्तुपाल के प्रीत्यर्थं[1] रच दिया। यह ग्रंथ रचयिता के ही कथनानुसार वि. सं. १२८२ = १२२६ ई० में रचा गया था।

नरेन्द्रप्रभसूरि की अन्य कृतियाँ

१२२. अलंकारमहोदधि के अतिरिक्त भी, नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'काकुत्स्थकेलि' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की थी जैसा कि राजशेखरसूरि की न्यायकन्दली-पंजिका से उद्धृत उपर्युक्त श्लोक से पता चलता है। प्राचीन भण्डार[2] की एक सूची से भी हमें पता लगता है कि काकुत्स्थकेलि एक नाटक था और उसका ग्रंथमान या ग्रन्थाग्र १५०० श्लोक था[3]। इस सूची में नाटक के विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता है, फिर भी ग्रन्थ के नाम से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका विषय राम के इतिहास से सम्बन्धित हो क्योंकि संस्कृत कवियों का सदा यह प्रिय विषय रहा है। इसकी कोई प्रति अद्यावधि मिली नहीं है। इनकी रची हुई वस्तुपाल पर दो स्तुतियाँ वस्तुपाल प्रशस्ति के नाम से एक १०४ श्लोक की और दूसरी ३७ श्लोक की भी है। बहुत सम्भव है कि लंबी प्रशस्ति वस्तुपाल की किसी संघयात्रा के समय शत्रुंजय पर रची गई हो और इसका समर्थन जिस प्रकार से इसमें शत्रुंजयगिरि का निर्देश रचयिता द्वारा किया है, उससे भी होता है। (अत्रैव शैले रचयांचकार मनोज्ञमाखण्डलमण्डपं यः० श्लोक ७८; अत्रैव शत्रुंजयशैलमौलौ० श्लोक ८२)। इसका एक और भी समर्थन मिलता है और वह यह कि श्लोक ७७ से ९८ तक में यात्राकाल में किए हुए वस्तुपाल के लोकोपयोगी और धार्मिक सुकृत्यों को गिनाया गया है। इसी भाँति यह भी अनुमान करना हमारे लिए उचित होगा कि छोटी वस्तुपाल प्रशस्ति भी उक्त संघयात्रा के प्रारंभ के समय ही रची गई होगी क्योंकि उसके अन्तिम श्लोक में संघयात्रा के प्रारंभ का उल्लेख तो है परन्तु और विशेष ब्यौरा कुछ भी नहीं है। शेष सारा का सारा ही काव्य मंत्रियों की तथाकथित प्रशंसा में ही पूरा हुआ है। इस प्रकार हम विश्वास कर सकते हैं कि नरेन्द्रप्रभसूरि यात्रा के सार्थ में साथ साथ

---

१. अम, पृ. ३।　　　　२. पुत, पु०, २, पृ. ४२६।

३. यह एक प्रख्यात बात है कि ग्रन्थाग्र की यह युक्ति जैन लेखकों और नकलकारों द्वारा ही विशेष रूप से उपयोग में लाई गई है। साहित्यिक कृतियों का परिमाण बतानेवाले इसकी इकाई अनुष्टुप है और किसी भी ग्रन्थ के चाहे वह गद्य में हो या पद्य में, अनुष्टुपों की संख्या गिनने के लिए ३२ अक्षरों का श्लोक माना गया है।

थे और उसने इन दोनों स्तुतियों में से छोटी तो यात्रा के प्रारम्भ होते ही और दूसरी लंबी यात्रा को शत्रुंजय पर समाप्ति होने पर लिखी थी। इसके अतिरिक्त गिरनार के वस्तुपाल के एक शिलालेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभ रचित हैं[१]। उसने धार्मिक विषयों पर भी, विवेक-पादप और विवेककलिका नाम के दो सुभाषित संग्रह हैं जिनसे हमें पता चलता है कि उसका कवि-उपनाम 'विबुधचन्द्र' था[२]।

(१३) बालचन्द्र

वाग्वल्लीदलदस्यवः कति न ते सन्त्याखुतुल्योपमाः
सत्योल्लेखमुखैः स्वकोष्टपिठरीसम्पूर्तिधावर्द्धयः।
सोऽन्यः कोऽपि विदर्भरीतिबलवान् बालेन्दुसूरिः पुरो
यस्य स्वर्गिपुरोहितोऽपि न गवां पौरोगवस्तादृशः॥

—अपराजित कवि[३]

बहुप्रबन्धकर्तुः श्रीबालचन्द्रस्य का स्तुतिः।
मन्त्रीशवस्तुपालेन यः स्तुतः कवितागुणात्॥

- प्रद्युम्नसूरि[४]

बालचन्द्र की गुर्वावली

१२३. बालचन्द्र चन्द्रगच्छ के हरिभद्रसूरि का शिष्य था। उसने अपने गुरुओं की लंबी गुर्वावली आसड की उपदेशकन्दली और विवेकमंजरी की अपनी वृत्तियों की प्रशस्तियों में दी है (पाभंसू, पृ. ३२६–३३; विमंटी, पृ. २१५ आदि)। इस चन्द्रगच्छ में एक प्रद्युम्नसूरि नाम के आचार्य हो गए जिन्होंने तलवाटक (बांसवाड़ा राजस्थान से ८ मील पश्चिम स्थित आधुनिक तलवाड़ा) के राजा को उपदेश दिया था। उनके पट्टधर चन्द्रप्रभसूरि हुए जिन्होंने जिनेश्वर की एक प्रभाती स्तुति रची थी। उनके बाद धनेश्वरसूरि हुए जिनको अपने गुरु से एक मंत्र प्राप्त हुआ था और उन्होंने समयुपुर (पाटण के समीप का आधुनिक समौ) की देवी को सम्यक्त्व का ज्ञान कराया। उनके चार शिष्य थे,

---

१. गुऐले, सं० २१०; प्राजैलेस, स० ४१–४।

२. पाभंसू, पृ. १८७ आदि।

३. यह श्लोक पाटण के भण्डार की बालचन्द्र के वसन्तविलास की एक प्रति के अन्त में लिखा हुआ पाया गया है (ववि, पृ. ७६)। इसका लेखक अपराजित कवि कब हुआ और वह कौन था, यह कुछ भी ज्ञात नहीं है।

४. समरादित्य सक्षेप, १. २६।

यथा वीरभद्र, देवसूरि, देवभद्र और देवेन्द्रसूरि जो सरस्वती के चार भुजाओं के समान थे। देवेन्द्रसूरि मण्डली मे रहते थे और उन्होंने वहाँ महावीर भगवान् के एक मन्दिर में प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। उनके पट्टधर हुए भद्रेश्वरसूरि और उनके बाद हुए अभयदेवसूरि जिसने शास्त्रार्थ में अनेक वादियो को पराजित किया था। कवि आसड ने अभयदेवसूरि[1] के उपदेशामृत का पान किया था और उसके पश्चात् उसने अपने दो ग्रंथों विवेकमंजरी और उपदेशकन्दली की रचना की थी। अभयदेवसूरि के शिष्य हरिभद्र हुए जो साहित्य और षड्दर्शन में परम निष्णात थे और वही बालचन्द्र के गुरु थे।

बालचन्द्र का वैयक्तिक इतिहास और उसका वस्तुपाल से सम्पर्क

१२४ अपने वसन्तविलास महाकाव्य के पहले सर्ग मे बालचन्द्र ने जैन साधु होने के पूर्व के अपने जीवन की कुछ बातें लिखी हैं। मोढ़ेरक (आधुनिक मोढ़ेरा) मे एक धरादेव नाम का सुप्रख्यात ब्राह्मण रहता था। वह जैनधर्म का भी अच्छा ज्ञाता था। वह धनी था और उसके घर पर आनेवाला प्रत्येक याचक धनसमृद्ध होकर ही सदा लौटता था। उसकी स्त्री का नाम विद्युत था। उनके मुंजाल नाम का एक पुत्र था जो माता-पिताओं के साथ रहते हुए भी इस ससार को मायाजाल समझता था। हरिभद्रसूरि से उपदेश पाकर उसे वैराग्य हो गया और अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर वह जैन साधु हो गया। उसको तब बालचन्द्र नाम दिया गया। जब हरिभद्र को भास हुआ कि उसका अन्त निकट है, उसने बालचन्द्र को अपना पट्टधर बना दिया। महापडित पद्मादित्य जो चौलुक्य राजाओं से पूजित था, बालचन्द्र का शिक्षागुरु था। वादी देवसूरि के गच्छ के उदयसूरि ने उसे सारस्वत मंत्र प्रदान किया। एकदा जब बालचन्द्र योगनिद्रा में था तो सरस्वती देवी उसे प्रत्यक्ष हुई और कहने लगी कि मैं साधना से प्रसन्न हुई हूँ और तू कालिदास आदि कवियों के जैसा ही मेरा पुत्र है। कवि कहता है कि इस प्रकार सरस्वती द्वारा आशीर्वाद पाकर उसने वस्तुपाल की यश-गाथा गाने का पर्याप्त साहस सग्रह कर लिया। प्रबन्धों में कहा है कि एकदा युवा बालचन्द्र ने वस्तुपाल की शिव से उसकी सब प्रकार से तुलना करने वाला श्लोक (गौरी रागवती त्वयि०) रच कर स्तुति की[2] और वस्तुपाल ने प्रसन्न होकर बालचन्द्र के आचार्य पद प्रदान महोत्सव पर हजारों द्रम्म का व्यय किया।

---

१ यह अभयदेवसूरि जैन आगमों के नवांगी टीकाकार नहीं, दूसरे हैं।

२. प्रचि, पृ. १०२; वच, ७. ११८-२०; उत, पृ. ७३। वसन्तविलास

बालचन्द्र की साहित्यिक कृतियाँ

१२५. बालचन्द्र की प्रमुख साहित्यिक कृति वसन्तविलास महाकाव्य है जिसमें कवि मित्रो द्वारा दिए गए वस्तुपाल के कवि-उपनाम वसन्तपाल की जीवनी चित्रित की गई है (देखो पैरा ६३)। यह महाकाव्य वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह की प्रार्थना पर रचा गया था। रचयिता ने उसकी रचना का समय नहीं दिया है, परन्तु उसमें वस्तुपाल की मृत्यु का वि. सं. १२९६ = १२४० ई० में होना कहा है जिससे कहा जा सकता है कि उसकी रचना इस वर्ष के बाद ही हुई थी। बालचन्द्र का रचा हुआ एक करुणावज्रायुध एकांकी नाटक भी है जो उसकी प्रस्तावना के अनुसार वस्तुपाल की किसी संघयात्रा के अवसर पर यात्रियो के मनोरंजनार्थ शत्रुंजयगिरि के आदिनाथ मन्दिर में खेला गया था। कुछ भारतीय विद्याविदों का कहना है कि वह संघयात्रा १२२१ ई० की ही थी[1]। बालचन्द्र की दो अन्य कृतियाँ भी है यथा विवेकमंजरी और उपदेशकन्दली की टीकाएँ। ये दोनो ग्रन्थ श्रीमाल जाति के आसड रचित जैनधर्म की शिक्षा देनेवाले प्राकृतप्रकरण ग्रन्थ हैं। आसड को चौलुक्य राज के दरबारी पण्डितो ने 'कविसभाशृंगार' की उपाधि से विभूषित किया था। यह बात दोनो टीकाओ की प्रशस्तियो में बालचन्द्र ने कही है। पहले ग्रन्थ की टीका नागेन्द्र गच्छ के विजयसेनसूरि और बृहद् गच्छ के पद्मसूरि द्वारा सशोधित की गई थी परन्तु उस पर कोई भी तिथि नहीं है। इसकी रचना फिर भी सन् १२४५ ई० पूर्व ही अर्थात् विजयसेनसूरि के निधन के पहले ही हुई होगी (पैरा ५१४)। दूसरे ग्रन्थ की टीका पर भी तिथि नहीं है। परन्तु उसकी एक ताड़पत्रीय प्रति पाटण के भण्डार में वि० सं० १२९६=सन् १२४० ई० को लिखी[2] प्राप्त है जिससे इसकी रचना इससे पूर्व ही हो जाना निश्चित है। दोनो ही टीकाएँ आसड के छोटे पुत्र जैत्रसिंह की प्रार्थना पर लिखी गई थी। दोनो टीकाओ की प्रशस्तियों से भी पता चलता है कि जैत्रसिंह का परिवार चन्द्र गच्छ का अनुयायी था और इसलिए बालचन्द्र उसके कुलगुरु थे और रत्न श्री नाम की साध्वी का वह धर्मज पुत्र था। उसी गच्छ के प्रद्युम्नसूरि ने जो बालचन्द्र को अपना बड़ा भाई समझते थे[3], इन टीकाओ के लिखने में उसकी सहायता की

के तीसरे सर्ग के अन्त में बालचन्द्र ने यही श्लोक वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह की प्रशंसा में दिया है।

१. जैसासइ पृ. ३८४। २. पाभंसू, पृ. ३३३।

३. समरादित्य-संक्षेप, प्रशस्ति, श्लोक ४।

थी[1]। मालूम पड़ता है कि बालचन्द्र ने एक गणधरावली नामक ग्रन्थ भी लिखा था जिसमें जैनाचार्यों की पट्टपरम्परा जैसा कि उसके नाम से प्रकट होता है, दी गई होगी। उसने विवेकमंजरी की टीका में उसका अपनी कृति रूप से उल्लेख किया है[2]। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक तो प्राप्त नहीं हुआ है।

(१४) जयसिंहसूरि

हम्मीरमदमर्दन और वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति

१२६. जयसिंहसूरि वीरसूरि के शिष्य और भृगुकच्छ के मुनिसुव्रत चैत्य के अधिष्ठायक थे। उन्होंने हम्मीरमदमर्दन नाटक की रचना कर गुजरात पर हुए मुसलमानों के आक्रमण को विफल करने के वस्तुपाल के युद्धकौशल को दृश्य रूप दिया है। यह नाटक स्तम्भतीर्थ के राज्यपाल के पुत्र जयंतसिंह या जैत्रसिंह के कहने से वहाँ खेला गया था। इसकी रचना वि० सं० १२७६—सन् १२२३ ई०[3] अर्थात् जयन्तसिंह के राज्यपालत्व की प्रारम्भ तिथि और जैसलमेर के भण्डार में प्राप्त ताड़पत्रीय प्रति की लेखन तिथि वि० सं० १२३०=सन् १२८६ ई०[4] के बीच की अवधि में किसी समय भी हुई होगी, इतना ही कहा जा सकता है। जयसिंहसूरि की दूसरी कृति है ५७ श्लोक की वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति। इसकी रचना की कथा इस प्रकार है। एकदा तेजपाल मुनिसुव्रत चैत्य की यात्रा पर गया था। तब लेखक ने उसे २५ देवकुलिकाओं पर स्वर्ण-ध्वजादण्ड चढ़ाने को कहा। ये देवकुलिकाएँ शकुनिका-विहार मंदिर में दंडनायक आम्बड़ द्वारा बनवाई गई थी। वस्तुपाल से पूछकर तेजपाल ने यह स्वीकार कर लिया और ध्वजादण्ड चढ़वा दिए[5]। जयसिंहसूरि ने उस अवसर को चिरस्मरणीय करने के लिये यह प्रशस्ति रची। प्रशस्ति के आकार से ऐसा लगता है कि वह मंदिर की दीवार में किसी शिला पर उत्कीर्ण की गई होगी। परन्तु शकुनिकाविहार पीछे मस्जिद बना दिया गया और तब प्रशस्ति की शिला भी नष्ट कर दी गई होगी। फिर भी वह आज हमें हस्तलेख रूप में प्राप्त है, परन्तु इसकी ठीक-ठीक तिथि निश्चित करना कठिन है।

---

१. पिटरसन प्रति., ३, पृ. १००; विमंटी प्रशस्ति, श्लोक १४।

२. यदुक्तमस्माभिर्गणधरावल्याम्-विमंटी पृ. ५,५०।

३. देखो वस्तुपाल का गिरनार शिलालेख।

४. हमम, प्रस्ता., पृ. १; जेभंसू, पृ. २३। ५ देखो वच, ७.।

कुमारपालचरित और धर्मोपदेशमाला का कर्ता यह नहीं है

१२७. यह जिता देना यहाँ आवश्यक है कि यह जयसिंहसूरि कुमारपालचरित महाकाव्य (१३३६ ई०) और भासर्वज्ञ के न्यायसार की टीका न्यायतात्पर्यदीपिका के रचयिता कृष्णगच्छ के जयसिंहसूरि एवं सन् ८५६ ई० में धर्मोपदेशमाला के रचयिता कृष्ण के शिष्य जयसिंहसूरि (देखो पैरा ३०४) दोनो ही से भिन्न है।

(१५) माणिक्यचन्द्र

१२८. माणिक्यचन्द्र राजगच्छ का जैन साधु था और नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य सागरचन्द्रसूरि का शिष्य[1]। मम्मट (११०० ई० लगभग) के काव्यप्रकाश पर अत्यन्त प्रामाणिक एवं प्राचीनतम में से एक टीका सुप्रख्यात संकेत नामक इसकी रची है। इसी काव्यप्रकाश की एक और टीका भारद्वाज के पुत्र और वाघेला के वंश के राजा सारंगदेव के महामात्य के कुलगुरु गुजरात के विद्वान् जयंत (१२९४ ई०), की लिखी जयंती या दीपिका भी है[2]। इस माणिक्यचंद्र ने शांतिनाथ चरित्र और पार्श्वनाथचरित्र नामक दो महाकाव्य भी लिखे है[3]।

संकेत की रचनातिथि

१२९. विद्वानों द्वारा संकेत की रचना तिथि वि. सं. १२१६ = सन् ११६० ई० मानी जाती है[4]। माणिक्यचन्द्र स्वयं ग्रन्थांत में रचना काल इस प्रकार देता है—

---

१. माणिक्यचन्द्र के गुरुओं की गुर्वावली के लिए देखिए पिटरसन, प्रतिवे., ३, पृ. ५७ आदि; और पाभंसू, पृ. ५२ आदि।

२. डे, संस्कृत अलंकारशास्त्र (अंगरेजी), भा. १, पृ. १७१ आदि।

३. जिरको, पृ. २४४ और ३७६।

४. काणे, साहित्यदर्पण, प्रस्ता., पृ. १०६; डे, वही, पृ. १६७; कृष्णमाचारियर, क्लेसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. १९८; ध्रुव, दिग्दर्शन (गुजराती), पृ. २२। महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभयकर ने अपने सम्पादित संकेत की प्रस्तावना में यह तिथि दी है। परन्तु रचना काल दर्शक प्रासंगिक श्लोक जो कि प्रतियों में मिलता है, उनके पाठ में नहीं है। यह प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने संस्करण में प्रशस्ति छोड़ दी है।

रस-वक्त्र-ग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः ॥[1]

साधारणतया 'वक्त्र' शब्द एक का द्योतक माना जाता है। इसलिए विद्वानों ने 'रस-वक्त्र-ग्रहाधीश' की व्याख्या १२१६ वि. सं. की है। परन्तु इस तिथि के विरुद्ध कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ पड़ती हैं जिससे हम 'वक्त्र' को एक का नहीं अपितु छह (कार्तिकेय के छह मुख) या 'चार' (ब्रह्म-मुख) का द्योतक मानने को बाध्य होते हैं और इसलिए उक्त वर्ष वि सं. या १२६६ या १२४६ भी हो सकता है। (१) पहिली बात तो यह है कि माणिक्यचन्द्र ने अपना पार्श्वनाथ-चरित्र वि. सं. १२७६ = सन् १२२० ई० में देवकूपक या द्वीप (सौराष्ट्र के दक्षिण समुद्री तट का द्वीप आधुनिक दीव) में रचा था। यह रचनाकाल माणिक्यचन्द्र ने इस प्रकार दिया है—

६रसर्षि७ रवि१२संख्यायां समायां दीपपर्वणि।
समर्थितं द वेलाकूले श्रीदेवकूपके ॥[2]

अब यदि रचयिता ने अपनी परिपक्व बुद्धि और प्रौढ़ प्रज्ञा का फल 'संकेत' ग्रन्थ ११६० ई० में लिखा था तो यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि महाकाव्य लिखने के लिए १२२० तक याने ६० वर्ष बाद तक वह सशक्त रहा होगा। पहले तो उसका तब तक जीवित रहना ही कुछ असम्भव-सा लगता है और यदि जीवित रहा भी हो तो वह रचना करने में इतना सशक्त नहीं रह सकता है। इसलिए यह मानना बहुत ही स्वाभाविक होगा कि हम 'वक्त्र' शब्द को ६ या ४ का द्योतक मानें, न कि १ का, और 'संकेत' का रचनाकाल वि स १२६६ याने सन् १२१० ई० या वि सं १२४६ याने सन् ११९० ई० सब मानें। इस व्याख्या का समर्थन हमें कुछ प्राचीन सामग्रियों से भी प्राप्त होता है कि जिनकी ओर मेरा ध्यान श्री अगरचन्द नाहटा[3] ने दिलाया है। इन्होंने उन शब्दों का गहरा अध्ययन किया है कि जो संस्कृत एवं प्राकृत के अनेक ग्रंथों की प्रशस्तियों में मिलते हैं। वे विश्वास करते हैं कि गुहवक्त्र, गुहवदन, या कुमारमुख शब्द जो छह अंक के द्योतक थे, कालानन्तर में वक्त्र, वदन और मुख रूप में संक्षिप्त होकर

१. पामसू, पृ. ५४।   २. पिटरसन, वही, पृ. १५७।

३. (१) ऋतु जीवो रसो लेश्या द्रव्यश्च षटकं स्वरम्।
कुमारवदन वर्णं शिलीमुखपदानि च ॥
—महावीराचार्य का गणितसार।

भी अंक छह का अभिप्राय देते रहे हैं। यह द्रष्टव्य है कि 'शब्दांक' के किसी भी प्रयोग में 'मुख' शब्द का प्रयोग '१' अंक के लिए किया गया नहीं मिलता है 'उदाहरण के लिए देखिए काव्यकल्पलता पृ १४४)। या तो वह ब्रह्ममुख है या गुहमुख। (२) दूसरी बात यह है कि पार्श्वनाथचरित्र की प्रशस्ति में यह कहा गया है कि इसकी रचना श्रीमालगोत्रीय किसी देहड़ और उसके पुत्र पाल्हण जो स्वयं ही कवि था, के प्रार्थना पर की गई थी। यह देहड़ वर्धमान का पुत्र था कि जो अणहिलवाड़ के राजा कुमारपाल और अजयपाल का दरबारी था[1]। कुमारपाल सन् ११७४[2] ई० में मरा और उसके सिंहासन पर उसका भतीजा अजयपाल बैठा जो उसके नौकर द्वारा सन् ११७७ ई० में मार दिया गया था[3]। अब यदि माणिकचंद्र ने इस अजयपाल के दरबारी के पुत्र एवं पौत्र के लिए इस चरित्र की रचना की थी तो यह पौत्र भी पक्की उम्र का ही होना चाहिए क्योंकि लेखक ने उसका परिचय 'प्रज्ञावता सत्कविपुङ्गवेन' कहकर दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि उसके ग्रंथों का रचनाकाल अजयपाल के राज्यकाल से बहुत बाद का होना चाहिए। स्पष्ट ही है कि वह तिथि सन् १२२० ई० के निकट की ही होनी चाहिए, जो पार्श्वनाथचरित्र की रचना तिथि है।

वस्तुपाल से माणिक्यचन्द्र का सम्पर्क

१३०. अब तीसरी बात यह है कि माणिक्यचंद्र वस्तुपाल के घनिष्ट सम्पर्क में आ गया था, इसके अनेक विश्वस्त प्रमाण मिलते हैं। जिनभद्र की समकालिक प्रबन्धावली १२३४ ई० (देखो पैरा ११७) के अनुसार वस्तुपाल ने एकदा माणिक्यचंद्र को अपने यहाँ जब कि वह स्तम्भतीर्थ के समीप वटकूप में ठहरा हुआ था, निमंत्रित किया था[4]। परंतु माणिक्यचंद्र किसी अन्य कार्य में व्यस्त होने के

---

(२) रसदर्शनर्तुतर्का गुहवक्त्राणि षट् तथा।

—शब्दांक देनेवाले प्राचीन ताड़पत्र से

(श्री नाहटा का पत्र ता० १५ मई, १९४८ अनुसार)

इसके अतिरिक्त भी देखो—

रसरागवज्रकोणः त्रिशिरो नेत्रांतराणि गुणतर्काः।

दर्शनगुहमुखभूखंडचक्राणि स्युरिह षट्सख्या ॥

—काव्यलता, पृ. १४५।

१. पिटरसन वही। २. बंबई गज़ेटियर, भा. १, खं. १, पृ. १९४।

३. वही, १९५। ४. पुप्रसं. पृ. ६२ आदि; पृ. ७६ आदि भी।

कारण वह निमंत्रण स्वीकार नहीं कर सका[1]। वस्तुपाल ने उसके इस प्रकार अभिमान दिखाने से चिढ़कर उसे एक कटाक्षगर्भित श्लोक वटकूप शब्द का श्लेष करके लिख भेजा जिसका अर्थ होता था कि वह कूपमण्डूक है। माणिकचंद्र ने उतने ही व्यंग के साथ उसके प्रत्युत्तर में श्लोक भेज दिया। तब वस्तुपाल ने अपने नौकरों द्वारा माणिक्यचंद्र के स्तम्भतीर्थ के उपाश्रय में से शास्त्रों की प्रतियाँ एवं अन्य सब सामान उठवा मँगाया। आचार्य तब उसके पास इसकी शिकायत करने पहुँचे। शिकायत करते हुए उन्होंने कहा कि 'जहाँ तुम्हारे जैसे संघपति हों वहाँ मेरे उपाश्रय पर यह आपत्ति क्यों आए?' इस पर अमात्य ने हँसते हुए उत्तर दिया, 'क्योंकि गुरुदेव पधार नहीं रहे थे।' तदनन्तर अमात्य ने माणिक्यचन्द्र को सब कुछ ज्यों का त्यों लौटा दिया और उनके स्वागत का बड़ा समारोह भी किया[2]। उसी प्रबन्धावली के अनुसार, माणिक्यचंद्र यशोवीर के सम्पर्क में भी था कि जो वस्तुपाल का समकालिक और मित्र था (पैरा ९२)[3]। अब यदि हम संकेत का रचना काल ११६० ई० मानें तो एक बड़ा भारी काल-व्युत्क्रम हो जाता है क्योंकि वस्तुपाल का उस वर्ष में तो कदाचित् जन्म भी नहीं हुआ था। जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है उसका रचनाकाल १२१० या ११९० ई० यदि हम मान लेते हैं तो काल गणना सब संगत हो जाती है और कहीं भी कोई विसंगति नहीं रहती।

१३१. प्रबन्धों से ऐसा मालूम पड़ता है कि यद्यपि प्रारम्भ में वस्तुपाल और माणिक्यचन्द्र के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ नहीं थे, परन्तु फिर वे घनिष्ठ हो गए और वस्तुपाल ने माणिक्यचद्र को शास्त्रों की प्रतियाँ आदि द्वारा बहुत सहायता दी। प्रबन्धों में वस्तुपाल की प्रशंसा में रचित माणिक्यचन्द्र की कितनी ही सूक्तियाँ उद्धृत की गई हैं[4]।

---

१. वस्तुपालचरित, अ. ७. ९९–११३, के अनुसार वस्तुपाल ने माणिक्यचन्द्र को संघयात्रा में अपने साथ आने को कहा, परन्तु उसने इन्कार कर दिया क्योंकि वह अपना संकेत लिखने में व्यस्त था। उसने अपने किसी शिष्य तक को भी नहीं भेजा।

२. वस्तुपालचरित, अ. ७ के ११३ वें श्लोक के अनुसार, वस्तुपाल ने माणिक्यचन्द्र को अपने भण्डार के भिन्न भिन्न शास्त्रों के सब उपयोगी ग्रन्थों की एक-एक प्रति भेंट दी।

३ पुप्रसं पृ. ५०। ४ वही, पृ, ६४ और ७७।

अन्य कवि और पण्डित

मदन और हरिहर की स्पर्धा

१३२. ऊपर जिन कवियों और पण्डितो का वर्णन किया गया है, उनसे अतिरिक्त भी कितने ही अपेक्षाकृत कम विद्वान् वस्तुपाल के सम्पर्क में आए और उन्हें भी उसने आश्रय दिया था। इन छोटे कवियों के विषय में भी प्रबन्धों में बहुत कुछ वर्णन है और उनके जीवनचरितो की वहाँ खोज करते हुए हम उनके साहित्यिक जीवन की भी कुछ झाँकी पा जाते हैं। इन छोटे कवियों में मदन नाम का एक कवि था जिसको डा भाण्डारकर[1] तो दिगम्बर भट्टारक मदनकीर्ति ही मानते हैं परन्तु अन्य विद्वान् ऐसा नहीं मानते। उसका जीवन चरित्र प्रबन्धकोश के १४ वें प्रकरण में दिया है। परन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ कि उसे दिगम्बर मदन-कीर्ति मान लेने का कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं है और इसी नाम की अन्य सुप्रसिद्ध व्यक्ति से इसका सारूप्य बताना, सच तो यह है कि, एकदम प्रत्यक्ष प्रमाण रहित है। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में कहा गया है कि वस्तुपाल के विद्या-मण्डल के मदन और हरिहर नाम के दो बड़े कवियो में सदा बड़ी स्पर्द्धा रहती थी और वे परस्पर एक दूसरे को सदा ही चिढ़ाया करते थे। इसलिए वस्तुपाल ने अपने द्वारपाल को यह आदेश दे रखा था कि उनमें से जब एक उसके पास हो तो दूसरे को उसके कक्ष में प्रवेश करने नहीं दिया जाए। परन्तु फिर भी एक बार जब वस्तुपाल और हरिहर में साहित्य गोष्ठी हो रही थी, मदन कक्ष में घुस ही गये और बोल पड़े—

हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजांकुशो मदनः।

इसका उत्तर तुरन्त ही हरिहर ने दे दिया—

मदन विमुद्रय वदनं हरिहरचरितं स्मरातीतम्॥

उनके इस विवाद को समाप्त करने के लिए वस्तुपाल ने कहा, 'वही महाकवि कहलाएगा जो एक सौ श्लोक अभी के अभी रच दे।' मदन ने तुरत १०० श्लोक नारियल के वर्णन में रचकर सुना दिये जब कि हरिहर केवल ६७ श्लोक रच सके। तब वस्तुपाल ने हरिहर को पराजित घोषित कर दिया। इस पर हरि-हर ने एक श्लोक गाँव के जुलाहे द्वारा बुने गये बहुत से मोटे कपड़े और रानियों के पहनने योग्य मूल्यवान कपड़े की तुलना करते हुए कहा कि कविता में गुण ही संख्या की अपेक्षा अधिक महत्त्व का होता है। प्रसन्न होकर वस्तुपाल ने दोनों

---

1. भण्डारकर; प्रतिवे., ४, पृ. ७७।

को ही पारितोषक दिए[1]। पुरातनप्रबन्धसंग्रह के इस वर्णन को कृष्ण के सुभाषितरत्नकोष से भी समर्थन मिलता है क्योंकि मदन और हरिहर की काव्य प्रतिस्पर्द्धा प्रकट करनेवाले श्लोक उसमे भी उद्धृत हैं[2]।

पाल्हणपुत्र, चाचरियाक और अन्य कवि

१३३. एक कवि था जो अपने को पाल्हणपुत्र कहता था और जिसने सन् १२३३ ई० (वि सं. १२८९) में दो वर्ष पहले वस्तुपाल के द्वारा निर्मित आबू के मंदिरो की स्मृति में अपभ्रंश कविता मे आबू रास रचा था। चाचरियाक नाम का एक विद्वान् भी धवलक्क मे वस्तुपाल के समय में आया था। उसका अभिभाषण इतना शिक्षाप्रद होता था कि उदयप्रभसूरि छद्मवेश में वह सुनने जाया करते थे। वस्तुपाल ने उसे दो हजार द्रम्म का पारितोषक दिया और उसका सार्वजनिक सम्मान भी किया[3] था। चाचरियाक का हरदेव नाम का एक शिष्य था जिसने आशापल्ली (आधुनिक अहमदाबाद के स्थान पर बसी हुई कर्णावती ही) के निवासियो को रामायण की कथा कह कर बहुत ही रंजित किया था[4]। दो कथावाचकों का और भी परिचय हमे मिलता है कि जो दोनो ही पिप्पलाचार्य कहलाते थे और जिन्होने तेजपाल और अनुपमादेवी को सती चन्दनबाला की कथा कह कर बड़ा भारी पारितोपिक पाया था[5]। इनके अतिरिक्त भी अन्य कवि और चारण भी थे जैसे कि वामनस्थली का यशोधर,[6] माधव,[7] कृष्णनगर का कमलादित्य,[8] शंकरस्वामिन्[9], दामोदर,[10] विकल,[11] प्रभास पाटण का वीरसिंह[12], जयन्तदेव या जयदेव आदि, जिन्होंने वस्तुपाल को अपनी कविताओं से रंजित किया था और जिनकी अनेक अवसरों पर जैसे कि संघयात्रा, विजय, कविगोष्ठी, स्वागत आदि पर रची कविताएँ प्रबन्धों मे उद्धृत है। आश्रयदाता वस्तुपाल से उन्हें भी पर्याप्त पारितोपिक मिले थे।

---

१. पुप्रसं, पृ. ७७। २. भण्डारकर, वही, पृ. ५७।
३. पुप्रसं, पृ. ७६। ४. वही, पृ. ७८।
५. वही पृ ७५। ६. वही, पृ ६२।
७. वही, पृ. ६२। ८. प्रको, पृ. १२०।
९. वच, ४. ७३६,७३७। १०. वही, ६. ८१।
११. वही, ६. ३६४। १२. वही, ८. ३४४।
१२. प्रचिं, पृ. १०३; उत, पृ ७६।

वस्तुपाल के परिवार वाले भी कविता करते थे

१३४. यह अवश्य ही रोचक बात है कि वस्तुपाल के परिवार के अनेक सदस्य भी कविता करते कहे गए हैं। कुछ कविताएँ तो तेजपाल[1] कर्तृक ही कही जाती हैं जिनमें से आबू पर यशोवीर के स्वागत में कही हुई उसकी कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है[2]। तेजपाल की सुप्रसिद्ध पत्नी अनुपमा जिसकी 'षड्-दर्शनमाता' कह कर प्रशंसा की गई है क्योंकि वह सभी दर्शनों के पण्डितो को समान दान दिया करती थी, 'कंकणकाव्य' की रचयित्री कही गई है[3]। वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिह या जैत्रसिंह, जो स्वयं कवियों का आश्रयदाता था जैसा कि हम पहले ही देख आये हैं (पैरा ११७ और १२६), ने अपने पिता की मृत्यु पर जो कविता कही थी, वह एक से अधिक प्रबन्धों में उद्धृत की गई है[4]। यह कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है कि संस्कृत के ज्ञान से परिपूर्ण साहित्यिक वातावरण में पले हुए पुरुष, चाहे स्वयं कवि नहीं हो, फिर भी विशेष अवसरों पर फुटकर कविता कर सकते हो, और इसलिए प्रबन्धों के इस विषय में कथन में अविश्वास करने का कोई भी कारण हमारे लिए नहीं है।

अज्ञात नाम कवि

१३५. इनके सिवा भी अनेक कवि थे कि जिनके नाम का हमें पता नहीं है, परन्तु विभिन्न अवसरो पर वस्तुपाल की प्रशंसा में रची उनकी कविताएँ प्रबन्धो में उद्धृत मिलती हैं। इन अज्ञातनामा कवियों की प्रशंसात्मक कविताओं की संख्या भी सौ से अधिक ही हो। इससे यह प्रकट होता है कि उन्हें भी वस्तु-पाल का आश्रय प्राप्त था। यह स्पष्टतया कहा गया है कि उन्हें भी वस्तुपाल से इनाम प्राप्त हुए थे। इन अज्ञातनामा कवियों में कितने ही तो चारण और भाट थे और इनमें से कुछ ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा अपभ्रंश दोहों[5] में की है क्योंकि अपभ्रंश और पश्चिमी राजस्थानी साहित्य की कृतियों में विशेषतया गीतों और सूक्तियों में दोहों का प्रयोग ही बहुत प्रचार में था और है।

---

१. पुप्रसं, पृ. ७०; प्रको, पृ. १२०।

२. वच, ८. २१०।

३. पुप्रसं, पृ. ६२; देखो पृ. ७ भी।

४. वच, ८. ४८०।

५. पुप्रसं, पृ. ६३-६४१, उत, उत, पृ. ७९।

तीसरा विभाग

संस्कृत साहित्य की देन

छठा अध्याय

महाकाव्य

१३६. वस्तुपाल के विद्यामण्डल का ऐतिहासिक और जीवनवृत्त का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब हम इसका विचार करेंगे कि इस विद्यामण्डल ने संस्कृत साहित्य को क्या दिया ? इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस मण्डल के कवियो और पण्डितों के उपलब्ध साहित्यिक ग्रन्थो का सर्वेक्षण सबसे पहले हम करें। मै अब यही करना चाहता हूँ और इसके लिए इस साहित्य को उसके प्रकार के अनुसार विभाजन करते हुए सबसे पहले मै महाकाव्यो से ही यह सर्वेक्षण प्रारम्भ करता हूँ।

महाकाव्य के लक्षण

१३७ महाकाव्य जिसका कि शब्दार्थ वर्णनात्मक बड़ा काव्य होता है[1], और नाटक ही संस्कृत साहित्य के दो अत्यन्त लोकप्रिय प्रकार है और अश्वघोष के दिनो से लेकर ही नहीं, अपितु उसके पहले से भी अनेक संस्कृत कवियों ने इन प्रकारों का रचना में प्रयोग किया है। दण्डी (लगभग ६०० ई) ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार कहे हैं:—'सर्गों में काव्य-रचना आशिष महाकाव्य है और उसकी परिभाषा अब यहाँ दी जाती है। उसका मुखबन्ध या नमस्कार या वस्तुनिर्देश है। उसका आधार या तो कोई इतिहास-कथा होती है या वह सदाश्रय होता है—जिसमें सत्पुरुष का आश्रय होता है। इसका लक्ष्य चारों वर्गों के सफलीकरण का होता है। उसका नायक चतुर और उदात्त होता है। नगरो, सागरों, पर्वतों, ऋतुओं और सूर्य-चन्द्र के उदयास्तो का वर्णन किया जाता है। रग और राग के, विप्रलम्भ और विवाह तथा कुमार के जन्म और उदय के और इसी प्रकार राजपरिषदो, दूत, अभियानो, युद्धों और नायक की विजयों के वर्णन नाति संक्षेप मे, रस और भावों से ओतप्रोत, नाति लम्बे सर्गों और उपयुक्त छन्दो और सुगठित सन्धियो और भिन्न-भिन्न वृत्तो मे समान होने

---

१. मैं महाकाव्य शब्द की व्याख्या या परिभाषा इस प्रकार इसलिए कर रहा हूँ कि वे रामायण और महाभारत से पृथक समझे जा सकें कि जिनके लिए अंगरेजी में 'एपिक' (वीरकाव्य) शब्द प्रयोग किया जाता है।

वाला, सुसज्जित, सुन्दर अलंकारों वाला काव्य ही लोगों के हृदय को रुचता है और ऐसा काव्य कल्प से भी अधिक काल तक जीवित रहता है।'[1]

१३८. उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार महाकाव्य का आधार इतिहास कथा है या परम्परा से चली आती कोई कथा। अथवा जैसा कि दण्डी कहता है उसका आधार सदाश्रय होता है याने कोई सत्पुरुष की कथा। वह भी आधुनिक दृष्टि से ऐतिहासिक घटना ही कही जा सकती है। संस्कृत साहित्य के अधिकांश महाकाव्य तो पौराणिक विषयों पर ही रचे गये हैं। अपेक्षाकृत उत्तरकाल में ही हम ऐसी घटनाओं के आधार पर रचित काव्य पाते हैं कि जिनको ऐतिहासिक कहा जा सकता है। परन्तु भारतीय साहित्यिक-रुचि इस लम्बे-चौड़े भारतवर्ष के निवासियों के चित्तों के आकर्षण करनेवाले पौराणिक महापुरुषों के जीवन से इतनी अधिक प्रभावित थी कि आधुनिक इतिहास के प्रसिद्ध नायकों पर लिखे गए महाकाव्य पौराणिक महाकाव्यों की अपेक्षा सीमित प्रचार और लोकप्रियता ही प्राप्त कर सकते थे। ऐसी सामान्य परिस्थिति होते हुए भी गुजरात जैसे भारत के कुछ प्रान्तीय प्रदेशों में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों पर अनेक महाकाव्य लिखे गए और वे पर्याप्त लोकप्रिय भी हुए थे। जिन ऐतिहासिक महाकाव्यों का हम यहाँ सर्वेक्षण करेंगे उनके गुजरात में पूर्वज थे हेमचन्द्र के दो द्व्याश्रय महाकाव्य (पैरा २४) और उत्तराधिकारी हैं गणपति व्यास का धाराध्वंस जिसका निर्देश यद्यपि नानाक की प्रशस्तियों में (पैरा ८८) है, परन्तु जो आज तक अप्राप्त ही है, जयसिंहसूरि का कुमारपालचरित (१३६७ ई.), प्रतिष्ठासोम का सोमसौभाग्य (१४६८ ई०), देवविमल का हीरसौभाग्य (१७वीं सदी) आदि। इस सूची में और भी अनेक चरित्रों को सम्मिलित किया जा सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है। जिस वस्तुपाल के विद्यामण्डल के महाकाव्यों का सर्वेक्षण हम यहाँ करना चाहते हैं उनमें चार तो ऐतिहासिक हैं और दूसरे जैन या ब्राह्मण पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। ऐसे दो प्रकार के महाकाव्यों का पृथक्-पृथक विचार करना ठीक होगा। अस्तु पहले हम ऐतिहासिक महाकाव्य ही लेते हैं।

प्राचीन आदर्शों पर गुजरात में महाकाव्य

१३९. इनका सर्वेक्षण करते हुए हमें यह स्मरण रखना होगा कि हम प्रस्तुत में प्राचीन काल के पहली श्रेणी के काव्यों की अपेक्षा नहीं कर सकते

---

१. काव्यादर्श, १.१४–१९ (बेल्वल्कर का अनुवाद, पृ. १); महाकाव्य की दो और विस्तृत परिभाषा के लिए देखो रुद्रट का काव्यालंकार, १६.७–१८; और साहित्यदर्पण, ६.३१५–२५।

है। परन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि साहित्यिक कला में उनकी सफलता नगण्य है। क्योंकि वे प्राचीन आदर्शों के गहरे अध्ययन का ही परिणाम हैं। जैसा कि मैं पहले ही कह आया हूँ मध्यकालीन गुजरात में विद्वानों की महान् साहित्यिक प्रवृत्तियाँ चल रहीं थीं और कालिदास, भारवी, माघ और श्रीहर्ष जैसे महारथियों के ग्रन्थ बड़ी तत्परता से वहाँ पढ़े जाते थे और उन पर टीकाएँ भी लिखी जा रहीं थीं[1]। ये सब महत्त्वाकांक्षी कवियों और पण्डितों को पर्याप्त मानसिक खाद्य प्रस्तुत कर रही थीं। नाटक के रसिकों में श्रीहर्ष का नैषधचरित्र और मुरारी का अनर्घराघव नाटक बहुत लोकप्रिय थे। फिर भी जिन साहित्यिक कृतियों का अभी हम सर्वेक्षण करेंगे, वे इन महारथियों की नकल मात्र ही नहीं हैं। वे तो उन प्राचीन काव्यों की शैली, वर्णन और विषय से प्रेरित होती हुई भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती हैं। कम से कम कुछ तो ऐसी हैं कि जो मध्यकालीन संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट नमूना कही जा सकती हैं।

ऐतिहासिक महाकाव्य

सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी

१४०. ऐतिहासिक महाकाव्यों में हम सबसे पहले सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी को ही लें जो जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, वाघेलों और वस्तुपाल के इतिहास के समकालिक ग्रन्थों में सबसे प्रमुख हैं। यह ६ सर्गों और कुल ७२२ श्लोकों का महाकाव्य है। इसके पहले सर्ग में विष्णु के चतुर्भुजों को जो कि धर्म के चार सतरियों के समान हैं, नमस्कार करने के पश्चात् कवि ने शिव और सरस्वती को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। तदनन्तर कवि मात्र की प्रशंसा करते हुए, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ, भारवि, बाण, धनपाल, बिल्हण, हेमचन्द्र, नीलकण्ठ और प्रह्लादन की प्रशंसा में पृथक्-पृथक् श्लोक दिए हैं। वस्तुपाल के विद्यामण्डल के कवियों में से उसने नरचन्द्र, विजयसेन, सुभट और यशोवीर की स्तुति की है। फिर कुछ श्लोकों में सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा करने के पश्चात् कवि कहता है कि वह वस्तुपाल पर यह महाकाव्य, उसके उत्तम कुल में जन्म, दानशीलता, आतिथ्य, सदाचार, बुद्धि, दया, न्याय

---

१. गुजरात में लिखे पंचकाव्यों पर अनेक टीकाओं के लिए देखो भारतीय विद्या, भा २, पृ. २६७ आदि; ४१७ आदि, और भाग ३, पृ. २५ आदि।

और अपने प्रति भक्ति देख कर ही लिखने को तैयार हुआ है और उसकी गिरा वस्तुपाल के गुणों का कीर्तन गाने को उत्सुक हो रही है (श्लो. ४४–४७)। इसके पश्चात् कवि अणहिलवाड़ का वर्णन करता है जो वर्णन यद्यपि काव्य की छटा से परिपूर्ण है, फिर भी गुजरात राज्य के पाटनगर के गौरव का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त सत्य है। अन्य अनेक बातों का वर्णन करते हुए कवि ने सहस्रलिंगसागर और उसके तट-स्थित कीर्तिस्तम्भ का विशेष रूप से वर्णन किया है (श्लो. ७१–८१)।

१४१. दूसरे सर्ग में मूलराज से लेकर धवलक्क के लवणप्रसाद एवं उसके पुत्र वीरधवल तक के गुजरात के राजाओं का इतिहास दिया गया है। मूलराज, चामुण्ड, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीम, कर्ण, जयसिंह सिद्धराज, कुमार-पाल, अजयपाल, मूलराज द्वितीय और भीम द्वितीय का वर्णन करने में उनके राजनैतिकजीवन और युद्ध अभियानों का थोड़ी सी कविता पंक्तियों में चित्र खींचा गया है (श्लो. १–६१)। तदनन्तर वाघेला वंश के आदिपुरुष धवल और उसके पुत्र अर्णोराज का जिसने गुजरात के चौलुक्य राज्य को सुदृढ़ करने के प्रयत्न किए थे, वर्णन है। जब अर्णोराज के पुत्र लवणप्रसाद और पौत्र वीरधवल जिन्होंने वस्तुपाल को अपना मंत्री चुना था, का प्रसंग आता है तो वर्णन स्वभावतः ही कुछ विस्तार पा जाता है। लवणप्रसाद ने नाड्डूल के राजा को मारा था। उसके राज्य में चोर नहीं थे। शत्रु राजाओं का गौरव वह हरण कर लेता था। उसका पुत्र वीरधवल अपने पिता के इतना समान था कि मानों दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब ही वह हो (श्लो. ६७ ७७)। एकबार लवणप्रसाद ने प्रातःकाल जगते ही अपने पुरोहित सोमेश्वर-देव (अर्थात् स्वयं लेखक) को रात्रि में देखे स्वप्न की बात कहने को बुलाया। पुरोहित आया और राजा को आशीर्वाद देकर आसन पर बैठ गया। तब लवण-प्रसाद अपने पुत्र वीरधवल की उपस्थिति में अपने स्वप्न का वर्णन इस प्रकार उनसे करने लगा (श्लो. ८३–८६), 'मुझे ऐसा लगा कि मैंने कैलास पर चढ़कर शिव का पूजन किया। भगवान शिव प्रत्यक्ष हुए। जब मैं पूजा समाप्त कर उनके पवित्र ध्यान में मग्न था तो मैंने अपने सामने एक चन्द्र-मुखी स्त्री, राका जैसी सुन्दरी, को श्वेत वस्त्र पहने, श्वेत अंगराज लगाए, और हाथों में फूल की माला लिए खड़ी देखा। चकित हुए मैंने उससे प्रश्न किया, 'हे देवी! आप कौन हो? और क्यों यहाँ पधारी हो?' उत्तर में उसने मुझसे यों कहा, 'हे वीर! सुनो। मैं गुर्जर राजाओं की राजलक्ष्मी हूँ जिसे रिपुओं के समूह बहुत ही सता रहे हैं। हाय! वे गुर्जर राजा कभी के मर गये जो अपने

शत्रुओं का नाश किया करते थे और जिनकी गोद में मैं आराम से रहती थी। उनके स्थान में जो मूर्ख और तरुण राज कर रहा है, वह अपने शत्रुओं के सैन्य को दबा देने में अशक्त है। उसके मंत्री और माण्डलिकों में न तो बुद्धि है और न बहादुरी ही। वे भी मेरी ओर लम्पटी की तरह ताक रहे हैं हालांकि मैं उनके स्वामी की विहित स्त्री हूँ। पुरोहित आमशर्मा भी मर गया जो मेरी रक्षा करता था। मुंजाल का पुत्र भी चला गया जिसने राजद्रोही राजपूतों का सिर झुकाया था। राष्ट्रकूट वंश का प्रतापमल्ल भी आज नहीं है कि जो शत्रु दल के गजों की गंध तक भी सहन नहीं कर सकता था। मेरे ही लोगों ने मुझे बहु नतशिर कर दिया है सिवा एक जगद्देव के कि जिसने शत्रु को नगर में प्रवेश पाने से रोक रखा था। गुर्जर भूमि के पाटनगर में रात्रि को कोई दीपक नहीं जलता। वहाँ तो सियारों की कायँ-कायँ प्रति-ध्वनित हो रही है। उसकी शहर-पनाह खंडित कर दी गई है। इसलिए अब तूँ तेरे पुत्र वीरधवल के साथ मेरा उद्धार कर और मुझे बचा।' कुछ सुस्ता कर लवणप्रसाद फिर कहने लगा, 'जब देवी इस प्रकार सब कह चुकी तो उसने मेरे गले में श्वेत फूलों का हार डाल दिया और मेरे स्वप्न भंग के साथ वह देवी भी लुप्त हो गई। हे पुरोहितजी! अब कहिए कि इस स्वप्न का क्या अर्थ है? इस पर सोमेश्वर ने अपने राजा से कहा कि तुम सब राजाओं से भाग्यशाली हो क्योंकि भाग्य ने स्वतः ही तुम्हें चुन लिया है। दिए हुए इस भार को वहन करने और योग्य अमात्य नियुक्त करने की उसने अन्त में राजा को सलाह दी। (श्लो. ८७–११३)[1]।

१४२. यह रूपकप्रधान वर्णन इस बात की ओर इशारा करता है कि लवण-प्रसाद ने अणहिलवाड़ की सरकार की बागडोर अपने हाथ में ले ली ताकि वह अव्यवस्था को दूर करे और राजा की रक्षा करे। यही रूपक कुछ परिवर्तन, परिवर्धन और अतिरंजना के साथ सुकृतसंकीर्तन और वसंतविलास जैसे अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में एवं बाद के वृत्तान्तों जैसे कि प्रबन्धकोश, वस्तुपालचरित में दिया हुआ है। सीधी सादी बात यही दीख पड़ती है कि लवणप्रसाद और उसके पुत्र ने भीमदेव के शत्रुओं का उन्मूलन करने के लिए उचित अनुचित सभी उपाय किए और इसलिए वृत्तलेखक उनके इन प्रयत्नों को गुजरात राज्य के राजा की भलाई के लिए उचित कहने को बाध्य हुए थे।

१४३. तीसरे सर्ग में कवि वस्तुपाल के पूर्वज चण्डप से लेकर वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह और तेजपाल के पुत्र लावण्यसिंह तक का वर्णन करता है (श्लो

१. इंएं, भा. ६ पृ. १८९।

१-५०)। लवणप्रसाद योग्य अमात्य नियुक्त करने को सोच रहा था और इसलिए उसने तत्काल वस्तुपाल और तेजपाल को बुलाया कि जिन्हें वह बड़ा आदर करता था और उनसे अपना सलाहकार नियुक्त करने की अपनी इच्छा जाहिर की। वस्तुपाल ने उसे स्वीकार कर लिया और तब राजा ने दोनों भाइयों को अमात्य-मुद्रा का भार सौंप दिया। चौथे सर्ग में कहा गया है कि सलाहकार की नियुक्ति के पश्चात् वस्तुपाल स्तम्भतीर्थ भेज दिया गया जहाँ उसने व्यवस्था पुनः स्थापित कर दी और शासन का निरीक्षण कर, उसे आमूलचूल सुधार दिया (पैरा ४६)। फलतः राज्य में शांति स्थापित हो गई। उतने में देवगिरि के सिंहण ने गुजरात पर आक्रमण किया। परन्तु लवणप्रसाद ने उसको पीछे ढकेल दिया। लाट के शंख ने जो स्तम्भतीर्थ को अपनी सम्पत्ति या राज्य समझता था, वस्तुपाल के पास संदेश भेजा और उसे अपनी सेवा स्वीकार कर लेने को दबाया भी। परन्तु वस्तुपाल ने उसका उसे कमरतोड़ उत्तर दिया जिसे सुनकर संदेशवाहक लौट गया। पाँचवें सर्ग में वस्तुपाल और शंख के भीषण युद्ध का वर्णन है जिसमें दोनों ओर के ही साहसी योद्धागण मारे गए थे। परन्तु अन्त में भृगुकच्छ के शंख को शेष सेना लेकर भाग जाना पड़ा था। छठा सर्ग स्तम्भतीर्थ के उत्सवों का वर्णन करता है कि जो सिर पर आई आपदा को दूर करने में दिखाई गई वस्तुपाल की बहादुरी से खुशी में मस्त नागरिक मना रहे थे। वह कहता है कि सब घरों की सफेदी की गई, घर-घर पर नौबतें बजने लगीं, गृहणियाँ मंगल गान गा रही थीं, मंदिरों में विशेष पूजा की गई, राजमार्ग सजाए गए और स्त्रियाँ खूब मूल्यवान वस्त्रों से सुशोभित थीं (श्लो. २-३)। देवी एकल्लवीरा के मंदिर में खूब धूमधाम से उत्सव किया गया जहाँ अमात्य अपने थोड़े से दरबारियों के साथ देवी की पूजा करने को गया। मार्ग के दोनों ओर नरनारियों के झुंड विजेता वीर के दर्शन के लिए एकत्र हुए। देवी की पूजा कर अमात्य आनन्द निकुंजों में गया वहाँ दो पहर में उसने कवि-गोष्ठि में भाग लिया। कुछ कवियों ने उसके वंश की प्रशंसा की, कुछ ने उसके पारितोषकों आदि की और दूसरों ने उसके अन्य गुणों की। कर्ण के समान वस्तुपाल के कान कवियों की इन वाणियों से पवित्र हो गए और उसने बदले में कवियों के हृदयों को अपनी उदारता से प्रसन्न कर दिया। इस प्रकार काव्यरूपी अमृत के छिड़काव में वस्तुपाल ने ग्रीष्म ऋतु का वह मध्याह्न कवियों के सानिध्य में उद्यान में बिताया और सायंकाल निवासस्थान को लौट आया (श्लो. ४६-५६)।

१४४. काव्य की गहरी कल्पना से ओत-प्रोत चन्द्रोदय, अनंगक्रीड़ा आदि के परम्परागत वर्णन सातवाँ सर्ग करता है। आठवें सर्ग का शीर्षक है परमार्थ

विचार जहाँ यह कहा है कि प्रातः स्नान करने के पश्चात् अमात्य ने तीर्थंकर का पूजन किया और तदनन्तर उनके ध्यान में मग्न हो गया। तभी उसने तीर्थयात्रा पर जाने का विचार भी अपने मन में कर लिया। नवाँ सर्ग इसी संघयात्रा का वर्णन करता है। यह संघ शुभ मुहूर्त में हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, रथ और दैनिक उपयोग के मुख्य-मुख्य पदार्थ लेकर रवाना हुआ। इस संघ में सेवक भी पर्याप्त संख्या में साथ लिये गए। जिनके पास कोई सवारी नहीं थी, उन्हें सवारियाँ दी गई, जिन्हें धन की आवश्यकता थी उन्हें धन दिया गया और जिन्हें जिस वस्त्र की आवश्यकता थी उन्हें वस्त्र दिए गए। मार्ग में जितने भी नगर, उपनगर आए उन सबने संघ का स्वागत किया। संघ के स्त्री और पुरुष भजन गाते, और मंदिरों में भगवान का पूजन करते थे। यों चलते-चलते एक दिन अमात्य संघ-सहित शत्रुंजय के शिखर पर पहुँच गया और पहुँच कर यक्ष कपर्दिन का फूलों से वहाँ पूजन किया गया। तदनन्तर वस्तुपाल ने वहाँ नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के दो मंदिर निर्माण कराए और श्री पार्श्वनाथ के मंदिर के सभा-मण्डप में उसने अपने वंशके पूर्वजों की, भाइयों की और मित्रों की घोड़े पर सवार मूर्तियाँ स्थापित कराईं और पहाड़ के समीप एक तालाब भी बनवाया (श्लो. ३१–३६)। दो या तीन दिन[1] वहाँ ठहर कर (श्लो. ३७) अमात्य रैवतक-गिरनार पर्वत को गया और वहाँ नेमिनाथ भगवान के मंदिर में जाकर भगवान् की खूब धूप-दीप-फूलों से पूजा की जिससे सारा का सारा पहाड़ ही सुगंध से महक उठा। शासनिक कामों की चिन्ता भुलाकर उसने वहाँ कई दिन बिताए (श्लो. ६६)। वहाँ से प्रभास पाटण, दक्षिण सौराष्ट्र जाकर भक्तिभाव से तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का वन्दन और सोमनाथ महादेव का पूजन किया। फिर याचकों को दान देता हुआ अमात्य अपने नगर धवलक्क को लौट आया। नगर की नारियाँ झुण्ड की झुण्ड अमात्य के दर्शन के लिए उमड़ पड़ीं हालांकि पहले भी सैंकड़ों बार वे उसका दर्शन कर चुकी थीं। नगर प्रवेश कर वस्तुपाल ने इन्द्र समान अपने स्वामी के चरण स्पर्श किए और संघ के सदस्यों का स्वागत समारोह करते हुए उन्हें विदा नमस्कार किया (श्लो. ७७)। सोमेश्वर इस महाकाव्य को फिर उस अन्तिम आशीर्वचन से

---

१. यह कथन महत्त्व का है क्योंकि जैन यात्री पहाड़ पर अब रात्रि व्यतीत नहीं करते हैं। सुकृतसंकीर्तन (६. ४२) में लिखा है कि वस्तुपाल पहाड़ पर आठ दिन तक ठहरा था और इसका समर्थन वस्तुपाल चरित (इं०ए०, भाग ३१, पृ. ४८६) आदि से भी होता है। कुछ भी हो यह तो निश्चय है कि उन दिनों में यात्री पहाड़ पर अनेक रात्रियाँ बिताया करते थे।

समाप्त कर देता है कि वस्तुपाल के समान दानी, भाटों एवं चारणों से अपनी कीर्ति गाथा सुनता हुआ सदा विजयी हो (श्लो. ७८)।

१४५ इस प्रकार कीर्तिकौमुदी समकालिक वीर की प्रशंसा के लिए लिखा गया महाकाव्य है। वह उन सभी गुणों को पूरा करता है कि जो साहित्य शास्त्र में एक महाकाव्य के लिए आवश्यक कहे गए हैं। इस महाकाव्य का आधार वास्तविक व्यक्ति की जीवन घटनाएँ हैं और इसका नायक चतुरोदात्त है। सोमेश्वर के इस काव्य की शैली सीधी सादी वैदर्भी है। उचित स्थानो पर वह पर्याप्त प्रसन्न और महान् है। इसमें श्लेष का प्रयोग कदाचित् ही किया गया है और अपने समय की काव्यकला मे प्रचलित कृत्रिमताओं से भी सामान्यतया वह मुक्त है। स्पष्ट ही इसमें सोमेश्वर का आदर्श कालिदास है। उसका यह कीर्ति-कौमुदी महाकाव्य तो कम से कम ऐसा है कि कालिदास, भारवि और माघ के सुप्रसिद्ध काव्यों के समकक्ष सम्मानपूर्वक खड़ा हो सकता है। सुरथोत्सव के पहले सर्ग में उसने कालिदास के काव्य के प्रति अपना अनुराग इन शब्दों मे व्यक्त किया है, 'मेरी प्रज्ञा और किसी भी काव्य से प्रसन्न नहीं होती जब मैं कालिदास के वचनो का विचार करता हूँ। क्या स्वर्ग के पारिजात को त्याग कर भ्रमरों को सिंधुवार के पुष्पों से प्रसन्नता हो सकती है ?'[1] कवि का यह कथन तब और भी महत्त्व का हो जाता है जब हम जानते हैं कि कीर्तिकौमुदी सर्ग २ में वर्णित राजलक्ष्मी का आत्मवृत्तान्त यदि बिलकुल नहीं तो भी, रघुवंश सर्ग १६. ४-२४ में दिए निर्जन नगर अयोध्या के ऐसे ही वर्णन का अभ्रांत प्रतिबिम्ब तो है जहाँ कि कुशावती से अपनी राजधानी उठा कर अयोध्या में ले जाने को कुश से कहा गया है। कीर्तिकौमुदी मे कितने ही स्थल इतने उत्कृष्ट साहित्यिक गुणोवाले है कि वे संस्कृत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणो की तुलना में भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अणहिलवाड़, सहस्रलिंगसागर और कीर्तिस्तम्भ का वर्णन (१. ४१ आदि); गुजरात के दुर्दिनों में राजलक्ष्मी का विलाप (२. ८७ आदि); राज्यपाल नियुक्त होकर स्तम्भतीर्थ में पहुँचने पर वस्तुपाल का स्वागत (३, ७-८); शङ्ख के पराजय पर नगरजनों का हर्षोत्साह (६ १६ आदि); वस्तुपाल के दर्शनो के लिए आतुर स्त्रियो का वर्णन (६ १६ आदि); कि जो अश्वघोष, कालिदास और बाण के ऐसे ही वर्णनों का स्मरण करा देता है; चन्द्रोदय का अनुपम वर्णन (७), और महान् संघयात्रा का विवरण (९), जैसे कुछ उदाहरण हैं। वस्तुपाल और लवणप्रसाद के बीच

---

१. सुरथोत्सव १. ३५ ।

हुआ थोड़ासा राजनीतिपूर्ण वार्तालाप (३. ५६ आदि) हमें शिशुपालवध और किरातार्जुनीय के प्रारम्भ में वार्तालाप का स्मरण करा देता है।

१४६ कीर्तिकौमुदी से कुछ श्लोक उद्धृत करना यहाँ इसलिए आवश्यक हैं कि जिससे सोमेश्वर की काव्यकला की उत्कृष्टता का हमें दिग्दर्शन हो जाए। पहले कीर्तिस्तम्भ का वर्णन ही देखिए—

यस्योच्चैः सरस्तीरे राजते रजतोज्ज्वलः।
कीर्तिस्तम्भो नभोगङ्गाप्रवाहोऽवतरन्निव॥
सर्ग १ श्लो. ७५

जब भीमदेव द्वितीय के राज्यकाल में अणहिलवाड़ की दुर्दशा का राज्यलक्ष्मी के मुख से वर्णन सुनिए—

मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा निष्कुण्डलेव दलितोज्ज्वलवृत्तवप्रा।
दूरादपास्तविषया विधवेव दैन्यमभ्येति गुर्जरधराधिपराजधानी॥
सर्ग २. १०४

योग्य मंत्रियों की नियुक्ति की बात लवणप्रसाद के समक्ष सोमेश्वर का प्रस्तुत करना देखिए—

दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति नीत्या समुन्नयति मंत्रिजनः पुनस्तान्।
रत्नावलीं जलधयो जनयन्तु किन्तु संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति॥
सर्ग २. ११३

यदि राजा राजनैतिक मामलों में न्यायपूर्वक बरतने को राजी है तो मन्त्रित्व का भार वस्तुपाल ले सकता है। वस्तुपाल के मुख से कहलाई यह बात सुनिए—

पुरस्कृत्य न्यायं खलजनमनादृत्य सहजान्-
रीन्निर्जित्य श्रीपतिचरितमाश्रित्य च यदि।
समुद्धर्तुं धात्रीमभिलषसि तत्सेप शिरसा
धृतो देवादेशः स्फुटमपरथा स्वस्ति भवते॥
सर्ग ३. ७७ श्लोक

जब सिंहण ने आक्रमण किया, गुर्जरभूमि पर विषाद छा गया था। उसका वर्णन सोमेश्वर के शब्दों में सुनिए—

श्रुतसिंघनसैन्यसिंहनादप्रसरा गुर्जरराजराजधानी।
हरिणीव हरिन्मुखावलोकं चकितान्तःकरणा मुहुश्चकार॥
गृहमारभते न कोऽपि कर्तुं कुरुते कोऽपि न सङ्ग्रहं कणानाम्।
स्थिरतां कचनापि नैति चेतः परचक्रागमशंकया प्रजानाम्॥

अवधीरितधान्यसंचयानां बहुमानः शकटेषु मानवानाम् ।
विपदामुदये हि दुर्निवारे शरणं चक्रभृदेव देहभाजाम् ॥
समुपैति यथा यथा समीपं रिपुराजध्वजिनी मदात्तदानीम् ।
परतः परतस्तथा तथासौ जनता जातभयोच्छ्रया प्रयाति ॥
सर्ग ४ श्लोक ४३–४६

स्तम्भतीर्थ के जनोत्सवों का सरल परन्तु स्पष्ट वर्णन पढ़िए—

गृहे गृहे धातुरसानुलेपाः समन्ततः स्वस्तिकपङ्क्तिमन्तः ।
विरेजिरे तूर्यरवानुकूलाः कुलांगनामंगलगीतयश्च ॥
बभूव देवेषु विशेषपूजा राजन्यमार्गेषु विशेषशोभा ।
विशेषहर्षः पुरपूरुषेषु विशेषवेषश्च वधूजनेषु ॥
सर्ग ६ श्लोक २–३

अब देखिए काव्य की सुन्दर छटा—

त्रैलोक्यदीपके देवे लोकान्तरमुपेयुषि ।
तमस्तान्तमभूद्विश्वं कः सुखी महदापदि ॥
गते भानौ स्थिते ध्वान्ते पद्मिन्या साधु मीलितम् ।
दूरीदृथ महतामापदसतामुन्नतिश्च यत् ॥
सर्ग ७ श्लोक १५–१६

कुछ काव्यमय उत्प्रेक्षाएँ भी देखिए—

क्व गतः सविता ध्वान्तमेतदप्यागतं कुतः ।
एवं सविस्मयेव द्यौः स्फारतारमवैक्षत ॥
सर्ग ७ श्लोक १९

नीरन्ध्रेणान्धकारेण रोदसी संपुटीकृते ।
अथोद्घाटयितुं कोऽपि प्रवृत्त इव पूर्वतः ॥
सर्ग ७ श्लोक २४

रोहिणीरमणं वीक्ष्य रागादागतमन्तिके ।
सस्मितेव तदुद्योतदम्भादभवदैन्द्रदिक् ॥
सर्ग ७ श्लोक २६

आविर्बभूव पूर्वस्मादद्रेश्चन्द्रः शनैः शनैः ।
तदीयैस्तटमाणिक्यकिरणौघैरिवारुणः ॥
सर्ग ७ श्लोक २८

स्त्रियों के माणिक्यजटित कर्ण कुण्डलों की ताड़पत्र पर लिखी पुस्तकों के काले अक्षरों से समान रंग होने के कारण तुलना कितनी यथार्थस्पर्शी है वह देखिए—

ताडपत्रश्रिया न्यस्तनीलाश्मगणवर्णया ।
पुस्तिकेव चकास्ति स्म काचित् कामविपश्चितः ॥
सर्ग ७ श्लोक ५३

शरद् ऋतु का सुदक्ष वर्णन सुनिए जो यह बताता है सोमेश्वर लंबे-लंबे वृत्त बनाने में भी कितना पटु था—

स्वच्छं वारि निवारितामरधनुर्व्योम व्यपेताम्भसः
पाथोदाः समदाः सितच्छदवधूराशाः सकाशाः पुरः ।
भाति स्म प्रथयन्नहंप्रथमिकां तेजस्विपूर्त्तोजितः
श्यामाम्भोधरभस्मनेव शशभृद्दिक्कामिनीदर्पणः ॥
सर्ग ८ श्लोक ७१

अनेक सूक्तियों में से दो वे देखिए जो कि वस्तुपाल से संघयात्रा प्रयाण के पूर्व कहलाई गई हैं—

पित्राद्यैरुपभुक्ता या पुत्राद्यैरपि भोग्यते ।
कामयन्ते न तां सन्तो ग्रामवेश्यामिव श्रियम् ॥
सर्ग ८ श्लोक ३५

अन्धा एव धनान्धाः स्युरिति सत्यं तथा हि ये ।
अन्योक्तेनाध्वना गच्छन्त्यन्यहस्तावलम्बिनः ॥
सर्ग ८ श्लोक ३७

और अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि धर्म ही जीवन का एक मात्र सहारा है—

विधौ विध्यति सक्रोधे वर्म धर्मः शरीरिणाम् ।
स एवं केवलं तस्मादस्माकं जायतां गतिः ॥
सर्ग ८ श्लोक ५६

अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन

१४७. अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन इस युग का दूसरा महाकाव्य है जिसका विषय भी वस्तुपाल का जीवन और कार्यकलाप ही है। जैसा कि इनका नाम ही बताता है इसकी रचना वस्तुपाल के सुकृतों के संकीर्तन के लिए ही हुई थी। कीर्तिकौमुदी ने जैसे वस्तुपाल के राजसिक जीवन पर अपेक्षाकृत अधिक भार दिया है, वैसे ही सुकृतसंकीर्तन ने उसके धार्मिक और लोकप्रिय कामों के वर्णन को अधिक स्थान दिया है। इस प्रकार दोनों महाकाव्य परस्पर संपूरक हैं

और यह बहुत संभव है कि ये ऐसे ही दृष्टिकोण को सामने रख कर रचे भी गए हों। सुकृतसंकीर्तन में ११ सर्ग और कुल ५५३ श्लोक हैं।

१४८. पहले सर्ग में अणहिलवाड़ में राज्य करनेवाले पहले ही राजवंश चापोत्कट या चावड़ा राजाओं की वंशावली और अणहिलवाड़ नगर का वर्णन दिया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि चौलुक्यों और वाघेलों के काल में लिखे गए अनेक ऐतिहासिक काव्यों में से अरिसिंह के सुकृतसंकीर्तन और उदयप्रभ के सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी में ही चावड़ों का वर्णन है। हेमचन्द्र, जिसने अपने नगर का इतिहास लिखने का नियमित प्रयत्न किया था, इस विषय में कदाचित इसीलिए मौन रहा था कि चावड़ा वंश एक छोटे से क्षेत्र पर राज्य करने वाला कदाचित् था हालाँकि उसी वंश के वनराज ने ही अणहिलवाड़ की स्थापना की थी। चावड़ा शाखा के आठ राजाओं के नाम अरिसिंह ने गिनाए हैं, यथा—वनराज, योगराज, रत्नादित्य, वैरसिंह, क्षेमराज, चामुण्ड, राहड और भूभट[1]। इनके विषय में उसने इसके सिवा कुछ भी नहीं कहा है कि वनराज ने अणहिलवाड़ में पंचासरा पार्श्वनाथ का मंदिर निर्माण कराया था (१.१०) जिसका आगे जाकर वस्तुपाल ने जीर्णोधार कराया (११.२)[2]। दूसरे सर्ग में चौलुक्य शाखा का वर्णन है जिसमें मूलराज से प्रारम्भ कर कवि भीमदेव द्वितीय तक ले आया है और इसे वह

---

१. चावड़ों के सम्बन्ध में प्राचीनतम शिलालेखी उल्लेख वि. सं. १२०८=११५२ ई० के वड़नगर के कुमारपाल के शिलालेख में मिलता है। अणहिलवाड़ के संस्थापक और चावड़ा वंश के पहले राजा वनराज का साहित्य में प्राचीनतम उल्लेख हरिभद्रसूरि के अपभ्रंश काव्य नेमिनाहचरिय की प्रशस्ति में मिलता है। यह हरिभद्र पैरा १७ में वर्णित हरिभद्र से भिन्न है। यह नेमिनाहचरिय वि. सं. १२१६ याने ११६० ई० की रचना है (र. छो. परीख, काव्यानुशासन, प्रस्ता. पृ. १०३)। बाद के ग्रन्थों में दी चावड़ा वंशावली और चावड़ा राजाओं के राज्यकाल में बहुत ही अन्तर मिलता है और इसीलिए चावड़ों का कालक्रम यथार्थ रूप से अभी तक स्थिर नहीं हो सका है। इस समस्या के वादविवाद के लिए देखो ब्यूलर, इंए, भा. ३१ पृ. ४८१, और रा. चु. मोदी का चावड़ाओंनी वंशावली (गुज) लेख, सातवीं गुजराती साहित्य परिषद का विवरण।

२. वस्तुपालचरित, ७. ६६।

चिंताओं से घिरा बताता है क्योंकि उसके राज्य को सामतो और माण्डलिकों ने हड़प लिया था (२.५१)। कीर्तिकौमुदी से अधिक कोई भी ऐतिहासिक जानकारी हमें इससे प्राप्त नहीं होती है।

१४६. तीसरे सर्ग को मंत्रिप्रकाश शीर्षक दिया गया है। इस सर्ग के वृत्तान्त से कीर्तिकौमुदी में दिए (दूसरा सर्ग) वृत्तान्त की यदि हम तुलना करेंगे तो हमें दोनों मे बड़ा अन्तर दीख पड़ेगा। सोमेश्वर के वर्णन के अनुसार गुजरात के राजाओं के भाग्य के प्रतीक रूप स्त्री मूर्ति राजलक्ष्मी लवणप्रसाद को स्वप्न मे प्रकट हुई थी और उसने उसको राज्य की रक्षा करने को आह्वान किया था, जो राज्य भीमदेव के शासन मे नष्ट होता जा रहा था। देवी के इस आह्वान या आज्ञा को मान्य कर लवणप्रसाद और वीरधवल ने अणहिलवाड़ के गौरव के पुनर्स्थापन का भार अपने ऊपर ले लिया और वस्तुपाल एवं तेजपाल को अपने मंत्री बनाए। संक्षेप में यही वह कहानी है जो अवास्तविक वृद्धियों को छोड़ देने के बाद उसमें से निकलती है कि जिन्हें सोमेश्वर एक अच्छे राजकवि होने के नाते जोड़े बिना नहीं रह सकता था। अरिसिंह ने स्थिति दूसरी रीति से कही है। कुमारपाल (जो कि, जैसा कि हमें मालूम है, वाघेलावंश के आदि पुरुष अर्णोराज की मौसी का पुत्र था ने भीम द्वितीय को देव रूप से स्वप्न में दर्शन दिया (३.१ आदि) और आज्ञा दी कि लवणप्रसाद को वह अपना सर्वेश्वर (३.२३) नियुक्त कर दे ताकि वह शत्रुओं का नाश करे और उसे धनेश बना दे। तब भीम ने राजसभा में लवणप्रसाद को अपना सर्वेश्वर बना दिया और वीरधवल को उसका युवराज घोषित कर दिया (३.३७–३६)[1]। लवणप्रसाद ने भीम को प्रार्थना की कि अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए उसे ऐसा मंत्री चाहिए कि जो शास्त्र एवं शस्त्र दोनो के ही उपयोग मे जितना परम निपुण हो, राजकोश को परिपूर्ण करने और युद्ध लड़ने में भी उतना ही चतुर हो (३.४२। थोड़ी देर तक सोचने के बाद राजा ने उत्तर दिया कि वह वस्तुपाल और तेजपाल की सेवाएँ अर्पण कर देगा और तत्क्षण उसने उन्हें वीरधवल के मंत्री का काम करने को आज्ञा दे दी। (३.४४ आदि)[2]।

---

१. गृहाण विग्रहोदग्रसर्वेश्वरपदं मम।
युवराजोऽस्तु मे वीरधवलो धवलो गुणैः॥
—सुकृतसंकीर्तन सर्ग ३, श्लो० ३६

२. आहूय तौ स्वयं प्राह नमन्मौलि सहोदरौ।
युवां नरेन्द्रव्यापारपारावारैकपारगौ॥
कुरुतां मन्त्रितां वीरधवलस्य मदाकृतेः।—वही, सर्ग ३, श्लो. ५८–५९

१५०. इस प्रकार वस्तुपाल के राजपदोत्कर्ष की बात कह कर अरिसिंह चौथे सर्ग में उसके सुकृत्यों का वर्णन करता है। वस्तुपाल की सहायता से वीरधवल ने 'सागरवेष्ठित पृथ्वी' विजय कर ली। वस्तुपाल ने अपने अनुज की सम्मति से एक बार अपने धर्मगुरु का उपदेश सुनने और उनकी सूचनानुसार धर्मकार्य करने का निश्चय किया (४.१४–२६)। इस बीच ही कवि ने नागेन्द्र गच्छ की महेन्द्रसूरि से लेकर विजयसेनसूरि तक की गुर्वावली दे दी है कि जो चण्डप के समय से ही उसके कुलगुरु रहते आए थे (४ १५–२६)। अब वस्तुपाल विजयसेन के पास जाता है और उनका उपदेश सुनता है। गुरु उसे तीर्थयात्रा जैसा श्लाघ्य काम करने का अनुमोदन करते हैं (४ ३३–४३)। इसलिए वस्तुपाल शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थयात्रा के लिए संघ का नेतृत्व करने का निश्चय कर लेता है (४ ४४) पाँचवें सर्ग मे संघयात्रा की तैयारियो का वर्णन है (श्लोक १–६) जिनकी कीर्तिकौमुदी के सर्ग ६ के इसी विषय के वर्णन से तुलना की जा सकती है। कवि कहता है कि यात्रा में उचित औषधियाँ लिये हुए वैद्य भी साथ में लिये गए थे ताकि रोगियों की सेवा और चिकित्सा की जा सके (श्लोक २–४)। वस्तुपाल स्वयं जैन उपाश्रयो में गया और साधुओं को संघयात्रा मे सम्मिलित होने को उसने उन्हें प्रार्थना की। (श्लो. ६)। जो मुनि संघयात्रा में सम्मिलित हुए उनमें से मुख्य-मुख्य के नाम भी कहे गए है। वे है नरचन्द्रसूरि, जिनदत्तसूरि वायड़गच्छके[1], जो कि कलाओं के आगार थे, सण्डेरगच्छ के शांतिसूरि[2] और गल्लको[3] में सूर्यसमान

१. देखो पैरा १०१ के टिप्पण।

२. जाबालीपुर के मन्त्री यशोवीर के गुरु शान्तिसूरि थे (पैरा ९४)। यशोवीर के बनाए मन्दिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा इन्हीं आचार्य द्वारा कराई गई थी। (प्राजैलेसं, सं. १०८–१०९)।

३. गल्लक जिसके कि धर्मगुरु वर्धमानसूरि थे, एक जाति या कबायली कुल प्रतीत होता है (तुलना करो:—स वर्धमानाभिधसूरिशेखरस्ततोऽचलद् गल्लकलोकभास्कर:—सुकृतसकीर्तन सर्ग ५, श्लो. १२)। वलभी सं. ९२७ के सौराष्ट्र के वेरावल के शिलालेख के अनुसार श्रेष्ठी मूल, जो गल्लक जाति का था, ने प्रभास पाटण में गोवर्धन की एक मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी (गुऐशि, सं. २५० ए) कदाचित् गल्लक शब्द कनड़ी और तैलगू शब्द गोल्ल से कुछ सम्बन्धित हो जिसका कि अर्थ गवाला है। जैनागमों की टीकाओं में हमें गोल्ल देश का बहुत बार उल्लेख मिलता है और एक स्थान पर तो यह भी

वर्धमानसूरि[1] (श्लोक १०–१३)। संघ को शत्रुंजय पहाड़ की तलेटी में पहुँचा कर यह सर्ग समाप्त हो जाता है।

१५१. छठे सर्ग में सूर्योदय का आलंकारिक वर्णन है। सातवें सर्ग में संघ का पहाड़ पर परिभ्रमण है और दूसरे दिन के आयोजित उत्सव का वर्णन है। वस्तुपाल ने कपर्दी यक्ष को नमस्कार किया और वह आदिनाथ के मुख्य मंदिर के मुख द्वार पर आ पहुँचा। अन्य यात्रियों ने भी उसका अनुसरण किया। वहाँ बाहर ही से प्रणाम करके वस्तुपाल ने जिनेश्वर की स्तुति की (८–२६ से ३३)। पुनश्च पवित्र होकर उसने संगीत और नृत्यादि के साथ मंदिर में प्रवेश किया, केसर युक्त जल द्वारा मूर्ति को स्नान कराया, कस्तूरी द्वारा अंगराग किया और फूल चढ़ाए। शत्रुंजय पर आठ दिन रहने के पश्चात् मंत्रीश्वर वहाँ से नीचे उतर आए और गिरनार यात्रा के लिए उत्सुक हो गए। गिरनार पर नेमिनाथ को और प्रभास पाटन में सोमनाथ की जो यात्राएँ मंत्री ने की उन्हीं का वर्णन आठवें सर्ग में है। गिरनार पर भी वे आठ दिन रहे। पर्वतीय ढाल पर वस्तुपाल ने समकाल में छः ऋतुओं की शोभा देखी जिसका वर्णन कवि ने नवें सर्ग में किया और महाकाव्य में आवश्यक ऐसा एक परंपरागत लक्षण कवि ने जोड़ दिया।

१५२. दसवे सर्ग में गिरनार से धोलका तक लौटने की संघ यात्रा का वर्णन है। गिरनार से नीचे उतरने के बाद वस्तुपाल ने यात्रियों को भोजन कराया तथा उनको प्रीतिदान द्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् वहाँ से आगे बढ़कर शुभ वेला में वामनस्थली में प्रवेश किया क्योंकि इसके पहले जैन संघों में उक्त नगर प्रवेश का निषेध था (१०–६)। वीरधवल के साले सांगण और चामुण्ड में विरोध ही शायद इस निषेध का कारण रहा होगा। संघ जब धोलका के पास पहुँचा तब राना वीरधवल और बहुत से अन्य नागरिक उसके सत्कारार्थ

कहा मिलता है कि सुप्रख्यात चाणक्य उस देश के चणक नामा गाँव में जन्मा था (अभिधानराजेन्द्र, भा० ३ पृ. १०११) परन्तु इसके ठीक ठीक निश्चित करने के विश्वस्त प्रमाण अभी तक कोई नहीं मिले हैं। सम्भव है कि यह गल्लक जाति पहले पहल उसी देश से निकली हो।

१. वर्धमानसूरि बृहद्गच्छ के आचार्य थे (वस्तु. चरित, ८ ६०३)। उनका उपदेश सुनकर वस्तुपाल उत्तर गुजरात में संखेश्वर की तीर्थयात्रा को गया था (वस्तु. चरित, ७. २८४–६७)। पुरातन प्रबन्धसंग्रह पृ. ६८, ८३, ९५ और ११६ में भी इनका उल्लेख है।

आ पहुँचे। वस्तुपाल, तेजपाल और वीरधवल त्रिपुरुष रूप में स्थित शिव समान (१०-११) ने बन्दीजनो के स्तुति वाक्य (१०-१४ से २६) और दर्शनोत्सुक युवतियो के आनन्द वाक्यों (१०-३ से ४२) के साथ नगर में प्रवेश किया।

१५३. ग्यारहवे सर्ग में वस्तुपाल के सत्कार्यो का वर्णन है और काव्य की दृष्टि से यह सर्ग अपना विशिष्ट महत्व रखता है। सर्ग के आरम्भ में ही कवि ने कहा है कि खंभात के हाकिम बनने के बाद ही से वस्तुपाल ने अपनी मूर्तिमंत कीर्ति के सदृश मंदिरो को बनवाना शुरू कर दिया। इस सर्ग में (श्लोक २ से ३४) कवि ने, वस्तुपाल के ४३ सद्कृत्यों की सूची दी है जिसमें अलग-अलग मंदिरो के बनवाने और कई के जीर्णोद्धार का वर्णन है। वस्तुतः वस्तुपाल के कार्यो की सूची इससे कही और लम्बी होनी चाहिए थी, क्योंकि 'सुकृतसंकीतंन' की रचना ई. स. १२३१ से पहले हो चुकी है, (पैरा ६८) अतः उसके बाद सम्पन्न होने वाले कार्यों की सूची का उसमें समावेश न होना ही स्वाभाविक है। उपर्युक्त सूची अरिसिंह ने व्यवस्थित रूप में दी है और सिलसिलेवार एक के बाद दूसरे गाँवों और नगरों को लेकर उनमें प्रतिष्ठित किए गए मंदिरों का वर्णन किया है। अणहिलवाड़, खंभात, धोलका, शत्रुंजय, पादिलप्त पुर अथवा पालिताणा, अर्कपालित अथवा अंकेवालिया, उज्जयन्त, अथवा गिरनार, स्तंभन अथवा खेड़ा जिले के थामणा, दर्भावति अथवा डभोई और आबू में वस्तुपाल द्वारा बनवाए गए वा जिर्णोद्धारित मंदिरो, तालाबो और अन्य विविध प्रकार के रचनात्मक कार्यों का उल्लेख कवि ने किया है।[1] ब्राह्मण धर्म के कितने ही मदिरो का लेखा-जोखा इस सूची में है, जो इस महान दानेश्वरी की उदार मनोवृत्ति पर प्रकाश डालता है। अन्त में, वस्तुपाल की असंख्य 'कीर्तिका'—कीर्ति स्मारको के वर्णन के लिए अपने को अल्पज्ञ (असमर्थ) बताकर, उसके कीर्ति की प्रशस्ति गाथा गाते हुए 'अरिसिंह' इस काव्य को पूर्ण करता है।

१५४. साहित्यिक दृष्टि से सुकृतसंकीर्तन की तुलना कीर्तिकौमुदी से नहीं की जा सकती है। फिर भी यह कहना होगा कि कवि की काव्य रचना अच्छी है। उसके कुछ वर्णन सुन्दर और शब्दालंकार मुग्धकर हैं जो उसके अलंकार-शास्त्र के अच्छे अध्ययन की साक्षी देते हैं। अणहिलवाड़ का वर्णन यथार्थ से अधिक

---

१. सुकृतसंकीर्तन में वर्णित लोक कार्यों के लिए और अन्य स्थानों में मिलती इस सम्बन्धी सूचनाओं की तुलना के लिए देखो ब्यूलर, इंए, भाग २१. पृ. ४६१ आदि।

काल्पनिक है (१.१० आदि)। भीमदेव को स्वप्न में कुमारपाल का दर्शन देना, और उसको साग्रह अनुरोध करना (३ १ आदि); संघयात्रा से धूलि का अम्बार उठना (५ २२ आदि); चन्द्रोदय (सर्ग ६) और षड्ऋतुओं (सर्ग ६) का सुन्दर और मनोमुग्धकारी अनुप्रासो से परिपूर्ण वर्णन और अरिसिंह की मुख्य सफलताएँ है। छठे सर्ग के प्रारम्भ में वर्णित श्राविकाओं का नृत्य आज का ही गुजरात का गरवा नाच है। और वह इस काव्य को प्रकृत स्थानिक संस्पर्श प्रदान कर देता है—

जिनमहमहिमानं प्रत्यदीयन्त दूरादथ वलयितवृन्द रासकाः श्राविकाभिः।
तनुसदननिषण्णक्रूरकाकोलकालस्फुरितदुरितजालत्रासकृच्चारतालम् ॥

सर्ग ६ श्लोक १

और उसी सर्ग मे चन्द्रोदय का वर्णन देखिए—

विरहशिखिसमीरः कामनासीरवीरस्तिमिरतरुकुठारः पूर्वदिक्ताग्हारः।
गगनगजनिपादी कामिनीचक्रवादी सितरुचिरुदितोऽयं वर्धयन् वाद्धितोयम्

सर्ग ६ श्लोक १६

मनोमुग्धकारी अनुप्रास परिपूर्ण वसन्त सौन्दर्य वर्णन करनेवाले दो श्लोक भी देखिए—

स्मितसरोजमुखीमुखवासनासुरभिमद्यविशेषितसौरभम्।
परिहृतापरवल्लिमधुव्रतीधवकुलं वकुलं प्रति धावति ॥
सुमनसां त्वमसि स्थितिभूस्त्वया जयति विश्वमसौ कुसुमायुधः।
मधुमितीह रसालरसालसा पिकवयः कवयः कवयन्त्यमी ॥

सर्ग ६ श्लोक ५–६

बालचन्द्र का वसन्त विलास

१५५. अब हम बालचन्द्र के वसन्तविलास का वर्णन करेंगे जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है (पैरा ४० और १२५), वस्तुपाल की जीवनी वर्णन करता है। इस काव्य में १४ सर्ग और कुल १०२१ श्लोक है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह की प्रशसा मे भी एक श्लोक दिया है कि जिसके आदेश से यह काव्य लिखा गया था (देखो पैरा १२५)।

१५६. पहले सर्ग मे सज्जनो की प्रशसा और दुर्जनो की निन्दा और काव्यामृत पर लम्बा विवेचन करने के पश्चात् कवि ने अपना वैयक्तिक परिचय प्रस्तुत किया है और यह बताया है कि उस पर सरस्वती की कृपा कब और कैसे हुई ?

नायक का प्रवेश कराते समय उसने काव्य के लिए उसे ही अपना विषय चुनने का कारण बताते हुए कहा है कि 'जो गुण नल, युधिष्ठिर और राम में थे, वे आज वस्तुपाल में देखे जाते हैं और इसीलिए मैं उसके गीत गा रहा हूँ।' (१-७६) दूसरे सर्ग में अणहिलवाड़ का, उसके स्वर्ण मंदिरों का, महलसम भवनो का, उसके सुदृढ़ गढ़ और चारों ओर की गहरी खाई का और दुर्लभराज ताल का वर्णन किया है। तीसरे सर्ग में मूलराज से प्रारम्भ कर भीमदेव द्वितीय तक के गुजरात के राजाओं का इतिहास दिया है जिसकी हम कीर्तिकौमुदी और सुकृत-संकीर्तन के वर्णनों से तुलना कर सकते हैं। गुजरात की अराजकता से रक्षा करनेवाले वीरधवल और उसके पूर्वजों के शौर्य को प्रशंसा भी इसमें की गई है (३ ३७–५०)। गुजरात राज्य की भाग्यदेवी वीरधवल को स्वप्न में दर्शन देती है और भीमदेव के निर्बल शासन से हुई दुर्दशा से उसकी रक्षा करने का अनुरोध करती है और उसकी सिद्धि के लिए वस्तुपाल एवं तेजपाल को अपना मंत्री बना लेने का आदेश करती है (३ ५१–६४)। इससे यह स्पष्ट है कि यह सारा वृत्तान्त कीर्तिकौमुदी में वर्णित वृत्त का सीधा अनुकरण मात्र है (पैरा १४१)।

१५७. चौथा सर्ग दोनों मंत्रियों के उच्च गुणों के अतिरंजित वर्णन से प्रारम्भ होता है और वस्तुपाल के स्तम्भतीर्थ के राज्यपाल की नियुक्ति से समाप्त हो जाता है। पाँचवें सर्ग में वस्तुपाल और शंख के युद्ध का और शंख की पराजय का वर्णन किया गया है। शंख का सवेग भृगुकच्छ को पलायन यह कह कर दर्शाया गया है कि 'अपने निवासस्थान पर पहुँच कर ही उसने साँस ली।' (४.१०६)। स्तम्भतीर्थ के आक्रामक की पराजय को स्मरणीय बनाने के लिये हुए उत्सवों के वर्णन से सर्ग समाप्त होता है। (४.११०–११) इसके आगे के तीनों सर्ग प्रथानुकूल वर्णन के हैं। अर्थात् छठे सर्ग में छह ऋतुओं का, सातवें में वसन्त में पुष्प-चयनका, झूलो के आनन्द का और जलक्रीड़ाओं का वर्णन है। आठवाँ सर्ग चन्द्रोदय एवं प्रेमक्रीड़ाओं का वर्णन करता है।

१५८. नवें सर्ग में कहा गया है कि जब वस्तुपाल रात में सो गया तो उसे स्वप्न हुआ। उस स्वप्न में धर्म जिसका एक ही चरण बच रहा था, उसके समक्ष उपस्थित हुआ और कहने लगा कि कृत युग में चार, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और अब इस कलियुग में उसका एक ही चरण रह गया है। राजा मूलराज और सिद्धराज जयसिंह ने सोमनाथ की यात्राएँ करके मेरा विस्तार किया था, सिद्धराज ने राजविहार जैसा महान् मंदिर बनवाया था जो मुझे प्रमोद-शैल के समान था और मेरा गौरव बढ़ाने के लिए उस राजा ने १२ गाँव

शत्रुंजय तीर्थ को चढ़ाए थे। वह राजा भी चला गया और उसकी माता मयणल्लादेवी भी जिसने सोमनाथ के यात्रियों से लिया और वहुलोद (धोलका के पास का आधुनिक भोलाद) पर वसूल किया जाने वाला लागा उठा दिया था यही नहीं अपितु उन्हे खाना-पीना भी देती थी। कुमारपाल ने शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थयात्राएँ कीं और अनेक मंदिर भी निर्माण कराये थे। मेरे वृष रूप के दो सींगों के समान केदार और सोमेश्वर के मंदिरों का जीर्णोद्धार भी उसने कराया था। मूलराज द्वारा बनाये गए माडली के मूलेश्वर महादेव के मंदिर का जीर्णोद्धार भी उस कुमारपाल ने कराया था। परन्तु आज तो वह सब जाहोजलाली चली गई है। भिन्न-भिन्न दर्शन सम्प्रदायों के अनुयायी कहाँ जाएँ ? विपत्ति की यह थोडी सी कथा ही तुझे मैंने तो कही है। हे महामात्य ! अब तुम ऐसा करो कि जिससे मेरे मन का यह क्षोभ दूर हो जाए।' जब यह सब धर्म द्वारा कहा जा चुका, तो वस्तुपाल की निद्रा भी टूट गई (९ १–३४)। सर्ग का शेषांश (९ ३५–६०)। वैतालिकों के गीतों को जो वस्तुपाल की प्रशंसा मे गाये जाते है और सूर्योदय का वर्णन करता है। इस काव्य मे वस्तुपाल को स्वप्न मे धर्म का दर्शन देना ही प्रमुख बात है। किसी भी जैन साहित्य अथवा पुराण मे धर्म को वृषभ रूप में जिसका कलियुग में एक पाँव ही रह गया हो, चित्रित किया गया नहीं देखा जाता है। ऐसा वर्णन तो हमे भागवत पुराण (१. अ. १६–१७) में ही मिलता है और इसी ने सम्भवतया बालचन्द्र को थोड़ा बहुत प्रभावित किया हो ऐसा लगता है। नैषधीयचरित्र १.७) में भी कृतयुग मे धर्म के चार चरण का निर्देश है। अणहिलवाड़ और धवलक्क की राजसभा में जैन और ब्राह्मण विद्वानों का सांस्कृतिक सम्पर्क बहुत निकट रहा था और इसलिए यह आश्चर्य की कोई बात ही नहीं है कि बालचन्द्र ने जो जैन साधू होने के पूर्व ब्राह्मण था पैरा १२४), भागवत पुराण से यह उपादान लिया हो और उसका उपयोग वस्तुपाल के जीवन वर्णन के काव्य में कर लिया हो। इसके अतिरिक्त सर्ग ९ के अन्त मे वैतालिकों के गीतों की बात की तुलना भी हम संस्कृत साहित्य में प्राप्त दो ऐसे ही वर्णनों से कर सकते हैं—एक तो रघुवंश (५. ६५–७६) और दूसरे नैषध (१९) कि जहाँ अज और नल को सोते से जगाने के लिए वैतालिक सूर्योदय का वर्णन करते हैं। शिशुपालवध (११) मे दिए वैतालिकों के गीतों के गीतों से जिनसे कृष्ण जगाये जाते है, भी इनकी तुलना की जा सकती है।

१५९. दस से तेरह तक के सर्गों में वस्तुपाल की संघयात्राओं का वर्णन किया गया है जो कि कीर्तिकौमुदी और सुकृतसंकीर्तन के वर्णनों से वस्तुतः किसी

भी रूप में भिन्न नहीं है चौदहवें सर्ग में कवि कहता है कि वस्तुपाल के बनवाए मंदिर, धर्मशालाएँ, ब्राह्मणसत्र, तालाब आदि भिन्न-भिन्न नगरों और गाँवों में इतने हैं कि उनकी गणना करना उसके लिए आकाश के तारों की तरह ही दुरूह है (१४.६–१०) तदनन्तर वस्तुपाल की मृत्यु का वर्णन करनेवाला रूपक आता है जो हमारे लिए विशेष उपयोगी है क्योंकि अन्यत्र कहीं मृत्यु की बात नहीं कही गई है। यह रूपक इस प्रकार है—'एकदा धर्म की दूत वृद्धावस्था ने वस्तुपाल से कहा कि धर्म की पुत्री सद्गति उसकी आकांक्षा कर रही है और उसके माता-पिताओं ने उसका विवाह तुम्हारे साथ कर देना निश्चय कर लिया है। इस सद्गति के विचारों में तल्लीन वस्तुपाल को प्रेमज्वर चढ़ आया और उसने उससे विवाह करने के लिए शत्रुंजय गिरि की तीर्थयात्रा करने का पक्का निश्चय कर लिया। उसके इस निश्चय की सूचना धर्म को उसके सेवक आयुर्बन्ध ने कर दी जिसे सुन कर धर्म बड़ा ही प्रसन्न हुआ और विवाह का लग्न स्थिर करके उसने अपने दूत सद्बोध को वस्तुपाल के पास भेजा। इस दूत ने वस्तुपाल को सूचना दी कि धर्म ने उसे शत्रुञ्जयगिरि पर विक्रम संवत् १२९६ माघ सुदी ५ रविवार को पहुँचने का आदेश दिया है। वस्तुपाल ने अपने पुत्र जैत्रसिंह को, उसकी स्त्री ललितादेवी को और अनुज तेजपाल को अपने पास बुलाया और उन्हें सब प्रकार की सूचनाएँ जो आवश्यक थीं, दे दी। राजा से मिल कर तब वह शत्रुञ्जयगिरि के लिए रवाना हुआ। वह गिरिराज पर चढ़ा और उसके लग्न के दिन आदिनाथ का मंदिर वहाँ खूब ही सजाया गया। धर्म ने वस्तुपाल को अपनी पुत्री आदिनाथ की साक्षी में दी और फिर उसे स्वर्ग में ले गया जहाँ की स्वर्ग के प्रभु ने उसका सोत्साह स्वागत किया"[1]। यह बहुत ही संभव है कि इस रूपक की प्रेरणा कवि को यशःपाल के मोहराजपराजय नाटक जिसमें कुमारपाल का लग्न कृपासुन्दरी, राजा विवेकचन्द्र की सुपुत्री, से कराया जाना वर्णित है, से ही मिली हो (पैरा ३२)।

१६०. अपराजित कवि ने बालचन्द्र को वैदर्भी शैली में चतुर कहा है और उसके काव्यगुणों की बड़ी प्रशंसा की है (देखो पैरा १२३ के प्रारम्भ में उद्धृत श्लोक)। यह प्रशंसा असंगत है ऐसा तो हम नहीं कह सकेंगे क्योंकि दो कवि सोमेश्वर और अरिसिंह ने भी वस्तुपाल के जीवन को अपने महाकाव्यों का विषय बनाया था और इस तीसरे कवि बालचन्द्र ने उसी विषय पर काव्य रच निःसदेह अपने आपको सम्मान सहित विमुक्त किया है। उसकी भाषा विशिष्ट काव्योच्छ्वास

---

१. दलाल, वसन्तविलास, प्रस्ता. पृ. ४ ।

से ओतप्रोत है और इसलिए इस रचना पर उसके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट प्राप्त है। उसके वर्णन लम्बे और ब्यौरेवार होते हुए भी सुन्दर और प्राणवान प्रतिभाओं से परिपूर्ण है। कवि की योगनिद्रा (१.५८-७०) में सरस्वती का प्रकट होना (१ ५८-७०); अणहिलवाड़ का वर्णन जिसमें वास्तविकता और काल्पनिकता का अच्छा मिश्रण है (सर्ग २); स्तम्भतीर्थ का संक्षिप्त परन्तु आश्चर्यजनक वर्णन (३. १७-२३); शख के साथ हुए युद्ध का स्वभाव-सगत वर्णन जो वस्तुतः युद्ध में भाग लेनेवाले ऐतिहासिक व्यक्तियो का ही वर्णन है (सर्ग ५) उसकी कविता के दृष्टान्त उदाहरण हैं।

१६१. मन्त्रीपद पर नियुक्ति के समय का वस्तुपाल के मुँह से कहलाया गया एक श्लोक बालचन्द्र की श्लेष कविता का एक अच्छा उदाहरण है—

अत्यर्थमर्थमुपढौकितमाद्रियन्ते तं च प्रभूतगुणितं पुनरर्पयन्ति ।
न्यस्ताः पदे समुचिते गमिताश्च मैत्रीं शब्दाः कवेरिव नृपस्य नियोगिनः स्युः ॥
सर्ग ३ श्लोक ७६

राजा को कहा निम्न श्लोक कीर्तिकौमुदी (३.७७) के पृ. ६६ में उद्धृत श्लोक का स्मरण करा देता है—

न्याय यदि स्पृशसि लोभमपाकरोषि कर्णेजपानपधिनोषि शमं तनोषि ।
सुस्वामिनस्तव धृतः शिरसा निदेशस्तन्नूनमेष मयका परथाऽस्तु भद्रम् ॥
सर्ग ३३ श्लोक ८०

शंख ने जिस दूत द्वारा वस्तुपाल को अपनी सेवा में आ जाने का कहलाया था उसको दिया मुँह तोड़ उत्तर देखिए—

क्षत्रियाः समरकेलिरहस्यं जानते न वणिजो भ्रम एषः ।
अम्बडो वणिगपि प्रधने किं मल्लिकार्जुननृपं न जघान ॥
दूत रे वणिगहं रणहट्टे विश्रुतोऽसितुलया कलयामि ।
मौलिभाण्डपटलानि रिपूणां स्वर्गवेतनमथो वितरामि ॥
सर्ग ४ श्लोक ४२-४३

नीचे पढ़िए एक अत्यन्त सुन्दर काव्य कल्पना—

यौवनं चलमुपैति ना गतं विभ्रमैरलमुपास्यतां प्रियः ।
इत्यवोचदिव भङ्कृतैर्वधूगादयोरभिनिरस्य नूपुरः ॥
सर्ग ८ श्लोक ४५

अब सरस्वती नदी का सोमनाथ पार समुद्र के साथ संगम का विवरण पढ़िए—

सरस्वतीवारिधिवीचिहस्तसंचारितैर्यस्य पुरः पुरस्य
परस्पराश्लेषविभेदवद्भिश्चामर्यमाचर्यत फेनकूटैः ॥
तीरस्फुटन्नीरकदम्बकेन बहिः सदा गर्जति यत्र वार्द्धौ
वृथैव सोमेशपिनाकिनोऽग्रे त्रिधूपवेलापटहप्रपंचः ॥

सर्ग ६ श्लोक ३३-३४

उदयप्रभसूरि का धर्माभ्युदय अर्थात् संघपतिचरित्र

१६२. उदयप्रभसूरि का धर्माभ्युदय या संघपतिचरित एक और महाकाव्य है, जिसका मुख्य पात्र भी वस्तुपाल ही है। मैंने उसका सबसे अन्त में विचार करने का निश्चय किया है क्योंकि उसके दो सर्ग — पहला और अन्त का — ही ऐसे हैं कि जो ऐतिहासिक हैं। शेष सब सर्ग जैन पुराण पर आधारित धर्मकथा ही कहते है। यह धर्माभ्युदय काव्य १५ सर्गों वाला है। इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में वस्तुपाल की प्रशंसा में कुछ श्लोक जोड़ दिए गये हैं। समग्र ग्रन्थ की ग्रन्थाग्र संख्या ५०४१ श्लोक हैं।

१६३. पहला सर्ग जिनेश्वर की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है और तदनन्तर महावीर के प्रथम गणधर गौतम, हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, हेमचन्द्र, नरचन्द्र और विजयसेन के ज्ञान, पाण्डित्य और काव्यगुण की प्रशंसा की गई है, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध संघ की महानता बताई गई है और वस्तुपाल की प्रशंसा की गई है। इसके बाद कवि ने एक श्लोक (१. १७) में ग्रन्थ का नाम निर्देश कर, अपने गुरुओं की परम्परा (१.१८-२५) विजयसेनसूरि तक की बताई है। फिर वस्तुपाल का विजयसेनसूरि के पास धर्मोपदेश के लिए जाना बताया गया है। गुरु उसे तीन प्रकार की धर्म-प्रभावना का अर्थात् अष्टाह्निक महोत्सव, रथयात्रा और संघयात्रा का वर्णन कहते हैं और संघयात्रा के समय की क्रियाओं का उपदेश देते है (१ ४८-१०६)।

१६४ तदनन्तर आचार्य वस्तुपाल को दूसरों का भला, शीलव्रत और सब प्राणियों के प्रति अनुकम्पा रखने के पुण्यप्राप्ति के दृष्टान्तों वाली अनेक धर्मकथाएँ सुनाते है। सर्ग २ से १४ जैन पुराणों की ऐसी ही धर्मकथाओं के हैं। सर्ग २ से ६ तक में प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव या आदिनाथ एवं उनके पुत्र भरत और बाहुबलि का जीवन चरित्र कहा गया है और वह वर्णन भरत के निर्वाण में समाप्त किया गया है। छठे सर्ग में यक्ष कपर्दी, शत्रुंजयगिरि के रक्षक, का इतिहास दिया गया है और भरत के निर्माण कराए और सगर-चक्रवर्ती, रामचन्द्र, जावड़, शिलादित्य और सिद्धराज एवं कुमारपाल के मंत्री आशुक एवं बाहुड़

आदि महापुरुषों द्वारा जीर्णोद्धार कराये मंदिर के माहात्म्य का वर्णन किया गया है (६ ६७-८३)। यह वर्णन यद्यपि विषयान्तर है तो भी ऐसे ग्रन्थ के लिए कि जिसका अन्तिम लक्ष्य शत्रुंजय की तीर्थयात्रा का वर्णन करना ही है, सर्वथा उपयुक्त ही है। आठवें सर्ग में जम्बू स्वामी का जीवन चरित्र दिया गया कि जिन्होंने लग्न के बाद की पहली ही रात्रि में अपनी अनन्य सुन्दरी आठ स्त्रियों का परित्याग कर प्रवज्या स्वीकार कर ली थी। नवें सर्ग में राजकुमार युगबाहु की कथा प्रायश्चित्त के परिणाम की प्रशंसा में कही गई है। १० वें से १४ वें सर्ग में भगवान नेमिनाथ, बाईसवें तीर्थंकर, का जीवनचरित्र विस्तार से अर्थात् पूर्वभवों से लेकर अन्तिम निर्वाण प्राप्ति के भव तक का कहा गया है। इन पाँच सर्गों के अन्यात्र २१४२ श्लोक हैं। पन्द्रहवें सर्ग में फिर समकालिक इतिहास महत्त्व का स्थान ले लेता है और इसमें विजयसेनसूरि की धार्मिक कथाओं से प्रेरित तीर्थयात्रा का वर्णन किया गया है। संघ के शत्रुंजय से नीचे आ जाने पर ऐसे दो पड़ावों का जिनका पूर्व वर्णित अन्य किसी भी काव्य में वर्णन नहीं है, वर्णन किया गया है और वे हैं अजाहरनगर[1] और कोटिनगर (सौराष्ट्र के दक्षिण तटस्थित आधुनिक कोड़ीनार) के पड़ाव (१५.१२)। श्लोक २५ से ३१ में वस्तुपाल के जनहित कार्यों की सूची दी गई है जो समकालिक लेखों द्वारा भी समर्थित है। सबसे अन्त में लेखक ने नागेन्द्र गच्छ के आचार्यों की गुर्वावली रूप प्रशस्ति दी है जिसका कि वह स्वयं ही एक साधु है (देखो पैरा १११)।

१६५. काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में प्रयुक्त लक्ष्मी शब्द से इस काव्य का लक्षण निर्देश किया गया है। संस्कृत और प्राकृत कवियों में अपने काव्य की लक्षण-वर्णना के लिए महिमान्वित और मांगलिक शब्द प्रयोग करने की एक सुप्रतिष्ठित प्रथा है और इस सम्बन्ध मे मैं यह भी कह दूँ कि भारवी के किरातार्जुनीय मे 'लक्ष्मी' शब्द, माघ के शिशुपालवध में 'श्री' शब्द, प्रवरसेन के सेतुबन्ध में अणुराय (सं. अनुराग), रत्नाकर के हरविजय में 'रत्न' शब्द आदि आदि इसी प्रकार लक्षण वर्णना करते हैं।

१६६. धर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के अन्त की प्रशस्ति में उसे महाकाव्य कहा गया है[2]। हम नहीं कह सकते कि ये प्रशस्ति श्लोक सब मूल रचयिता

---

१. अजाहर आज दक्षिण सौराष्ट्र में उना के पास एक छोटा सा गाँव है।

२. उदाहरण के लिए देखिए—इति श्रीविजयसेनसूरिशिष्यश्रीउदयप्रभसूरिविरचिते श्रीधर्माभ्युदयनाम्नि संघपतिचरिते लक्ष्म्यङ्के महाकाव्ये तीर्थयात्राविधिवर्णनो नाम प्रथम सर्गः।

के ही हैं या वस्तुपाल के जिसने इसकी प्रतिलिपि की थी। परन्तु ऊपर निर्दिष्ट विषय-सूची से स्पष्ट होता है कि परिभाषा की दृष्टि से इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें महाकाव्य के गुणो का उचित निर्वाह नही है। सच तो यह है कि यह एक चरित्र है जैसा कि इसका अपर-नाम 'संघपतिचरित' से ही स्पष्ट है। जैनों में ऐतिहासिक और पौराणिक व्यक्तियो के चरित पुराण शैली में लिखने को एक प्रथा सी रही है। इनका छन्द भी प्रधानतया अनुष्टुप ही होता है। ऐसे काव्य ही कि जिनमें तीर्थंकरो के चरित्र काव्य भी सम्मिलित हैं, कभी कभी रचयिता द्वारा महाकाव्य कह दिए जाते थे जिसका कदाचित् यही अर्थ समझा जाता था कि महान् पुरुषों का जीवन या ऐसी रचना जो धार्मिक दृष्टि से महान् कही जा सके। हम नही मान सकते हैं कि ऐसी सब कृतियाँ महाकाव्य ही थी क्योंकि तीर्थंकरों की जीवनियाँ माणिक्यचन्द्र जैसे सुप्रसिद्ध रचयिता की लिखी हुई भी महाकाव्य ही कहलाती हैं हालाँकि शेष दण्डी आदि आचार्यो के बताये महाकाव्य के गुणो की परिपालना उनमें नहीं हुई है (पैरा १८२)।

१६७. धर्माभ्युदय दो तीर्थंकरो के जीवनचरित सहित अनेक धर्मकथाओं का संग्रह ग्रन्थ है और अधिकाशतया वह सरल, प्रवाहमयी परन्तु फिर भी प्रकृत शैली मे रचा गया है कि जिसमें लम्बे वर्णनों और अन्य कवित्व-विलासता को अधिक स्थान नही दिया गया है। इस शैली में अनेक मध्ययुगीन जैन लेखकों ने संस्कृत एवं प्राकृत दोनों में ही अनेक कथा-ग्रन्थ लिखे है जिनका प्रधान लक्ष्य कथा-वर्णन है न कि चरित्र-चित्रण।[३]

पौराणिक महाकाव्य

सोमेश्वर का सुरथोत्सव

१६८. इस विभाग में सबसे पहले सोमेश्वर का सुरथोत्सव महाकाव्य का विचार करना ठीक होगा क्योंकि उसका विषय यद्यपि पुराण से लिया गया है फिर भी उसका राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमें राजा सुरथ की कथा मार्कण्डेय पुराण के अध्याय ८१–८३ मे दिए सप्तशती या देवी माहात्म्य से ली गई है। परन्तु सम्भवतः यह राजा भीमदेव द्वितीय की सत्ता के पुनर्स्थापन और राजनैतिक दुर्भाग्यो की ओर भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इशारा करती है (पैरा ४८ व ७५)।

---

३. ऐसे ग्रन्थों के विशेष परिचय के लिये देखो हरटल, दी नरेटिव लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात (अंगरेजी)।

१६६. सुरथोत्सव महाकाव्य के १५ सर्ग और १०८२ श्लोक हैं। पहले सर्ग में कवि ने अनेक देवताओं को नमस्कार किया है और पहले पाँच श्लोकों में यह नमस्कार भवानी या दुर्गा को है। तदनन्तर वह 'जिसने उसकी कविता के मन्दिर में राम जैसे गौरव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की' और 'सत्यवती के पुत्र' को एवं रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थो को नमस्कार करता है। इस नमस्कार में अन्य अनेक कवियों का नाम भी गौरव के साथ स्मरण किया गया है जैसे कि बृहद्कथा के लेखक गुणाढ्य, सुबन्धु, कालिदास, माघ और मुरारी। डा. रा. गो. भण्डारकर के शब्दों में जिन्होंने सुरथोत्सव का उत्कृष्टतम सार अपनी एक प्रतिवेदना में दिया है, 'कवि ने काव्य, सज्जन, दुर्जन, आदि साधारण विषयों पर बहुत से श्लोक कह कर अन्त में अपने पाठकों को राजा सुरथ का परिचय कराया है। पहले सर्ग का अन्त उसकी विश्व-विजयों में होता है। दूसरे के प्रारम्भ में सुरथ के कुछ मन्त्रीगण को उसके रिपुओं के हाथ की कठपुतली बनते चित्रित किया गया है कि जिन रिपुओं ने उनकी सहायता पा उसे पराजित कर राज्य विरहित कर दिया है। सुरथ तब अरण्य में चला जाता है जहाँ उसे एक मुनि या ऋषि के दर्शन होते हैं और उन्हें वह अपनी दुर्भाग्य-कथा सुनाता है। मुनि उसे घोर तप करने को कहता है ताकि भवानी उस पर प्रसन्न हो। इसके समर्थन में वह भवानी के महामहिम कार्यों का वर्णन विस्तार से करता है। वह कहता है कि शंभु और निशंभु ने ब्रह्मदेव से सिवा स्त्री के अन्य सबसे अमरत्व का वरदान प्राप्त कर लिया था और यह वरदान पाकर न केवल वे दोनों सर्वशक्तिमान हो गये थे अपितु सबको सताने भी लगे थे। दुखी होकर देवगण तब ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनके समक्ष अपनी शिकायत प्रस्तुत की। ब्रह्माजी ने उन्हें उन असुरों के वरदान-प्राप्ति की सब कथा कह दी और उन्हें उमा या भवानी के पास सहायता के लिए जाने की कथा और शंभु निशंभु असुरो को मारने की प्रार्थना करने को कहा। बस तीसरा सर्ग यहीं समाप्त हो जाता है।

१७०. 'देव तब हिमालय पर जाते हैं और चौथे सर्ग मे इस हिमालय का महाकाव्य की सनातन प्रथानुसार वर्णन किया गया है। पाँचवें सर्ग में ऋतुओं का वर्णन है कि जिन्हें अपनी हिमालय यात्रा मे देवो को बारी-बारी से अनुभव करना पड़ा था और छठे सर्ग में चन्द्रोदय का वर्णन है। सातवाँ सर्ग सूर्योदय के वर्णन से प्रारम्भ होता है और उसी में फिर भवानी को पुष्प-चयन के लिए बाहर जाते चित्रित किया गया है। तदनन्तर वह गंगा स्नान के लिए जाती है और लौटते हुए देवता उसे दूर से ही देख लेते है एवं उसकी स्तुति करते हैं। फिर उससे वे अपनी शिकायत सुनाते है और प्रार्थना करते हैं कि वह शंभु

निशंभु दैत्यों का संहार करे। भवानी उन्हें सांत्वना देती है और दैत्यों के संहार की प्रतिज्ञा करती है। आठवें सर्ग में भवानी के अनुपम सुंदरी बन कर हिमालय के एक शिखर पर रहने का वर्णन है। चारों ओर यह समाचार फैल जाता है कि हिमालय के शिखर पर एक परम सुन्दरी प्रकट हुई है और यह समाचार शंभु-निशंभु को भी पहुँच जाते हैं। वे उस सुन्दरी के पास विवाह का संदेशा पहुँचाते हैं। परंतु भवानी संदेशवाहक को सूचना कर देती है कि उसने प्रण किया है कि वह उसी से विवाह करेगी जो उस समय युद्ध करेगा जब वह सिंहारूढ़ हो। संदेशवाहक लौट कर दैत्यों को यह सूचना कर देता है। शंभु सुन्दरी की इस विचित्र प्रतिज्ञा पर आश्चर्य प्रकट करता है और अपने एक दैत्य सेवक धूम्रलोचन को ऐसी प्रतिज्ञा छोड़ देने को समझाने के लिए सुन्दरी के पास भेजता है और यदि वह अपना हठ पकड़े ही रहती हो तो बलात् पकड़ कर उसे ले आने को भी कह देता है। धूम्रलोचन भवानी के पास पहुँचता है और ज्यों ही वह उसे बलात् पकड़ने की स्वामी की आज्ञा पालन करने का प्रयत्न करता है त्यों ही देवी के सामर्थ्य से वह तत्काल वहाँ का वहीं भस्म हो जाता है। नवें सर्ग में शुंभ को बड़ी सेना लेकर उमा के विरुद्ध अभियान करते वर्णन किया गया है और दसवें सर्ग में इन दोनों के युद्ध का वर्णन है और ग्यारहवे सर्ग मे शुंभ की मृत्यु का।

१७१. 'मुनि के मुख से भवानी के इस महामहिम कार्यों को कथा सुनकर राजा सुरथ घोर तप द्वारा भवानी को प्रसन्न करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है और इन तप आदि का बारहवे सर्ग में वर्णन किया गया है। तेरहवें सर्ग में कहा गया है कि पार्वती उसकी परीक्षा के लिए एक सुन्दरी को भेजती है। परंतु राजा सुरथ इस सुन्दरी के हावभाव आदि सभी प्रवंचनाओ से अविचलित एवं तपस्या व धर्मध्यान में लगा ही रहता है। चौदहवें सर्ग में देवी के प्रसन्न होकर राजा सुरथ के समक्ष प्रकट होने का वर्णन है। प्रकट होकर देवी राजा को आशीर्वाद देती है और प्रतिज्ञा भी करती है कि उसका राज्य एक हजार वर्ष तक अखण्ड रहेगा और यह भी कहती है कि वह पर-भव में सातवें मनु का राज्य समाप्त हो जाने पर आठवे मनु का सौभाग्य प्राप्त करेगा। इसी बीच सुरथ के वे मंत्रीगण जो उसके विश्वस्त थे, राजद्रोहियों को नष्ट कर देते है और राजा की खोज में खोजी चारों ओर भेजते है। उन खोजियों में से एक अन्त मे उस अरण्य में पहुँच ही जाता है जहाँ सुरथ राजा घोर तपश्चर्या कर रहा था और मंत्रियों को तुरन्त राजा की सूचना भेज देता है। मंत्रीगण तब सब उस अरण्य में आते है और राजा सुरथ को बड़े समारोह के साथ राजधानी में लौटा ले जाते है जहाँ वह उमा

के वरदान के अनुसार फिर से चक्रवर्ती का पद भोगता है[1]। अन्तिम पंद्रहवें सर्ग में सोमेश्वर अपने परिवार का एवं अपना इतिहास देता है और अन्त में वस्तुपाल की प्रशंसा में कुछ श्लोक भी दे देता है। इस सर्ग का सार पहले ही पाँचवें अध्याय में दिया जा चुका है (पैरा ६६–७१), इसलिये फिर से दोहराना आवश्यक नहीं है।

१७२. यदि सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी वैदर्भी शैली में लिखी हुई है तो सुरथोत्सव में गौड़ी शैली पर प्रयत्न किया गया है। यहाँ उसका आदर्श किरातार्जुनीय और शिशुपालवध रहा है न कि कालिदास। परन्तु सुरथोत्सव की भाषा इन दोनों महान् ग्रन्थों से यद्यपि सरल है, फिर भी इसमें श्लेष, शब्दालंकार और क्वचिद्दृष्ट एवं अल्प-प्रयुक्त शब्दों की भरमार है। जैसे किरातार्जुनीय के १५ वें और शिशुपालवध के १६ वें सर्ग में युद्ध का वर्णन करते हुए चित्र-काव्यों का प्रयोग किया गया है, वैसे ही इस ग्रन्थ के १० वे सर्ग में दैत्य और देवी के युद्ध के वर्णन में चित्रकाव्य प्रयुक्त किए गये हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि महाकाव्य लेखकों की कदाचित् यह परम्परा ही थी कि वे युद्धों का वर्णन अनेक प्रकार के चित्रकाव्यों द्वारा ही करते थे, हालाँकि युद्ध के तुमुल कोलाहल पूर्ण और त्वरित संग्राम के समुचित वर्णन में वे कुछ बाधक ही होते हैं।

१७३. कीर्तिकौमुदी के लेखक के काव्यगुण उस काव्य में भी परिपूर्ण प्रकट हुए हैं। सोमेश्वर के यहाँ के कुछ वर्णन ऐसे भी हैं जो कीर्तिकौमुदी के उत्कृष्टतम वर्णनों से तुलना किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिये देवगण का अपनी व्यथा कहने के लिये ब्रह्मा के पास उपस्थित होने का वर्णन (सर्ग ३), हिमालय की महानता का शब्दालङ्कार पूर्ण वर्णन (सर्ग ४), कि जिसके वर्णन में कवि को कुमारसम्भव के पहले सर्ग से कुछ प्रेरणा कदाचित् मिली हो, प्रस्तुत किए जा सकते हैं। चौथा और दसवाँ सर्ग भी इस विषय में द्रष्टव्य है कि जहाँ क्रमशः ऋतुओं और युद्ध का वर्णन किया गया है।

१७४. सुरथोत्सव से सोमेश्वर का काव्यकौशल प्रकट करनेवाले कुछ उदाहरण मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। जब सुरथ अपने मंत्रियों द्वारा अपमानित होकर वन में प्रवेश करता है तो कवि ध्वनि काव्य का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है—

विशन् वनादेव वनान्तराणि सान्द्रद्रुमश्रेणिनिरन्तराणि।
भाति स्म भिन्नांजनसंनिभानि घनादिवेन्दुर्घनमण्डलानि॥

सर्ग २ श्लो. १८

---

१. भण्डारकर, प्रतिवेदना ४, पृ, १९–२०।

यद्यपि काव्य भारवि और माघ के दुरूह काव्यों को आदर्श लेकर ही चलता है परन्तु कुछ स्थानों पर हमें सुन्दर काव्य प्रासादिक शैली में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ इस काव्य के ऋतु-वर्णन में वसत वर्णन—

कटाक्षिता कैरपि चुम्बिता परैः कृतोपभोगा मधुपैश्च कैश्चन ।
मधु क्षरन्ती विरराज माधवी नवीनरूपा गणिकेव कामिभिः ॥
सर्ग ५ श्लो. १०

अब शिशिर का वर्णन देखिए—
जलं प्रसन्नं जलदा निवर्तिताः प्रवर्तिताश्चाध्वनि साधुसिन्धवः ।
गदाधरः स्वापपरः प्रबोधितः शरद्दिनैर्निर्मलतोचितं कृतम् ॥
सर्ग ५ श्लो. ३६

अब वसन्तागमन का वर्णन देखिए—
लभन्ते सौभाग्यं किमपि हरिणाङ्कस्य किरणाः
पिकाः शब्दायन्ते स्वगतममृतस्यन्दि च वचः ।
चलत्यद्य श्वो वा पवनपृतना चन्दनगिरे-
रवामं कामस्य स्फुरति च शुभाशंसि नयनम् ॥
सर्ग ५ श्लो. ५६[1]

सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि संस्कृत साहित्य में काँच की चूड़ियों का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है;[2] परन्तु यह विशेषरूपेण द्रष्टव्य

---

१. यह श्लोक उल्लाघराघव, २.३१ में भी पाया जाता है ।

२. "काँच की चूड़ियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख मैंने संस्कृत साहित्य में कहीं भी नहीं पाया है, परन्तु मेरा खयाल है कि उनका प्रयोग ८ वीं–९ वीं शती के लगभग याने पूर्व मध्यकाल युग में प्रारम्भ हो गया था। इनका प्रयोग सम्भवतः मध्य एशिया से आनेवाली जातियाँ जैसे कि हूणों और गुर्जरों के साथ ही देश में आया है।" डा. वा. श. अग्रवाल । यह उद्धरण प्रो. गोड़े ने जर्नल आफ ओरियंटल स्टडीज, भा. १ पृ. १६ में दिया है ।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि स्फटिक शब्द का अर्थ कभी-कभी संस्कृत में काँच किया गया है जैसे कि सोमदेव के यशस्तिलक में स्फटिकवलय के प्रयोग का अर्थ प्रो हन्दिकी ने काँच की चूड़ी ही किया है (यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, पृ. १२३)। सोमदेव का समय ९५१ ई० माना जाता है। यह कहना बड़ा ही कठिन है कि स्फटिक शब्द का अर्थ प्रकृत स्फटिक से खींच कर काँच किया गया होगा। इसलिये हमारा यह कथन कि काचवलय नाम से

है कि इस काव्य के छठे सर्ग के श्लोक १०५ में स्पष्ट रूप में स्त्रियों की पहनी हुई कॉंच की चूड़ियों का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है—

का च काचवलयावलिशब्दैराजुहाव हृदयं दयितास्य।

इस वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि सोमेश्वर के काल मे गुजरात में कॉंच की चूड़ियाँ पहनना स्त्रियो मे सामान्य प्रथा हो गई थी।

वस्तुपाल का नरनारायणानन्द

१७५. नरनारायणानन्द महाकाव्य स्वयं वस्तुपाल की ही रचना है। इस काव्य का विषय महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। इसमें नर और नारायण की अर्थात् कृष्ण एवं अर्जुन की मित्रता, इन दोनों का रैवतक उद्यान मे भ्रमण और अर्जुन द्वारा कृष्ण की बहन सुभद्रा के हरण का वर्णन है। रचयिता का माघ और कुछ अंश तक भारवि काव्यादर्श रहा है। इन दोनो महाकवियों की एवं वस्तुपाल की रचना का विषय महाभारत से ही लिया गया है। आलोच्य विषय बहुत स्वल्प है, अधिकांश काव्य नगर, राजा, राजसभा, सूर्य चन्द्र के उदय और पुष्पों के चयन आदि के प्रथामूलक वर्णनो से और कहीं-कहीं लम्बे कथोपकथनो से भरा हुआ है। तीनों ही कवियों ने अलंकार-बहुल और कलापूर्ण शैली के स्थान में अधिक कृत्रिम शैली अंगीकार की है हालाकि इस विषय मे अपने पूर्वज कवियों की अपेक्षा वस्तुपाल सरल है। भारवि और माघ के समान ही वस्तुपाल ने एक सारा सर्ग ही (१४ वॉ) अनेक भॉति के चित्रकाव्यों द्वारा युद्ध वर्णन में रचा है और उस सर्ग के सकल ४० श्लोक चित्रकाव्यो के इतने भेद बताते है कि उनमे से कुछ तो अलंकार-बहुल संस्कृत काव्यो मे भी बहुत कम देखे जाते है।

१७६. नरनारायणानन्द में १६ सर्ग और कुल ७९४ श्लोक है। कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषध के समान ही यह काव्य भी किसी देव के प्रथानुमोदित नमस्कार के बिना ही प्रारम्भ होता है। पहले सर्ग में द्वारका, कृष्ण के पाटनगर का वर्णन किया गया है और दूसरे मे कृष्ण की राजसभा और उसमें उसका आगमन वर्णित है। इस राजसभा में रैवतक उद्यान का रक्षक आता है और पुष्प भेट कर यह सूचना देता है कि अर्जुन उद्यान मे ठहरा हुआ है। सुनकर कृष्ण अपने प्रिय सखा से मिलने को आतुर हो जाता है और तीसरे सर्ग में वह रैवतक उद्यान में पहुँच कर अर्जुन का गाढ़ालिङ्गन

काच की चूड़ी का उल्लेख सुरथोत्सव काव्य में ही पुराना से पुराना है, ठीक ही माना जाना चाहिए।

करता है। फिर दोनों मित्र किसी आनन्द-निकुंज में बैठ जाते और गपशप करते हैं। चतुर्थ सर्ग में रैवतक मे एक साथ शासन करती छहो ऋतुओं का वर्णन किया गया है और इन दोनो सखाओं का दर्शन करने के लिए ही वहाँ चन्द्रोदय हुआ इसका वर्णन है। आगे के तीन याने ५, ६ और ७ सर्ग सूर्यास्त, चन्द्रोदय, मद्यपान व प्रेम-क्रीड़ा, चन्द्रास्त और फिर सूर्योदय के वर्णन से भर दिये गये है। इसी में यह भी कहा गया है कि अर्जुन और कृष्ण बातो में ही सारी रात बिता देते है। आठवे सर्ग में कृष्ण के ज्येष्ठ बन्धु बलभद्र के रैवतक को जाने का वर्णन किया गया है और इसमें कवि उसकी सेना का वर्णन करने का भी अवसर प्राप्त कर लेता है। नवें और दसवें सर्ग मे पुष्पो और जलक्रीड़ा का वर्णन है। स्नान कर लौटती हुई सुभद्रा से अर्जुन की देखा देखी होती है और परस्पर प्रेम का आकर्षण दोनो में तत्काल ही हो जाता है। फिर अर्जुन कृष्ण के साथ द्वारावती में प्रवेश करता है। ग्यारहवें सर्ग में अर्जुन के विरह संताप का वर्णन है। विरह संतप्त अवस्था के समय ही एक दूती आकर उसे सुभद्रा के भी इसी प्रकार विरह से पीड़ित होने की बात कहती है और उसे सुभद्रा का प्रेम पत्र देती है। अर्जुन वह प्रेमपत्र पढ़कर उत्तर में दूति द्वारा कहला देता है कि सुभद्रा उसे रैवतक उद्यान में मिले। बारहवें सर्ग में सुभद्रा के कामदेव के पूजन के लिए रैवतक उद्यान में जाने और वहाँ से अर्जुन द्वारा हरण किए जाने का वर्णन है। उद्यानपालों द्वारा इस हरण की बलदेव को सूचना मिलती है। वह क्रुद्ध होकर कृष्ण को उसके मित्र अर्जुन के इस असदाचरण का ताना मारते हैं। उत्तर में कृष्ण कहता है कि सुभद्रा के लिए अर्जुन ही योग्य पति है, वह अर्जुन से अनन्य प्रेम करती है और इसलिए बलदेव को अप्रसन्न और क्रुद्ध होने का कोई कारण उपस्थित नहीं है। तेरहवें और चौदहवे सर्ग में यादव सेना और अर्जुन के बीच हुए युद्ध का वर्णन किया गया है। कृष्ण के बीच-बचाव करने से युद्ध बंद हो जाता है और तब कृष्ण अर्जुन को द्वारका में फिर लौटा लाता है। पन्द्रहवे सर्ग में द्वारका की सजावट और उत्सवो का एवं अर्जुन के साथ सुभद्रा के विवाहोत्सव का वर्णन है। अन्तिम सोलहवे सर्ग में कवि अपने पूर्वज चण्डप से प्रारम्भ करते हुए स्वजीवन का परिचय देता है और विनम्रता बताते हुए काव्य समाप्त करता है।

उद्भास्वद्विश्वविद्यालयमयमनसः कोविदेन्द्रा वितन्द्रा
मन्त्री बद्धांजलिर्वो विनयनतशिरा याचते वस्तुपालः।
स्वल्पप्रज्ञाप्रबोधादपि सपदि मया कल्पितेऽस्मिन् प्रबन्धे
भूयो भूयोऽपि यूयं जनयत नयनक्षेपतो दोषमोषम्॥

वस्तुपाल के आश्रित कुछ कवियों ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में वस्तुपाल की प्रशंसा में एक दो श्लोक जोड़ दिए हैं और ऐसे श्लोकों की कुल संख्या १८ है।

१७७. रचना के कुछ ही काल पश्चात् इस नरनारायणानन्द काव्य ने कविजगत में अपना स्थान बना लिया था ऐसा जान पड़ता है क्योंकि इसके प्रथम सर्ग का छठा श्लोक जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली में (देखो पैरा ६४) और १६ वे सर्ग का १६ वाँ श्लोक अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता (पैरा १०२) में उद्धृत हो गए है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है काव्य का अधिकांश तो प्रथामूलक वर्णनो का है, परन्तु कवि की विशिष्टता यहाँ भी छिपी नहीं रही है। काव्य बुद्धि की चमक के कई उदाहरण हमे भारवि और माघ के सुंदर श्लोकों का स्मरण करा ही देते हैं। सारा का सारा काव्य एक ऐसे स्तर को निभाते हुए है कि जो मध्ययुग के संस्कृत महाकाव्यों के रचयिताओं में बहुत कम देखा जाता है। कृष्ण की प्रत्यक्ष विरोधी बातों की ओर इशारा करते हुए कवि कहता है—

पुपोष मित्राण्यपि निर्ममोऽसौ गतस्पृहो राज्यमपि प्रतेने
जघान शत्रूनपि शान्तचेताः प्रभुः प्रजैकार्थकृतावतारः॥
—सर्ग १ श्लो. ४२

और देखिए बहुत काल पश्चात् रैवतक में कृष्ण का अर्जुन के साथ का मिलाप—

उरसि रसिकयोस्तयोः प्रमोदाद् दृढपरिरम्भविभिन्नभूषणेऽपि।
द्रुतमतनुत तारहारलक्ष्मीं स्मितरुचिविच्छुरिताश्रुबिन्दुपंक्तिः॥
—सर्ग ३ श्लो. ११

सूर्योदय से अंधकार लोप की कवि की सुंदर कल्पना अब देखिए—

नक्तं निरंकुशतया कुशसूचिभेद्यो यः सर्वतस्त्रिभुवनेऽपि ममौ कथचित्।
माति स्म सोऽपि दृशि घूकविहंगमस्य भानोर्भयाद् झगिति संकुचितोऽन्धकारः
—सर्ग ७ श्लो. ३५

अब देखिए सुभद्रा हरण कर जाते हुए अर्जुन को बलदेव की जोरदार चेतावनी—

रे चौर यदि सौजन्यं तावत्त्वमपि विस्मृतम्।
तत्किं मे वामपादोऽपि विस्मृतोऽरिकपालभित्॥
—सर्ग १२ श्लो ३७

एक अन्य स्थल पर सुभद्रा के केशों की एक लट उसके वक्षस्थल पर

झूलती हुई देख कर कवि विरहपीड़ित अर्जुन की शरीर कान्ति की चोरी के अपराध में प्रस्तुत मन्यथ के घटसर्प नामक[1] दिव्य (संदिग्ध व्यक्ति के दोप-निर्णय के लिए चमत्कारिक परीक्षा) की कल्पना करता है—

द्रुततरमपरस्या जालगर्भं गताया ललितलुलितवेणिः पीवरश्रीरुरोजे।
शतमखसुतकायच्छायचौर्यापवादादघटत घटसर्पो मन्मथस्येव दिव्यम्॥
—सर्ग १५ श्लो. २१

अमरचन्द्रसूरि का बालभारत

१७८. अमरचन्द्रसूरि का बालभारत विषय की दृष्टि से प्रख्यात महाभारत का सार है जैसा कि इसके नाम से ही अनुमान किया जा सकता है। लेखक ने इसे महाकाव्य कहा है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में वीर शब्द का प्रयोग करने से यह काव्य और लेखक का दूसरा पद्मानन्द महाकाव्य दोनो ही वीरांक काव्य कहे जाते है। मूल भारत की तरह ही यह बालभारत भी अठारह पर्वों में विभाजित है और ये पर्व तदनन्तर एक या एक से अधिक सर्गों में अनुविभाजित है। सर्ग कुल ४४ हैं जिनमें से अन्त के सर्ग में ग्रन्थ की प्रशस्ति दी गई है। इस पूर्ण काव्य के ग्रन्थाग्र जैसा कि अन्तिम सर्ग के अन्तिम श्लोक में कहा गया है, ६६५० श्लोक हैं। लेखक ने इसका आयोजन इस प्रकार किया है कि यह महाकाव्य जैसा ही जचे। ऐसा करने में लेखक ने उन विशिष्टताओं का जो काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा महाकाव्य के लिये निश्चित कर दी गई हैं, बराबर अनुसरण किया है हालांकि महाभारत इतना बड़ा है कि उसका एक ही महाकाव्य में संक्षिप्त कर देना निश्चय ही कठिन है। अन्तिम के अतिरिक्त सभी सर्गों के प्रारम्भ में लेखक ने एक श्लोक व्यासदेव की प्रार्थना में दिया है। इस प्रकार ४३ श्लकों में ४३ स्थानो पर व्यास का स्मरण कर लेखक ने मूल काव्य के प्रति अपनी असीम श्रद्धा का ही परिचय दिया है। आदिपर्व के सातवे सर्ग में वसन्त वर्णन और आठवे से ग्यारवाँ सर्ग तक पुष्पचयन, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, मद्यपान और काम-केलियों आदि का वर्णन हैं। बारहवे सर्ग में खाण्डव वन का वर्णन है जिसको अर्जुन ने भस्म किया था। ऋतुवर्णन सभापर्व के चौथे सर्ग में है और युद्ध का

१. घटसर्प की परीक्षा में संदिग्ध व्यक्ति को साँप रखे हुए घट में हाथ डलाया जाता था। प्रको, पृ. १२५ में लिखा है कि राजा वीसलदेव की इच्छा थी कि वस्तुपाल की ऐसी परीक्षा हो क्योंकि राज्यकर के दुरुपयोग करने का उस पर सन्देह किया जाता था। परन्तु लवणप्रसाद ने वस्तुपाल की ऐसी परीक्षा नहीं होने दी। वीसलदेव के समय तक लवणप्रसाद जीवित था।

वर्णन द्रोण और भीष्म पर्वों में है। स्त्रीपर्व में जब कि कौरव परिवार की स्त्रियाँ अपने कुटुम्बी जनों की मृत्यु का शोक करती हैं, लेखक ने करुण-भावों का प्रदर्शन किया है।

१७६. रचना को महाकाव्यरूप में प्रस्तुत करने के सभी प्रयत्नों के बाद भी यह कहना होगा कि साहित्यिक शैली से यथार्थ महाकाव्य होने की अपेक्षा यह महाभारत की कथा का संक्षिप्त रेखाचित्र ही है। मूलभारत को संक्षिप्त करने में अमरचन्द्र ने महाभारत के कथा भाग पर ही ध्यान केन्द्रित किया है और नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र की बातें प्रायः छोड़ दी हैं। यही कारण है कि आदि से उद्योग पर्व तक बहुत स्थान लिया गया है और शांति पर्व एवं अनुशासन पर्व जिनमे महाभारत में नीति एवं धर्मशास्त्र का वर्णन है, एक एक सर्ग मे ही समाप्त कर दिये गए हैं। इनके बाद के पर्वों की कथाएँ भी बहुत संक्षेप मे ही कही गई हैं। यद्यपि यह ग्रंथ एक जैनाचार्य की रचना है परन्तु ब्राह्मणीय साहित्य जगत मे भी बालभारत अत्यधिक प्रख्यात था और इसकी इस लोकप्रियता का कारण यही हो सकता है कि सुप्रसिद्ध वीरकाव्य का यह काव्यरूप सार मूलभारत का अनुसरण करता हुआ होने पर भी एक स्वतंत्र काव्य है।

अमरचन्द्रसूरि का पद्मानन्द महाकाव्य

१८०. अमरचन्द्रसूरि की दूसरी रचना है पद्मानन्द महाकाव्य या जिनेन्द्रचरित जो महाकाव्य और धार्मिक चरित्र के बीच की रचना ही कही जा सकती है। इसका विषय है पहले जैन तीर्थङ्कर आदिनाथ का पौराणिक चरित्र। इसके १६ सर्ग और ग्रथाग्र ६२८१ श्लोक हैं[1]। धार्मिक चरित्रों मे साधारणतया एक ही वृत्त 'अनुष्टुप्' पसन्द किया जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ मे महाकाव्य की शैली की भाँति आर्ष संस्कृत काव्य के सभी प्रमुख वृत्त प्रयोग किये गये हैं और एक सर्ग (११) में ऋतुओं का वर्णन किया गया है। आदिनाथ की जीवनी के साथ साथ और भी अनेक उपकथाएँ और गल्पें, धार्मिक और दार्शनिक वाद और विचारणाएँ हैं जो इसके साम्प्रदायिकपन को स्पष्ट कह देती है। उपदेशात्मक होते हुए भी काव्यगुण का इसमें अभाव नहीं है। इस काव्य में लेखक को अर्थान्तरन्यास विशेषरूप से प्रिय प्रतीत होता है और इसमें ऐसे भी अनेक श्लोक हैं जो सुभाषितरूप से अमूल्य हैं[2]। लेखक आर्ष संस्कृत और उसकी साहित्यिक रचना रीति में सिद्धहस्त प्रतीत होता है।

---

१. जिरको, पृ. २३४।

२. देखो कापड़िया, पद्मानन्द महाकाव्य, प्रस्ता, पृ. १५ टि., जहाँ कितने ही उदाहरण उद्धृत किए गए हैं।

अमरचन्द्रसूरि का चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि

१८१. इसी लेखक के चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि का भी यहाँ विचार करना उचित होगा यद्यपि यह न तो महाकाव्य है और न किसी एक तीर्थंकर का लम्बा चरित्र ही। यदि पद्मानन्द महाकाव्य पहले तीर्थंकर का वृत्त है तो इसमें २४ तीर्थंकरो के संक्षिप्त जीवन चरित्र दिये गए हैं। और इसलिये इसे पहले का परिशिष्ट भी कह सकते हैं हालाँकि इसकी रचना उससे पहले हुई है (पैरा १०६)। इसमें २४ अध्याय और कुल १८०२ श्लोक हैं। सभी जिनों के चरित्र रचयिता को थोड़े से स्थान में लिखना था इसीलिये उसे इसमें काव्य-विलास का कोई क्षेत्र प्राप्त नहीं रहा है। प्रत्येक अध्याय में चर्चित मुख्य विषय इस प्रकार है—(१) पूर्व भव; (२) वंश परिचय; (३) तीर्थंकर को विशेष नाम दिये जाने की व्याख्या; (४) च्यवन, गर्भ, जन्म, दीक्षा और मोक्ष के दिन; (५) चैत्यवृक्ष की ऊँचाई; (६) गणधर, साधु, साध्वी, चौदहपूर्वी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवली, वैक्रियलब्धिप्राप्त, न्यायवादी, श्रावक और श्राविका परिवार और (७) आयु शैशवावस्था, कुमारावस्था, राज्यावस्था (यदि हो तो), छद्मस्थावस्था और केवली[1] अवस्था का वर्णन।

माणिक्यचन्द्र का शांतिनाथ और पार्श्वनाथ चरित

१८२. अंत में माणिक्यचन्द्र की काव्य कृतियाँ, शातिनाथचरित और पार्श्वनाथचरित का हम विचार करते है, जो प्रतियों की प्रशस्तियों में महाकाव्य कहे गये हैं[2]। यह जैनों की उस परम्परा के अनुसार कहा गया है कि जिसमें धार्मिक चरित्रो को जैसा कि पहले पैरा १६६ में कहा जा चुका है, बहुधा महाकाव्य कहा जाता है। शांतिनाथ जैनों के १६ वें तीर्थंकर है और पार्श्वंथ २३ वें। और इन दोनों जिनो की जीवनी दूसरे अनेक जिनों जैसे कि आदिनाथ, नेमिनाथ और महावीर की जीवनियों की ही भाँति जैन कवियों के लिए अत्यन्त लोकप्रिय विषय रही है और संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में इन दो जिनों को

---

१. कापड़िया, वही, पृ. ३६।

२. जैसे, इत्याचार्य श्रीमाणिक्यचन्द्रविरचिते श्रीशान्तिनाथचरिते महाकाव्ये तपो-भावनाकथा-चक्रायुधगणभृन्निर्वाण-वर्णनो नाम अष्टमः सर्गः समाप्तः।

प्रायः महाकाव्य कहनेवाली ऐसी ही प्रशस्तियाँ पार्श्वनाथचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में भी पाई जाती हैं।

लेकर अनेक काव्य रचे गये हैं[1]। ये दोनों कृतियाँ मुद्रित होकर अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। हस्तलिखित प्रतियों में ही ये दोनों अभी तक प्राप्त है। शांतिनाथ चरित में ८ सर्ग और ग्रंथाग्र ५५७४ श्लोक हैं[2] जब कि पार्श्वनाथचरित में ६ सर्ग और ग्रन्थाग्र ५२७८ श्लोक है[3]। इन चरितों का अधिकांश भाग पूर्व भवों के वर्णन में, पहले के ६ सर्ग और दूसरे के ४ सर्ग, रुके हैं। उनका कथानक प्रायः हेमचंद्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के ५ वें और ९ वें पर्व का अनुसरण करता है कि जिनमें क्रमशः इन दोनों जिनों का चरित वर्णित है। जिनसेन के आदिपुराण और गुणभद्र के उत्तरपुराण का प्रासंगिक अंश भी इनमें अनुसरण किया गया है। दोनों ही काव्य सरल पुराण शैली में रचे हुए हैं। प्रयुक्त वृत्त भी मुख्यतया अनुष्टुप् ही है और इन दोनों जिनों के कथानक में ही अनेक उपकथाएँ, गल्पें नीतिकथाएँ और कालनिक कथाएँ भारतीय वर्णनात्मक साहित्य में सुपरिचित रीति से किसी भी प्रकार अन्तःस्थ कर दी गई हैं। इनका अन्तरंग महाकाव्य की विशिष्टताओं को यद्यपि नहीं स्पर्श करता, परन्तु माणिक्यचन्द्र जैसे सुविख्यात विद्वान् की रचना होने से इन्हें जैन वर्णनात्मक साहित्य-काव्यों के अच्छे उदाहरण कहा जा सकता है।

——

१. जिरको, पृ. ३४४-४६ और ३७८-८१।

२. वही पृ ३८०।

३. वही, पृ. २४४-४५।

सातवाँ अध्याय

नाटक

संस्कृत नाटक के लक्षण

१८३. संस्कृत साहित्य के लौकिक रूप का दूसरा अंग नाटक है जिसमें संस्कृत के लेखकों ने उच्च कोटि की सफलता प्राप्त की है। इसका पूरा इतिहास दो हजार से अधिक वर्ष का अर्थात् अश्वघोष के काल से लेकर आज तक का मिलता है। भारत के नाटक साहित्य का प्राचीनतम रूप तो ऋग्वेद के सरमा और पणि, यम और यमी, विश्वामित्र और नदी पुरुरवा और उर्वशी के संलापों में मिलता है। पुरुरवा और उर्वशी के कथानक का सर्वप्रथम संस्करण भी वहीं है जिस पर कालिदास का प्रमुख नाटक विक्रमोर्वशीय रचा गया है। नाट्य अभिनय का प्राचीनतम उल्लेख महाभाष्य (लगभग १२० ईसापूर्व) में मिलता है जिसमें कंसवध और बालिबंध, विष्णु के जीवन की दो घटनाओं के नाट्याभिनय का वर्णन है। इससे और अनेक उल्लेखो से यह विश्वास किया जाता है कि संस्कृत नाटक का विकास विष्णु-कृष्ण के सम्प्रदाय में हुआ था और इसलिये प्राचीनतम नाट्याभिनय मध्यकालीन ईसाइयो की धर्मयात्राओं के अभिनय जैसे ही थे[1]। भारत में नाटक का प्रसन्न और विविध रूप में विकास हुआ था यह इसीसे प्रमाणित होता है कि अनेक नाटकों के अतिरिक्त नाट्य कला और नाट्याभिनय पर भी महानिबंध लिखे हुए हमें मिलते है जिनमें से एक तो ३२० ई० लगभग का भरत का नाट्य-शास्त्र ही है। संस्कृत नाटक दो श्रेणियो के हैं—रूपक और उपरूपक। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण मे (लगभग १४५० ई०) रूपक नाटकों के दस भेद और उपरूपको के अठारह भेद किये गये हैं।

१८४. नाटक में अंकों की संख्या एक से दस तक होती है। नाटिका में चार अंक ही होते है। छोटे नाटक जैसे कि प्रहसन, भाण, आदि मे अंक एक ही होता है। प्रत्येक संस्कृत नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना (प्रोलोग) से होता है जिसमे नान्दी या मंगलाचरण द्वारा दर्शकों की क्षेमकुशल के लिये

---

१ मेकडोनल, संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३४७।

ईश्वर की कृपा याचना की जाती है। तदनन्तर सूत्रधार और एक दो नटों याने अभिनेताओं के बीच वार्तालाप होता है जिसमें नाटक के विषय और उसके लेखक का कुछ परिचय दर्शकों को कराया जाता है। इस आलाप-सलाप के अन्त में नाटकीय ढंग या स्थिति में नाट्य वस्तु का एक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करता है। रंगमंच अंक समाप्ति तक न तो सूना ही रहता है और न उसमें कोई स्थल परिवर्तन ही किसी तरह का किया जाता है। नया अंक प्रारम्भ होने के पूर्व कभी कभी विष्कंभक या प्रवेशक अभिनीत कर दिया जाता है कि जिसने दर्शकों को दो अंको के बीच में घटी घटनाएँ इसलिए स्मरण करा दी जाती हैं कि वे होनेवाली घटनाओं के लिए उपयुक्त मनस्थिति वाले हो जायँ। नाटक भरत-वाक्य या लोक-कल्याण की प्रार्थना द्वारा समाप्त होता है और वह किसी प्रमुख वयोवृद्ध अभिनेता द्वारा उच्चारित कराया जाता है। संस्कृत नाटक गद्य आलाप-संलापों और गीति काव्यों का सम्मिश्रण होता है। आलाप-संलाप कभी कभी बहुत ही साधारण होते हैं। उनका ध्येय होता है उस उच्च गीतिकाव्य का उपस्थितिकरण जिसमें दृश्य, परिस्थिति या पात्र प्रशस्ति या कभी-कभी उच्च भावनाओं का वर्णन विवेचन होता है। यह भी सर्व विदित है कि संस्कृत नाटकों के भिन्न भिन्न अभिनेता या पात्र अपनी-अपनी सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं। महावीर, राजा, ब्राह्मण और अन्य अभिजात्य व्यक्ति संस्कृत भाषा बोलते हैं। स्त्रियाँ और नीचवर्ग के लोग प्राकृत बोलते हैं। प्राकृत भी पात्रानुसार उसकी विभिन्न बोलियों वाली प्रयोग की जाती है। इन सबके नियम नाट्य-शास्त्र में निश्चित किये हुए हैं। नाटक सुखान्त ही समाप्त होता है। संस्कृत में दुःखान्त नाटक कोई है ही नहीं। इतना ही नहीं अपितु मृत्यु जैसी घटना रंगमंच पर दिखाई ही नहीं जाती है[1]। नाट्य-कला के निबंध ग्रन्थ न तो अत्यन्त कटु कठोर का और न अशोभनीय किसी बात का ही आदेश देते हैं और दर्शक शाप, युद्ध, चुम्बन, भोजन और शयन के अभिनय या दृश्य कभी नहीं देखते हैं।

१८५. यद्यपि वर्तमान में प्राप्य संस्कृत नाटक सैकड़ों हैं, परन्तु उनमें उत्कृष्टतम तो और जिनकी संख्या बीस से कदाचित् ही अधिक है, भास, कालि-

---

1. पश्चात्कालीन संस्कृत नाटकों में यद्यपि यह एक सामान्य प्रथा रही है, फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि भास के उरुभंग जैसे पूर्व नाटकों में इस प्रथा का अनुपालन नहीं हुआ था, क्योंकि इस छोटे से नाटक में रंगमंच पर दुर्योधन का मरना दिखाया गया है।

दास, शूद्रक, विशाखदत्त, हर्ष और भवभूति जैसे नाट्याचार्यों के लिखे हुए ही हैं। बहुत से उत्तरकालीन लेखकों ने उन प्राचीन नाट्यकारो की किसी रचना को अपना आदर्श बना कर नाट्य परम्परा को अधिक सजीव कृतियो की कमोवेश नकल ही की है। मध्ययुग के प्रारम्भिक काल तक यद्यपि संस्कृत नाटक और साहित्य के इतिहास का युग समाप्त हो चुका था, फिर भी विद्या और अध्ययन की परम्परा बड़ी तत्परता से सुरक्षित रखी गई थी और नाटक की कला और अभिनय का पोषण राजसभाओ और समाज के सुसम्पन्न विभागों के आश्रय मे होता ही रहा था। जैसा कि पहले अध्याय मे ही कहा जा चुका है, चौलुक्य युग के गुजरात में न केवल अनेक नाटक ही रचे और खेले गये थे, परन्तु हेमचन्द्र ने नाट्यशास्त्र पर भी अपने काव्यानुशासन के आठवे अध्याय में और उसके शिष्य रामचन्द्र ने जो कि स्वयं नाटक-लेखक भी था, नाट्यकला पर नाट्यदर्पण नामक एक बृहद् ग्रंथ भी लिखा था। वस्तुपाल के समय में याने उत्तरकालीन चौलुक्य काल में भी यह परम्परा बराबर चलती रही थी। हमें वस्तुपाल के विद्यामण्डल के सदस्यों द्वारा रचे गये पाँच नाटको का परिचय मिलता है जिनमें से एक याने काकुत्स्थ-केलि, नरेन्द्रप्रभसूरि रचित ही आज अप्राप्य है। शेष चार नाटकों का हम यहाँ समालोचना करते हैं।

सोमेश्वर का उल्लाघराघव

१८६. इस समालोचना में पहले सोमेश्वर रचित उल्लाघराघव नाटक ही लें कि जिसमें ८ अंको में रामायण की कथा को लेखक ने नाट्य रूप दे दिया है। इस अति दुष्प्राप्य नाटक की जो कि संस्कृत नाटक के अध्येताओ को प्रायः अज्ञात था, एक ही हस्तलिखित प्रति बम्बई सरकार के हस्तलिखित पुस्तक संग्रह में जो कि अब पूना की भण्डारकर इस्टीट्यूट में है, सुरक्षित है। इसकी संख्या सूची है १८८४-८६ की सं ३४३। इस प्रति में ११ पत्र (१ से ५ और १८, ३६, ४०, ७१, ७३ एवं ८७) गायब हैं। इससे हम इस प्रति के ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्व के अंश पूर्ववचन से ही वञ्चित रह जाते हैं। परन्तु मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे यह अंश उस प्रतिलिपि मे प्राप्त हो गया जो कि बम्बई के स्व श्री टी. एम. त्रिपाठी ने पूना प्रति की नकल करते समय किसी अन्य प्रति से उसमे विलुप्त अंश प्राप्त कर, अपनी वह प्रतिलिपि पूरी कर ली थी। जिस दूसरी प्रति से वह विलुप्त अंश पूर्ण किया गया था, वह मुझे उनके निजी पुस्तक संग्रहालय मे खोजने से नही मिली।[१] इस नाटक के ग्रंथाग्र हैं २१०० श्लोकी

---

१. उल्लाघराघव के पूर्ववचन से कुछ उद्धरणों के लिए कि जो श्री त्रिपाठ

जैसा कि पूना प्रति के अन्तिम पत्र पर किसी की पीछे की लिखावट से जाना जाता है।

१८७. नाटक की विषय-सूची देखने से पता चलता है कि पहले अंक में नान्दी के पश्चात् जनक का पुरोहित शतानन्द राजा जनक की चिन्ता का परिचय कराता है कि उनकी पुत्री सीता अब उनसे विलग हो जाएगी। इसका अर्थ यह होता है कि यह नाटक राम और सीता के विवाह के बाद प्रारम्भ होता है। दशरथ और उनके दोनों पुत्र एवं सीता जनक से विदा लेकर अपनी राजधानी अयोध्या के लिए रवाना होते है। कुछ समय पश्चात् ही कचुकी हरिदास सूचना देता है कि क्रुद्ध परशुराम को राम ने कैसे शांत किया था और राजा जनक अपने जामाता की इस महा सफलता का परिचय देने रनिवास मे गये है। दूसरे अङ्क मे दो सेवको के आलाप-संलाप के विष्कम्भक से हमें यह पता लगता है कि दशरथ ने राम के युवराजाभिषेक का निश्चय कर अपने पुरोहित वशिष्ठ ऋषि को बुला भेजा है। तब राम और सीता उद्यानपाल के साथ-साथ आनद-निकुजो और आनन्द-सरों में भ्रमण करते हुए उद्यान-सौन्दर्य का उपभोग कर रहे थे। इसी बीच राम को दशरथ बुलाते है और उन्हें राज-काज के कठिन कर्त्तव्यो का उत्तरदायित्व सम्हालने को तैयार रहने की सूचना करते हैं। यह समय सायकाल का है और वैतालिको की सध्या-संधि का चित्रण करनेवाली कविता नेपथ्य से सुनाई देती है। कंचुकी दशरथ को तभी सूचना देता है कि रानी कैकेयी उन्हे अपने महल में बुलाती है। उधर जाने के पूर्व दशरथ राम से फिर कह देते हैं कि वह अभिषेकानुष्ठान के लिए तैयार रहे। तीसरे अंक मे दो दासियो के आलाप-संलाप से यह अनुमान लगा लिया जाता है कि कैकेयी ने राजा से वे दो वरदान मॉगने का निश्चय कर लिया है कि जो उन्होने उसे एक समय दिये थे। और इनमे से एक तो होगा राम का वनवास और दूसरा होगा उनके स्थान मे भरत का राज्याभिषेक। राम नगर के उत्सवामोद-प्रमोद को देखते हुए भरपूर लवा-जमे के साथ महल गये। परन्तु केकैयी के महल मे पहुँचने पर उन्होंने और सुमन्त्र ने देखा कि रानी को राजा यह समझाने की वृथा चेष्टा कर रहे हैं कि वह अपने वरदानो को पूरा कराने का हठ त्याग दे। राम को देखते ही राजा मूर्च्छित हो जाते है। इसी संकट काल मे कौशल्या, सुमित्रा और सीता महल मे प्रवेश करती है,

---

को गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला के सर्वप्रथम सम्पादक श्री सी. डी. ने दलाल दिए थे, देखिए वसन्त (गुज भाग १४, पृ. १६१ ।

और घटना कैसा अनोखा रूप धारण कर लेती है, यह जानकर वे सब स्तम्भित रह जाती हैं। क्रुद्ध लक्ष्मण भी धनुष पर बाण चढ़ाए और यह कहते कि राम को वनवास देनेवाला साहसी कौन है, वहाँ प्रवेश करता है। परन्तु राम उसे शान्त कर देते हैं और सबसे विदा लेकर वन को प्रस्थान कर जाते हैं। राज्य में सर्वत्र शोक छा जाता है।

१८८ सारे चौथे अंक में राम के वनवास के पश्चात् हुई घटनाओ का ही वर्णन है। इसीमें आकाशयात्रा और कुमुदागद एवं उसके पुत्र कनकचूड की बातचीत भी है। दशरथ की मृत्यु हो गई है। भरत राम के पीछे चित्रकूट पहुँचता है। परन्तु वहाँ राम उसको जनता की रक्षा करने के लिए अयोध्या लौट जाने को राजी कर लेते हैं और वह लौट जाता है। राम विराध का वध करते हैं और अन्त में दक्षिण की ओर प्रयाण का विचार प्रदर्शित करते हैं। पाँचवें अंक के प्रारम्भ में विष्कम्भक है। इसमें मारीच की स्वगतोक्ति से दर्शकों को यह ज्ञान कराया जाता है कि रावण सीता-हरण में उसकी सहायता चाहता है। सूर्पणखा के नाक एवं कान काट लिये गये हैं और जनस्थान में रहनेवाले सब राक्षसगण मार दिए गये है। अब रावण का प्रवेश होता है जो सीता को बलात् हरण कर उठा ले जाता है। गिद्धों का राजा जटायु सीता की सहायता के लिए जाता है और रावण से युद्ध करता है। परन्तु वह सफल नहीं होता और रावण के अंगरक्षक घोराक्ष के कथन से हम जान जाते हैं कि जटायु जख्मी हो गया है। सीता को कुटी में नहीं देख कर राम और लक्ष्मण उसकी खोज में निकल पड़ते है और जटायु से उन्हें उसके रावण द्वारा हरण किये जाने का विवरण सब ज्ञात हो जाता है। जटायु राम को दक्षिण में पम्पासर जाने की सलाह देता और वहाँ सुग्रीव और अन्य वानर राजो से मित्रता करने की बात कहता है। इस प्रकार यह भी सूचना कर दी जाती है कि राम लंका पर सफल आक्रमण कैसे कर सकेंगे। छठा अंक तीन राक्षसो यानें माल्यवान, सारण और शुक के आलाप-संलाप से प्रारम्भ होता है जिससे दर्शकगण यह जान जाते हैं कि बालि राम द्वारा मारा गया और हनुमान ने लंका भस्म कर दी। विभीषण रावण को सीता लौटा देने की सलाह देता है जिस पर उसका अपमान किया जाता है और परिणामतः वह राम की शरण में ही चला जाता है। फिर अङ्गद शांति का सन्देश राम की ओर से लेकर रावण के दरबार मे आता है। परन्तु उसका यह प्रयास निष्फल जाता है और दोनों मे कटु सम्भाषण होता है। तभी वानरो का युद्ध-घोष नैपथ्य में सुन पड़ता है। रावण अपने महल की छत पर से राम की सेना का सिंहावलोकन करता है और

तब शुक द्वारा प्रमुख योद्धाओं का रावण को परिचय कराया जाता है। इसी भाँति राम एवं विभीषण भी रावण की सेना का सुवेल गिरि के शिखर पर से निरीक्षण करते हैं।

१८९. सातवाँ अंक प्रायः समूचा ही मथुराधीश और रावण के मित्र लवण के चर-कापटिक और वृकमुख राक्षस के परस्पर आलाप-सलाप का है। इससे हम जान जाते हैं कि रावण मारा जा चुका है, सीता अग्नि-प्रवेश से निर्दोष प्रमाणित निकल आई है और विभीषण को लंका का राज्याभिषेक हो गया है। कापटिक कहता है कि वह स्वयं अब भी राम के पथ में कठिनाइयाँ उपस्थित करेगा। नेपथ्य में पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या को प्रयाण करने की विभीषण द्वारा की गई राम की प्रार्थना सुनाई देती है। आठवाँ अंक राम की अयोध्या यात्रा से प्रारम्भ होता है। यात्रा करते हुए सीता राम से मार्ग की अनेक नगरियों का परिचय पूछती है और राम उसकी यह जिज्ञासा पूरी करते हैं। कापटिक युवक लवण का वेश बनाता है और अयोध्या में शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाता है कि जहाँ रावण वध के समाचार नहीं पहुँचे हैं। इसलिए वह झूठी खबर फैलाता है कि रावण अपने पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या पर आक्रमण करने के लिए पहुँच रहा है और यह भी कि राम और लक्ष्मण दोनों ही मार दिये गये हैं। अयोध्या में इसलिए सेना सुसज्जित की जाती है, और कौशल्या, एवं सुमित्रा अत्यन्त शोक से सन्तप्त हुई चिता में जीवित भस्म हो जाने की तैयारी करती हैं। ऐसी मरणावस्था में ही पुष्पक विमान अयोध्या पहुँचता है। भरत विमान में बैठे विभीषण को रावण का मित्र समझ कर उस पर शर-सन्धान करते हैं, परन्तु वशिष्ठ जिन्हें सब सत्य घटना ज्ञात है उसे रोक देते हैं और कापटिक के षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ हो जाता है। नाटक का अन्तिम अंश (८७ वाँ पत्र) गुम हो गया है। परन्तु फिर भी यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसमें परिवार के पुनर्मिलन का दृश्य ही दिखाया गया होगा और सबके अन्त में राम के मुख से भरत वाक्य कहलाया गया होगा। यहाँ यह भी कह दूँ कि प्रत्येक अंक के प्रारम्भ में, सिवा पहले ही अंक के, सर्वत्र कवि ने वस्तुपाल की प्रशंसा में एक श्लोक दिया है जो कवि का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध ही प्रकट करता है।

१९०. इस प्रकार यह उल्लाघराघव एक बहुत लम्बा नाटक है। कदाचित् कवि ने ९ वीं सदी ईसवी के सात अंकवाले मुरारि कवि के 'अनर्घराघव' नाटक को इसमें अपना आदर्श रखा है। राम सम्बन्धी कई नाटक हैं जो राघव शब्द से समाप्त होते हैं और इनसे परस्पर का कुछ सम्बन्ध भी उनमें प्रतीत होता है

मायुराज के उदात्तराघव जिसका परिचय निर्देशों[1] से मिलता है, के विषय में हम अन्धकार में ही हैं। हम यह नहीं कह सकते कि मुरारि के अनर्घराघव से वह भी किसी प्रकार सम्बन्धित था या नहीं। कदाचित् यह लेखक उससे पहले या पीछे भी हुआ हो। मुरारि की नकल जयदेव ने (१२०० ई०) अपने प्रसन्नराघव[2] नाटक में की हो, क्योंकि वह भी राम के विषय में एक सप्ताकी नाटक है। एक समय संस्कृत साहित्य में मुरारि का यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय था। सुभाषित संग्रहों में उसकी बहुत ही प्रशंसा की गई है और उस नाटक पर कई टीकाएँ भी लिखी गई हैं[3]। मध्ययुगीन गुजरात में भी यह नाटक बड़े उत्साह के साथ पढ़ा जाता और अध्ययन किया जाता था नरचन्द्र और उसके गुरु देवप्रभ,[4] दोनों ने ही जो कि वस्तुपाल के समकालिक थे, इस पर टीका लिखी हैं। एक तीसरी टीका जिनहर्ष की लिखी १५ वी सदी की है[5]। इसलिए यह किंचित् भी आश्चर्य की बात नहीं है कि सोमेश्वर उससे प्रभावित हुआ हो। उल्लाघराघव का चौथा अंक जिस प्रकार दो गन्धर्व—कनकचूड और कुमुदाङ्गद का आलाप सलाप का है, उसी प्रकार अनर्घराघव के छठे अंक का अन्तिम भाग गन्धर्व रत्नचूड़ एवं हेमाङ्गद की बातचीत का है। दोनों ही नाटकों के ये वार्तालाप काम भी एक ही करते हैं यानें दर्शकों को जो घटनाएँ घट चुकी हैं उनकी सूचना देते हैं। माल्यवान, शुक और सारण की बातचीत भी दोनो में समान स्थानो पर ही याने छठे अङ्क में पाई जाती है। उल्लाघराघव के ८ वे अङ्क के २६-३० दृश्य अनर्घराघव के अङ्क ७ के ६७-६८ दृश्यों की हूबहू नकल है। पहले के नाटक का समूचा ८ वाँ अङ्क पीछे के नाटक के ७ वें अङ्क से प्रेरणा प्राप्त प्रतीत होता है। यहाँ यह कहने की रुचि होती है कि कवि ने राम के अयोध्या लौटने का विवरण रघुवंश सर्ग १३ और राजशेखर के बालरामायण नाटक का १० वाँ अङ्क (लगभग ६०० ई०) भी देख लिये होंगे।

१६१. इस उल्लाघराघव में अभिज्ञानशाकुन्तल का भी कुछ प्रभाव झलकता

---

१. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ. २३२ आदि।

२. वही, पृ. २२६। अज्ञात तिथि के भास्कर कवि का उन्मत्तराघव एकांकी नाटक, कम से कम नामकरण में तो अनर्घराघव जैसे नाटकों से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है।

३. कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ६३८ आदि।

४. पाभंसू, पृ. २०१; जिरको, पृ. ७।

५. पाभंसू, प्रस्ता., पृ. ५२।

है। सीता के अयोध्या जाने और उसके वियोग से राजा जनक को होनेवाले दुःख का जो दृश्य यहाँ उपस्थापित किया गया है, वह कालिदास के महान् नाटक शाकुंतल के चौथे अङ्क में दिखाए ऐसे ही दृश्य का स्मृत्यात्मक है। फिर जब सोमेश्वर यह लिखता है कि—

नवपरिणीता दुहिता गच्छन्ती पतिगृहाय बन्धूनाम्।
परमार्थवेदिनामपि वैक्लव्यं विरचयत्येव ॥

अङ्क १ द. १०

तो शकुन्तला में कण्व से कहलाए गये श्लोक का निम्न अंश उसे अवश्य ही ध्यान में होगा—

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

अङ्क ४ दृश्य ५

और फिर देखिए शतानन्द की सीता को शिक्षा भी—

शुश्रूषा श्वशुरे ननान्दृषु नतिः श्वश्रूषु य ञ्जलि (? बद्धांजलिः?)
पत्यौ तत्परता सुनर्म च वचस्तन्मित्रवर्गे गुणौ।
साङ्गत्यं कुलबालिकासु विनयः पूज्ये तर्ता नवृति-
र्मार्गोऽयं मुनिपुङ्गवैर्मृगदृशां श्रेयः श्रिये दर्शितः ॥

अङ्क १ द. २१

जो शकुन्तला के कण्व द्वारा कथित उस श्लोक पर ही आधारित प्रतीत होती है जिसका आदि है 'शुश्रूषस्व गुरून्०' (४. १७)। इसी प्रकार उदात्त-राघव के दूसरे अङ्क में राम सीता को भौंरे से जो उसके मुख की सुगन्ध से बारबार आकर्षित हो रहा था, रक्षा करते हुए जब 'भ्रातश्चञ्चरीक भ्रमर भवता०' (२. ३५)' कहते हैं तो यह भी शकुन्तला के प्रथमाङ्क के ऐसे ही दृश्य और तत्र कथित श्लोक 'चलापाङ्गा दृष्टिं० (१. २०)' द्वारा प्रेरित प्रतीत होता है।

१६२ संस्कृत नाटक साधारणतया राजसभा के प्रभाव में रहता था और उसके दर्शक यद्यपि सभी प्रकार के होते थे, परन्तु नाटक का मूल्यांकन उन पंडितों द्वारा ही किया जाता था जो काव्य की खूबियों अथवा त्रुटियों की परख में अत्यन्त मनोयोगी होते थे परिणाम यह होता था कि रचयिता कवि उसमें अधिकतम रस और भावप्रधान श्लोक भर देता था और इसलिए वार्तालाप और अभिनय कुण्ठित हो जाता था। इन पूर्ण विकसित रूप में इसको मुरारि, राज-शेखर और अन्य उत्तरकालीन नाटकरचयिताओं की कृतियों में देख सकते हैं कि

जहाँ अभिनय वर्णन के अधीन है, और वर्णन भी अनुप्रास के प्रयोग में और शैली के निभाव में हीन हो गया है[1] । सोमेश्वर में भी हम ये ही प्रवृत्तियाँ पाते हैं क्योंकि वह भी अपने युग का अनुगामी ही तो था । कहीं-कहीं तो उसने बहुत ही लम्बा कर दिया है जैसे कि चौथा अङ्क सारा ही दो गन्धर्वों की लम्बी और विरक्तिकर परस्पर की बातचीत का ही वर्णन करता है; दूसरा अङ्क उद्यान के सौन्दर्य ही का वर्णन करता है और अन्तिम अङ्क का कुछ अंश लङ्का से अयोध्या तक के अनेक भौगोलिक स्थानो का वर्णन वीरगाथा की शैली के अनेक श्लोकों में देता है । ऐसा करने का कुछ कारण तो यह था कि नाटकों की बहुतांश में ख्याति उनके देखे जाने पर नहीं अपितु उनके पढ़े जाने पर थी, फिर चाहे कितने ही प्रयत्न से किसी रचयिता ने अपने नाटक के लोकाभिनय कराने का सम्मान क्यों न प्राप्त कर लिया हो ।

१६३. परन्तु सोमेश्वर के नाटक की विशिष्टता इसमें है कि उत्तरकालीन नाटकों की सभी विशिष्टताओं के उसमें होने पर भी, उसका गद्य और पद्य सब सुललित और प्रभावक शैली में लिखा गया है, जो उसकी रचना को, जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं, सदैव ही प्रख्यात करती रही है । उसने समस्त रामायण को नाट्याकारे परिणत किया है परन्तु ऐसा करते हुए उसने अपने दुर्वह एवं लम्बे विषय का सद्विवेक बुद्धि से ही प्रयोग किया है । परिणाम यह हुआ है कि उसके अङ्क पृथक्-पृथक् नाटकों के रूप में क्रमशः हीन नहीं हो पाये हैं जैसा कि राजशेखर के बालरामायण नाटक में हुआ है । कितने ही रस-प्रधान सोमेश्वर के श्लोक उसकी सफलता के उदाहरण स्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं । परशुराम के समक्ष दिखाए शौर्य की प्रशंसा किए जाने पर लज्जा-संकुचित होकर राम कैसी अनुकरणीय नम्रता प्रकट करते हैं—

> भग्नं जीर्णं त्रिनयनधनुर्यन्मया दैवयोगाद्
> यत्संसोढः शिशुरिति रणे रैणुकेयेन चाहम् ।
> लोकः प्रीत्या तदपि किल मे पौरुषं भाषमाणो
> वार्यः कार्या न खलु महतां गर्हणा निर्निमित्ताम् ॥

अङ्क २ ६. ६

वशिष्ठ का एक शिष्य जतुकर्ण राम के साथ बैठे हुए दशरथ की वट वृक्ष के साथ तुलना करते हुए कहता है –

---

१. कीथ, वही, पृ. २४४ ।

राजा राजत्वनेनाथ सुतेनान्तिकवर्तिना ।
प्ररोहणात्मतुल्येन वटवृक्ष इवोन्नतः ॥

और दशरथ राम के वनवास के विचार से महादुःखी होते हुए अपनी वेदना इस प्रकार प्रकट करते हैं—

मातः क्षिते तपनतात विभो नभस्वन्
सर्वं हि वित्थ तदिदं वदत प्रसह्य ।
का दुर्दशेयमधुना मम वर्तते यन्-
मूर्च्छा तु गच्छति न गच्छति जीवितव्यम् ॥

अङ्क ३ दृश्य १८

अब देखिए अयोध्या और उसकी प्रजा से राम का हृदयस्पर्शी विदायग्रहण—

भास्वद्गोत्रचरित्रचित्ररुचिरप्रासाद तुभ्यं नम-
स्त्वां वन्दे सुकृतानुरक्तजनतामेध्यामयोध्यां पुरीम् ।
आपृच्छे पुरवासिनः सविनयं युष्मानिहायुष्मति
क्ष्माभारं भरते समुद्धरति च स्वस्त्यस्तु गच्छाम्यहम् ॥

अङ्क ३ दृश्य ३५

अब चन्द्रोदय का रुचिर वर्णन पढ़िए—

ब्रह्मास्त्रं मन्मथस्य त्रिभुवनवनितामानमीनावकृष्टये
कैवर्तः कैरवाणां प्रियसुहृदमृतस्रोतसा शीतराजः ।
पान्थस्त्रीणामपथ्यं रथचरणचमूचक्रवालस्य कालः
शृङ्गारस्योपकारः किरति रतिमसावापदीनामधीशः ॥

अङ्क ४ दृश्य ५३

सीताहरण पर राम का विषाद देखिए—

दृष्टिः स्पष्टं तटगतमपि वीक्षते नाश्रुमिश्रा
दूराह्वाने न हि पटुरयं बाष्पकुंठश्च कण्ठः ।
पादद्वन्द्वं प्रचलितुमिदं न क्षमं मुह्यतो मे
तद्वैदेहीं क्वचिदुचिरयन् वत्स पश्य त्वमेव ॥

अङ्क ५ दृश्य ४०

सुभट कृत दूताङ्गद—एक छायानाटक

१६४. सुभट का दूताङ्गद एक संक्षिप्त एकांकी नाटक है जिसमें रावण की राजसभा में अङ्गद के शान्ति-दौत्य का चित्र खींचा गया है। यह स्पष्ट है कि

कवि यहाँ मौलिकता की डींग नहीं हाँकता अपितु स्पष्ट स्वीकार करता है कि पूर्वज कवियों का ही इसकी रचना में ऋण है[1]। इस नाटक के अनेक श्लोक दूसरे ग्रन्थों में खोज निकाले गए हैं। नान्दी के पहले श्लोक का उत्तरार्द्ध नमिसाधु (१०६९ ई०) द्वारा रुद्रट के काव्यालंकार (२ ८) की टीका में उद्धृत हुआ है। पाँचवाँ श्लोक हितोपदेश (लगभग ६०० ई०) में और पंचतन्त्र के कितने ही संस्करणों में पाया जाता है। नवाँ श्लोक क्षेमेन्द्र (११ वीं सदी) ने अपने सुवृत्ततिलक (पृ. १२) में भवभूति से उद्धृत किया है। फिर सुभट ने राजशेखर के बालरामायण से[2] और महानाटक[3] से कुछ श्लोक ले लिये हैं। बहुत सम्भव है कि अन्य कितने ही श्लोक भी प्राचीन कवियों के हों।

१९५ नाटक के प्रारम्भ में हम देखते हैं कि रावण की राजसभा में जाकर सीता को लौटा देने की माँग प्रस्तुत करने के लिए अङ्गद नियुक्त किया जाता है। फिर रावण का प्रवेश होता है और उसके साथ ही उसकी रानी मन्दोदरी और भाई विभीषण का जो राम के साथ शान्ति-सन्धि करने की रावण से प्रार्थना करते हैं। परन्तु रावण इस प्रस्ताव से क्रुद्ध हो जाता है और अपने भाई को निकाल देता है। इस संकट काल में ही द्वारपाल अङ्गद के आगमन की सूचना देता है और फिर राम के दूत अङ्गद और रावण के बीच गरमागरम बातचीत होती है। उस समय रावण के माया बल से उत्पन्न छाया सीता वहाँ प्रवेश होती है। वह रावण के अङ्क में बैठ जाती है और उसे देखकर अङ्गद किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। परन्तु तुरन्त ही दो राक्षसी यह समाचार लेकर आती हैं कि राम के कुछ अनिष्ठ को सुनकर सीता आत्महत्या का प्रयत्न कर रही है। यह सुनकर अङ्गद प्रसन्न हो जाता है और यह जान जाता है कि रावण के अङ्क में बैठी सीता असली सीता नहीं है। रावण सीता को लौटा देने का एकदम इन्कार कर जाता है और अङ्गद उस पर राम की शक्तियों का यथेष्ट प्रभाव डाल कर, लौट जाता है। फिर कुछ देर बाद यह सुना जाता है कि रावण को अपने कृत्य का फल मिल गया है।

---

१. स्वनिर्मितं किञ्चन गद्यपद्यबन्धं कियत् प्राक्तनसत्कवीन्द्रैः।
प्रोक्तं गृहीत्वा प्रविरच्यते स्म रसाढ्यमेतत्सुभटेन नाट्यम्॥ (अन्तिम श्लोक)

२. श्लोक ४६, ४७, ५१, ५२, ५३ और ५४ बालरामायण के अध्याय ६ के ५३, ५५, ५६, ५८, ५९ और अध्याय १० का २१ है।

३. कीथ, वही, पृ. २६९ आदि।

छायानाटक की व्याख्या और उसकी विशेषताएँ

१६६ जैसा कि पहले ही कह चुका हूँ इस नाटक में गद्य भाग बहुत ही कम है और अधिकांश भाग के पद्य भी दूसरे ग्रन्थों से लिए हैं। इसमें काव्य गुण नगण्य हैं। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से उपयोगी भी है क्योंकि इसे पूर्ववचन में छायानाटक कहा गया है जिसे अङ्ग्रेजी में शैडो प्ले कहा जाता है। संस्कृत नाटकों में जिनको कि छाया नाटक कहा गया है, यह प्राचीनतम उपलब्ध नाटक है[1]। इस प्रकार के नाटक का रूपक और उपरूपक नाटकों की सूची में कोई भी उल्लेख नहीं है। इसलिए हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि छायानाटक से क्या अभिप्रेत है? ऐसे नाटक के लक्षणों का कुछ दिग्दर्शन हमें एक दूसरे नाटक याने मेघप्रभाचार्य के धर्माभ्युदय नाटक से प्राप्त होता है जो कि छायानाट्यप्रबन्ध कहा गया है और जिसमें उसके रंगमंच पर अभिनीत किए जाने के स्पष्ट निर्देश दिए गये हैं जैसे कि जब राजा संन्यासी या साधु हो जाने का विचार व्यक्त करता है तो यवनिका के भीतर की ओर संन्यासी या साधु के वेश में एक पुतला बैठा दिया जावे (यवनिकान्तराद् यतिवेशधारी पुत्रकस्तत्र स्थापनीयः, पृ. १५)। दुर्भाग्य से इस धर्माभ्युदय का रचना काल निश्चय रूप से अभी तक स्थिर नहीं हो पाया है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि वह वि. सं. १२७३—सन् १२१७ ई० के पहले की रचना है क्योंकि उस वर्ष की लिखी उसकी एक ताड़पत्रीय प्रति पाटण के संघ-भण्डार में सुरक्षित है[2]। इस नाटक ने अपना विषय राजर्षि दशार्णभद्र का जीवन चरित्र चुना है और इसका अभिनय जैसा कि इसके पूर्ववचन में कहा गया है, पार्श्वनाथ के मन्दिर में किया गया था। इसका रचयिता बहुत करके तो गुजरात का ही कोई एक जैन साधु है क्योंकि उसकी प्रतियाँ गुजरात में ही मिलती हैं[3]। गुजरात के एक अन्य अज्ञात जैन लेखक का ही रचित, नेमिनाथ के जीवन को चित्रित करने-

---

१. कीथ, वही पृ. ५५। यह एक मनोहर बात है कि सोमेश्वर का उल्लाघराघव भी मना की प्रति में तीसरे अंक के अन्त की प्रशस्ति में छाया नाटक इस प्रकार कहा गया है—इति श्रीकुमारसूनोः श्रीसोमेश्वरदेवस्य कृता-वुल्लाघराघवे छायानाटके चतुर्थोऽङ्कः। दूसरे अंकों में कोई प्रशस्ति नहीं है और न तो पूर्ववचन में और न प्रशस्ति में ही कौतूहल का विषय है।

२. पाभंसू, पृ. २८०।

३. जिरको, पृ. ११५।

वाला 'शमामृतम्' नामक एक दूसरा लघु नाटक है जिसे भी उसके पूर्ववचन में छायानाटक कहा गया है (...भगवतः श्रीनेमिनाथस्य यात्रा-महोत्सवे विद्वद्भिः सभासद्भिरादिष्टो ऽस्मि यथा श्रीनेमिनाथस्य शमामृतं नाम छायानाटकमभिनय-स्वेति । पृ. १)। इस नाटक का रचना समय भी अज्ञात है।

१६७. जो कुछ भी हो, हम यह तो कही सकते हैं कि छाया-नाटक ऐसी साहित्यिक कृति हैं कि जिसका कठपुतली को नचानेवालो के द्वारा पाठ किया जाता है। 'छाया-नाटक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है—'वह नाटक जिसमे अन्य साहित्यिक कृतियो की शाब्दिक छाया हो।' इसको कृत्रिम याने नकल भी कह सकते हैं। यह व्याख्या उपर्युक्त 'दूतागद' (पैरा १६४) नाटक में ठीक-ठीक लागू होती है। परन्तु राजेन्द्रलाल मित्र इसकी निम्न व्याख्या करते हैं[1]। वे छाया नाटक को गर्भाङ्क से अभिन्न मानते है। छाया नाटक शब्द की व्याख्या 'प्रतिबिम्ब रूप में नाटक (ड्रामा इन दी फार्म आफ़ शैडो) करते हैं, याने नाटक का न्यूनतम रूप छायानाटक। परन्तु दूतांगद, धर्माभ्युदय और शमामृतं से हमें कोई भी संकेत ऐसा नहीं मिलता कि जिससे हम यह कह सके कि उक्त व्याख्या यथार्थ हो सकती है। प्रो. ल्यूडर्स ने दूतागद को छायानाटक का प्रतिनिधि स्वीकार करते हुए उसकी लाक्षणिकताएँ इस प्रकार बताई हैं—गद्य से पद्य की अधिकता, प्राकृत का अभाव, अनेक पात्रो का होना और विदूपक का विलोप। इस आधार पर उन्होने महानाटक और हरिदूत को भी छाया नाटक मान लिया है[2]। परन्तु हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि उपर्युक्त लक्षण छाया नाटक में ही पाए जाते हैं, क्योकि दूतांगद, शमामृतं और धर्माभ्युदय में कुछ प्राकृत भाषा में वार्तालाप भी है और दूतागद के बिलकुल प्रतिकूल धर्माभ्युदय में तो पद्य से कही अधिक गद्य ही है। जो हो, यह तो इन तीनो कृतियो से जिन्हें उनके रचयिताओ द्वारा छाया नाटक कहा गया है, निश्चित है कि छाया नाटक संक्षिप्त और सरल एकांकी रचनाएँ होती थीं। परन्तु उसकी अन्य विशिष्टताओ एवं उसके यथार्थ अभि-नय के विपय मे हम अन्धकार में ही है। संस्कृत नाटक विकास में[3] कठपुतली के

---

१. बिकानेर सूची, पृ. २५१।

२. कीथ, वही, पृ. ५६।

३. यहाँ मैं महाभारत, पर्व १२, अध्या. २९४, श्लोक ५ पर नीलकण्ठ की टीका का एक उद्धरण देता हूँ—रगावतरण चैव तथा रूपोपजीवनम्। मद्य-

छाया नाटकों ने जो भी भाग लिया हो, इतना तो सत्य ही है कि छाया नाटक कही जानेवाली साहित्य शैली अपेक्षाकृत पीछे की है क्योंकि नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। छाया-नाटक शब्द की यथार्थ परिभाषा कुछ भी हो, हम यह तो निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि तीनों उपलब्ध नाटक याने दूतांगद, धर्माभ्युदय और शमामृतं गुजरात की रचनाएँ हैं और यदि वे कठपुतली छाया नाटक थे तो यह भी कहा जा सकता है कि मध्यकालीन गुजरात में सुललित संस्कृत गद्य एवं पद्य का पाठ भी इन कठपुतली नाटकों में होता होगा।

बालचन्द्रकृत करुणावज्रायुध

१९८ अब हम बालचन्द्र के एकाकी नाटक 'करुणावज्रायुध' का विचार करेंगे। इसका विषय है शिवि और कपोत की कथा का जैन संस्करण कि जो मूल कथा महाभारत के वनपर्व और जातक सं. ४९९ में भी पाई जाती है। पूर्वभव में तीर्थङ्कर शांतिनाथ का जीव, राजा वज्रायुध इस जैन कथा का नायक है। यह कथा संघदास (लगभग ५०० ई०) की वसुदेव हिंडी के २१ वें अध्याय में अपने प्राचीनतम रूप में हमें मिलती है और उत्तरकाल में हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के पाँचवें पर्व में एवं अनेक अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है। नाटक के पूर्ववचन में सूत्रधार, वस्तुपाल व उसके पूर्वज और कवि एवं उसके गुरुओं का बहुत विस्तार से वर्णन करता है। इसके पश्चात् विष्कम्भक

मांसोपजीव्यं च विक्रयं लोहचर्मणोः ॥ (चित्रशाला प्रेस संस्करण)। कपोत-जीवनम् शब्द की नीलकण्ठ ने व्याख्या इस प्रकार की है— कपोतजीवन जल-मण्डपिकेति दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धम्। यत्र सूक्ष्मवस्त्रं व्यवधाय चर्ममयैराकारै राजामात्यादीनां चर्या प्रदर्श्यते। जलमण्डपिका में जल शब्द अरबी शब्द ज़िल से जिसका अर्थ छाया है, शायद लिया गया हो। इस व्याख्या में पुतली के छायानाटक कि जो आज भी देहातों में बहुत प्रिय है, का ही उल्लेख किया गया है। परम्परा नीलकण्ठ को पेशवा का आश्रित पण्डित मानती है और इसलिए उसका काल १८ वीं सदी माना जा सकता है। परन्तु बुर्नेल इसको १६ वीं सदी का मानता है (मैक्डोनेल, संस्कृत लिटरेचर, पृ. २९०)। समय जो कुछ हो, नीलकण्ठ का उपर्युक्त उल्लेख पीछे के काल का है। यद्यपि यह पुतली नाटकों के इतिहास के लिए महत्त्व का है, फिर भी इससे छाया नाटकों के साहित्यिक रूप के प्राचीन इतिहास पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता है।

है जिसमें दो नाट्याचार्य कलहंस और कलकण्ठ के आपसी वार्तालाप द्वारा हमें यह सूचित किया जाता है कि राजा वज्रायुध विश्व-विजय करके अभी अभी लौटे हैं और यह कि वे बड़े ही धर्मनिष्ठ दयालु व्यक्ति हैं। अपने नेत्रद्वय के फड़कने से कलहंस यह अनुमान करता है कि कुछ घटना ऐसी होनेवाली है कि जो राजा के लिए प्रारम्भ में बड़ी दुःखद होगी परन्तु अन्त में सब भला हो जाएगा। तदनन्तर दोनों राजा से मिलने जाते हैं जो पवित्र चतुर्दशी को किया हुआ पौषध पार कर पौषधशाला के पटांगण मे बैठा है। वहाँ राजा और उसके मन्त्री पुरुषोत्तम में बातचीत हो रही है। राजा मन्त्री से उस धर्म सम्बन्धी अपना उच्च आदर्श कह रहा है जो प्रत्येक जीव के प्रति अहिंसा बरतने को कहता है। अपने जीवन का आदर्श प्रकट करते हुए वह कहता है—

> असारस्य शरीरस्य सारमेतद्गुणद्वयम्।
> तपः प्राणैरपि प्रीतिर्विधानमपरे जने ॥ श्लो. ५८

और इसी वाक्य पर नाटक के मुख्य अभिनय का फलित होना आधारित है। इतने मे नेपथ्य में बड़ा कोलाहल सुन पड़ता है और बाजपक्षी द्वारा अनुधावित एक भयभीत कबूतर तभी रंगमंच पर प्रवेश करता है। कबूतर राजा से संरक्षण की याचना करता है जो देने को राजा सदा ही तैयार रहता है। परन्तु बाज भूख से अत्यन्त पीड़ित है और राजा से वह अपना भोजन अर्थात् कबूतर माँगता है। भूख से आकुलित वह बाजपक्षी मूर्च्छित भी हो जाता है। राजा बाजपक्षी को खाने के लिए लड्डू देता है। परन्तु मांसाहारी पक्षी होने के कारण वह लड्डू नहीं खाता। अन्त में राजा उस बाजपक्षी को अपने ही शरीर का कबूतर जितना मांस खाने को देने का निश्चय करता है। परन्तु कबूतर इतना भारी हो जाता है कि राजा स्वयं ही तराजू के पलड़े मे बैठ जाता है और इस प्रकार बाजपक्षी को अपना सारा शरीर ही भक्षण के लिए अर्पित कर देता है। इसी संकट काल मे दो देव जो बाज एवं कबूतर के रूप में राजा की धर्मश्रद्धा की परीक्षा के लिए आए थे, अपने यथार्थ रूप मे प्रकट हो जाते है और सब सुखान्त समाप्त हो जाता है।

१६६. यह नाटक जैनधर्म के प्रचार के लिए उसी प्रकार रचे और अभिनीत किए जाने का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिस प्रकार मोहराजपराजय नाटक (पैरा ३२), प्रबुद्धरौहिणेय (पैरा ३८) और धर्माभ्युदय (पैरा १६६) रचित हुए है। इसलिए इसका अधिकांश राजा और उसके मन्त्री के एवं राजा और बाजपक्षी के बीच हुए धर्म-विषयक वादविवाद में रुका है। कभी-कभी

विदूषक की हास्योक्तियों से रंग में सजीवता आ जाती है, परन्तु सर्वतोभावे अभिनय एकदम बहुत ही कम है। कथोपकथन की अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं। इसीलिए इस छोटे से नाटक में १३७ श्लोक पाए जाते हैं। कुछ श्लोक तो अवश्य ही मार्के के हैं। जब विदूषक परलोक के अस्तित्व में सन्देह प्रदर्शित करता है तो राजा उसको उदाहरण देकर एकदम शान्त कर देता है। वह उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

करस्थमप्येवममी कृषीवलाः क्षिपन्ति बीजं पृथुपङ्कमङ्कटे।
वयस्य केनापि कथं विलोकितः समस्ति नास्तीत्यथवा फलोदयः॥
श्लोक ५०

राजा के हाथ की चमचमाती तलवार का वर्णन भी पढ़ने योग्य है—

शत्रूणां कालरात्रिर्मृगमदतिलकः प्राज्यसाम्राज्यलक्ष्म्याः
शाखा रोषद्रुमस्य प्रबलतरमहः खड्गिनः शृङ्गयष्टिः।
स्फूर्जच्छौर्यप्रदीपांजनमनणुयशःपुण्डरीकस्य नालं
पाथःधिः पुष्कराणामसिरसितरुचिर्भाति देवस्य हस्ते॥ श्लो. ६२

अन्त में जब देव राजा की महानता की प्रशंसा करते हैं तो राजा अपना अमायिक स्वभाव सरल परन्तु वाग्मितापूर्ण शब्दों में इस प्रकार प्रकट करता है—

सज्जनाः परमस्तोकं स्तोकमप्यालपन्ति हि।
कवयः कवयन्त्यब्धिं क्षारमप्यमृताकरम्॥ श्लो० १२५।

जयसिंहसूरि का हम्मीरमदमर्दन

२०० जयसिंहसूरि का हम्मीरमदमर्दन नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसकी रचना समकालिक घटनाओं को लेकर ही हुई है। पौराणिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटक संस्कृत में बहुत ही कम हैं। विशाखदत्त के दो नाटक—मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्त, ऐतिहासिक नाटकों में प्रसिद्ध हैं। इनमें भी देवीचन्द्रगुप्त नाटक का परिचय तो हमें रामचन्द्र के नाट्यदर्पण और भोज के शृङ्गारप्रकाश में दिए उद्धरणों से ही मिलता है। सम्पूर्ण नाटक आज तक अप्राप्त है। हम शाकम्भरी[1] के वीसलदेव या विग्रहराज से सम्बन्धित सोमदेव के ललितविग्रहराज नाटक (लगभग ११५३ ई०) और विद्यानाथ के प्रतापरुद्रकल्याण (लगभग १३०० ई०) जो उनके अलङ्कारशास्त्र ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अन्तर्निविष्ट है, को उन नाटकों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर

---

१. कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ६४२।

सकते हैं जो अपने आश्रयदाताओं के गुणगान के लिये लिखे गए थे। मदन का[2] पारिजातमञ्जरी (१२३१ ई०) नाटक भी उल्लेखनीय है। पहले अध्याय में हमने गुजरात में रचित और अभिनीत अनेक ऐतिहासिक नाटकों का वर्णन किया है याने बिल्हण का कर्णसुन्दरी, यशश्चन्द्र का मुद्रितकुमुदचन्द्र प्रकरण, यशःपाल का मोहराजपराजय, देवचन्द्र का चन्द्रलेखाविजय प्रकरण और गंगाधर का गगादासप्रतापविलास। इनमें से कितनों ही में तो पौराणिक उपादान का उपयोग किया गया है और वे एक सीमित दृष्टि से ही ऐतिहासिक हैं। पक्षान्तर में इस हम्मीरमदमर्दन नाटक का विषय विशुद्ध ऐतिहासिक घटना है यानि वस्तुपाल और वीरधवल द्वारा मुसलमानो के आक्रमण की प्रतिहति। जो इस प्रकार प्रदर्शित की गई है कि मानो लेखक को समकालिक घटनाओं का साक्षात् ज्ञान ही प्राप्त है। हम्मीर शब्द अरबी शब्द अमीर का अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ उस भाषा में है 'एक सरदार'। यहाँ यह 'दिल्ली के सुलतान' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस सुलतान को इस नाटक में कहीं-कहीं 'मिलच्छीकार' भी कहा गया है।

२०१. यह हम्मीरमदमर्दन पाँच अंकी नाटक है। लेखक (पृष्ठ १) का दावा है कि इसमें नवों रस वर्णित हैं और कुछ प्रकरणो की तरह भयानक भावों द्वारा दर्शकों में विरक्ति उत्पन्न नहीं की गई है। प्रस्तावना के पश्चात् पहले अंक में वीरधवल और तेजपाल वस्तुपाल के राजनीतिक असाधारण गुणो पर बातचीत करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। हम यह भी जानते हैं कि तुरुष्क हम्मीर और यादव सिंहण गुजरात पर आक्रमण करने की ताक में है और वे लाट के नायक और सिंह के भतीजे संग्रामसिंह से सहायता पाने की आशा भी रखते हैं। तेजपाल के पुत्र लवणसिंह के चर बड़े महत्त्व की खबर लाते हैं और राजा वीरधवल तब हम्मीर पर आक्रमण कर देने की इच्छा जाहिर करता है। परन्तु वस्तुपाल शत्रु का बहुत दूर तक पीछा करने के राजा के हठ के विरुद्ध चेतावनी देता है और मारवाड़ के राजाओ की सहायता प्राप्त करने को कहता है। दूसरे अंक में हम देखते हैं कि वस्तुपाल की सलाह का, जैसा कि लवणसिंह कहता है, पालन किया गया है। अब निपुणक नामक चर रंगमंच पर प्रवेश करता है और अपने उपक्रमों की कथा कहता है कि वह सिंहण की छावनी में गया और अपने को वीरधवल की चालढाल का पता लगाने वाला चर बताया और यह

---

२. बुह्लर, इंएं भाग ३५, पृ. २३६ आदि। यह मदन धारा में राजगुरु था और इसलिए वस्तुपाल द्वारा पोषित कवि मदन से भिन्न व्यक्ति है। (पैरा १२२)।

सूचना दी कि राजा वीरधवल हम्मीर पर आक्रमण करने को तैयार है। फिर उसने सिंहण को समझा-बुझाकर राजी कर लिया कि वह उपयुक्त अवसर की ताक में तापती नदी के जंगलो मे सेना सहित टिका रहेगा और ज्यो ही वीरधवल की सेना हम्मीर के साथ युद्ध करते करते कुछ शिथिल हो जायगी कि वह उस पर आक्रमण कर देगा। मालवा के राजा देवपाल की सेवा में चर रूप से रहनेवाले भाई सुवेग की कूट मन्त्रणा से निपुणक सिंहण पर ऐसा प्रभाव डालने में सफल हो जाता है कि संग्रामसिंह विरोधी पक्ष में है और इसलिए उसे वह भाग जाने को आतुर बना देता है। अब वस्तुपाल रंगमंच पर आता है। उसका चर कुशलक उसे सूचना देता है कि संग्रामसिंह स्तम्भतीर्थ पर आक्रमण की तैयारी कर रहा है। वस्तुपाल उससे रक्षा का प्रबन्ध करता है और इसलिए संग्रामसिंह के मन्त्री भुवनपाल को बुलाता है और उससे यह समझौता कर लेता है कि उसके राजा की सहायता वीरधवल को ही प्राप्त होगी। तीसरे अंक में मेवाड़ के राजा जयतल की दशा के समाचार कमलक नामक एक चर देता है। म्लेच्छों के आक्रमण से भयभीत होकर वहाँ कुछ लोग निराशा से कुएँ में गिर कर मर गये तो दूसरे अपने घरों में आग लगाकर जल मरे अथवा फाँसी ही गले में लगा ली। इधर जयतल भी शत्रुओं को दबाने में सफल हुआ और उसने यह कहकर लोगों को उत्साह दिलाया कि वीरधवल भी उनकी सहायता के लिए आ रहा है। यह सुनते ही तुरुष्क लोग डर के मारे भाग गये। अन्य शत्रुओं पर विजय पाकर वस्तुपाल म्लेच्छों पर विजय पाने के लिए क्या कर रहा है, इसका परिचय भी कुवलयक और शीघ्रक नामक दो गुप्तचरों की आपसी बातचीत द्वारा कराया जाता है और यह बातचीत ही चौथे अंक का प्रवेशक है। बगदाद के खलीफा को झूठी खबर देकर वस्तुपाल ने उससे खर्परखाँ को यह आज्ञा भिजवा दी कि वह मिलछीकार को बन्दी करके भेज दे। उसने गुजरात के अनेक मांडलिकों को भी यह प्रतिज्ञा कर अपनी ओर कर लिया है कि तुरुष्कों की हार के बाद उनकी भूमि उनमे बाँट दी जायगी। अब मिलछीकार और उसका मन्त्री घोरी इस परिस्थिति पर वार्ता करते हुए रंगमंच पर दिखाए जाते है। उनको एक ओर से खर्पर खाँ दबाता है तो दूसरी ओर से राजा वीरधवल। मिलछीकार मैदान छोड़ कर हट जाना नहीं चाहता है, परन्तु ज्यों ही वीरधवल की सेना के आने की बात वह सुनता है तो अपने मन्त्री सहित जल्दी से जल्दी भाग जाता है। वीरधवल को इस बात से निराशा होती है कि वह अपने शत्रुओं को कैद नहीं कर सका। शत्रु का पीछा नहीं करने की वस्तुपाल की मन्त्रणा का वह पालन करता है और यहीं चौथा अंक समाप्त हो जाता है। पाँचवाँ अंक बड़ा दिलचस्प है क्योंकि युद्ध

मैदान से विजयी होकर राजा वीरधवल और मन्त्री तेजपाल के धवलक्क में प्रत्यागमन का इसमें वर्णन किया गया है। वीरधवल को नरविमान पर चढ़ा हुआ बताया गया है। नरविमान कदाचित् हवा में उड़नेवाला कोई ऐसा विमान होना चाहिए कि जिसका आकार मनुष्य का हो। अचलेश्वर महादेव का स्थान आबू-पर्वत, वसिष्ठाश्रम और वहाँ रहनेवाले ऋषियों को पीछे छोड़ते हुए राजा और मन्त्री परमार राजाओं के पाट नगर चन्द्रावती पहुँचते हैं, फिर सिद्धपुर जहाँ कि पवित्र सरस्वती नदी पूर्व की ओर बहती है (नूनमस्याः सिद्धपुरपरिसरे प्राचीमुखप्रसृमरं पयः प्रवाहमधिवसन्, पृ. ४७)। यहाँ भद्रमहाकाल का मन्दिर वे देखते हैं जो मूलराज का बनवाया हुआ रुद्रमहालय ही है। फिर वे अणहिलवाड, गुजरात के पाटनगर पहुँचते हैं और वहाँ के सहस्रलिंग सागर के दर्शन कर बड़े ही आह्लादित होते हैं। अब दक्षिण की ओर जाकर वे साबरमती तटस्थित कर्णावती (आधुनिक अहमदाबाद और कभी आसापल्ली भी कही जानेवाली नगरी) देखते हुए कि जहाँ लावण्यप्रसाद शासक है, अन्त में धवलक्क पहुँचते हैं जहाँ कि रानी जयतला देवी उत्कण्ठा से राजा वीरधवल की प्रतीक्षा करती खड़ी है। सब स्थानों का वर्णन बड़ी आलंकारिक भाषा में किया गया है और आबू से धवलक्क तक की हवाई यात्रा का विचार लेखक के मन में अनेक राम-नाटकों में एवं रघुवंश में (देखो पैरा १६०) वर्णित लंका से अयोध्या की पुष्पकविमान द्वारा यात्रा से ही आया होगा ऐसा प्रतीत होता है। सब के धवलक्क लौट जाने पर हम देखते हैं कि वस्तुपाल मिलछीकार के गुरु रदी और कदी को बगदाद से लौटते हुए समुद्र में ही रोक लेता है और इस प्रकार मिलछीकार को उनकी मुक्ति के लिए राजा से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने को वह बाध्य कर लेता है। वस्तुपाल और वीरधवल अन्त में परस्पर बधाई देते दिखलाते हैं। फिर राजा शिव मन्दिर में जाता है जहाँ शिव उसे साक्षात् होकर वरदान भी देते हैं।[1]

२०२. यद्यपि हम्मीरमदमर्दन नाटक का एक मात्र लक्ष्य वस्तुपाल, तेजपाल और राजा वीरधवल की महत्ता की प्रशंसा करना ही है, फिर भी यह समकालिक इतिहास पर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता ही है। इस प्रसंग में हमें उस काल में चर-व्यवस्था कैसी थी इसका भी दिग्दर्शन हो जाता है। उत्तरमध्ययुगीन संस्कृत साहित्य की रचना होने से यह अत्यन्त अलंकारबहुल और कृत्रिम शैली पर लिखा हुआ है। फिर भी आलाप-संलाप जोरदार हैं, और काव्यरसिक एवं

---

१. नाटक संक्षिप्त सार के लिए देखो कीथ, वही, पृ. २४८ आदि; और उसके विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखो दलाल, हमम, प्रस्ता., पृ ६ आदि।

चुनी हुई उपमाओं से यह ओतप्रोत है। वस्तुपाल, तेजपाल और वीरधवल का चरित, सुरेख और जीवन्त है। वायुयात्रा का वर्णन यह बताता है कि कवि कुछ काल्पनिक कहने और करने पर आमादा है। सारे नाटक भर में एक स्त्री-पात्र है और वह है रानी जयतलादेवी। ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि ने उसको पाँचवें अंक के प्रारम्भ में शृंगारिक भावों के वर्णन करने के लिए ही उपस्थित किया है। यदि हम उसे नाटक की नायिका समझें तो स्वभावतः वीरधवल को नाटक का मुख्य नायक हमें मानना होगा और नाटक में उसी से अन्त में भरत-वाक्य कहलाया भी गया है। पक्षान्तर में नाटक का मुख्य पात्र वस्तुपाल है ऐसा भी लगता है क्योंकि उसके विराट रूप से ही सब घटनाएँ आविर्भूत हैं। बहुत सम्भव है कि कवि ने उसको वीरधवल का सलाहकार और नियामक, या कहिए कि उसका राजनीति में गुरु चित्रित करना चाहा है। उसकी भूमिका मुद्राराक्षस में चाणक्य की भूमिका से तुलना की जा सकती है कि जिसमें चन्द्रगुप्त यद्यपि प्रधान पात्र है परन्तु प्रवृत्तियों का मुख्य भार तो उसके गुरु चाणक्य पर ही रहा था।

२०३. नाटक में गीति काव्यों की भरमार है हालाँकि गद्य और पद्य के परिमाण में ऐसा कोई विशेष अन्तर नहीं है जैसा कि हम दूतांगद अथवा करुणावज्रायुध में पाते हैं। सायंकाल के वर्णन में कवि ने एक अद्वितीय कल्पना की है—

नीलानि षट्पदकुलानि हसन्मुखीनां लीनानि भान्ति हृदयेषु कुमुद्वतीनाम्।
दूराभ्युपेतनिजकान्तकरान्तसंगपीयूषशान्तविरहानलसंनिभानि ॥

अंक २ श्लोक २०

देखिए कंचुकी अपनी वृद्धावस्था का कैसी काव्यमयी भाषा में परिचय कराता है—

सर्वाङ्गं पलितच्छलेन जरया मुक्ताः कटाक्षच्छटाः
स्वात्मा कम्पयते शिरश्च विषयाभोगान्निषेधन्निव।
आलोकाय मुहुर्जलं वितरतो बाष्पच्छलाच्चक्षुषी
देहोऽद्यापि तथापि संकुचति मे मृत्योर्भियेवाधिकम् ॥

—अंक ५, श्लो. २

और देखिए आबूपर्वत का सुरम्य वर्णन—

धरित्रीधम्मिल्लो विलसति वशिष्ठक्रतुशिख-
स्फुरद्धूमः श्यामीकृतवपुरसावर्बुदगिरिः।
इमे ताराभारास्त्वदहितयशः षट्पदजुषो
यदङ्गं रंगतः कुसुमभरभंगीमविभरुः ॥

—वही श्लोक ३

वसिष्ठ के तप निकुंज के वृक्ष भी संन्यासी से ही दीखते हैं—

काश्यैस्पष्टशिराभरोपमलतासंवेष्टितांगा जटा-
जूटप्रायदलप्रतानमुकुटाः सौख्योपविष्टा ध्रुवम् ।
उत्फुल्लानि तपोधना इव वनोत्संगे भृशं बिभ्रते
शुभ्रध्याननिभा इमानि शिरसा पुष्पाण्यमी पादपाः ॥

—वही श्लोक १०

अब सिद्धपुर के भद्रमहाकाल के रूप का वर्णन देखिए जिसका अग्नि-स्फुल्लिंग मानो उसकी ही आरात्रिक उतार रहा है—

चूलागलद्धवलसिन्धुपयप्रवाहो व्यालोलचामरतुलां कुरुते त्रिसंध्यम् ।
नृत्यन्नसौ प्रसृमरानलचक्षुरस्या नीराजनीभवति च स्वयमेव देवः ॥

—वही श्लोक २१

अब गुजरात के पाटनगर, अणहिलवाड़ के गगन-चुम्बी मन्दिरों का वर्णन सुनिए—

निशि निशि तुहिनांशुज्योत्स्नया जातजाड्या-
कृतिरिव रविमूर्त्यामुल्लसन्त्यां हसन्त्याम् ।
इह सुरगृहपक्तिर्वासरे वासरेऽसौ
बत तपति पताकाहस्तविस्तारणेन ॥

—वही श्लोक २४

अनर्घराघव पर नरचन्द्र का टिप्पण

२०४. अब अनर्घराघव पर नरचन्द्र के टिप्पण का भी विचार कर लेना चाहिये क्योंकि उसका भी विषय नाटक ही है। यह अनर्घराघव नाटक मुरारि का लिखा हुआ है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि नरचन्द्र के गुरु देवप्रभ ने भी इसी नाटक पर भाष्य लिखा है। परन्तु उसका विचार हम यहाँ नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह वस्तुपाल के वयोज्येष्ठ[1] समकालिकों में होने पर भी उसके विद्यामण्डल का सदस्य नहीं कहा जा सकता है जैसा कि नरचन्द्र। ऐसी कोई भी साक्षी नहीं है कि देवप्रभ की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी वस्तुपालाश्रित थी या उसके परिवार के किसी अन्य सदस्याश्रित। देवचन्द्र और नरचन्द्र दोनों के ही ये ग्रन्थ अमुद्रित हैं। हस्तलिखित प्रतियों में ही प्राप्त हैं। देवप्रभ का भाष्य विस्तृत और बहुश्रमसिद्ध है। उसके ग्रन्थाग्र हैं ७१०० श्लोक[2]। पक्षान्तर में नरचन्द्र का

१. देखो पृ. १०१ टिप्पण ४।

२. पामंसू, पृ. २०१।

ग्रन्थ एक टिप्पण मात्र है और उसके ग्रन्थाग्र हैं २४५० श्लोक[1]। याने यह टिप्पण उसके गुरु के भाष्य का एक तिहाई मात्र ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नरचन्द्र ने अनर्घराघव पर पूर्ण विकसित टीका नहीं लिखी है। उसका एक कारण कदाचित् यह हो कि उसके गुरु ने ऐसी टीका पहले ही लिख दी थी। नरचन्द्र की कृति आज की कुंजियों के समान है और इसलिए वह पाठों के अर्थ को स्पष्ट करने भर तक ही की गई है और विवेचनग्रन्थ न्यायकन्दली के समान वह शास्त्रीय नहीं है। इसलिए उसे उसमें अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने का कोई भी अवसर नहीं मिला है जैसा कि उसने न्यायकन्दली के अपने टिप्पण में किया है (देखो अध्या. १७)। ऐसा मालूम पड़ता है कि अनर्घराघव के टिप्पण मे लेखक का लक्ष्य अध्येताओं को एक छोटा सहायक ग्रन्थ मात्र लिखने का था क्योंकि मुरारि के इस नाटक ने मध्ययुगीन गुजरात मे अनेक अध्येताओं को आकर्पित कर लिया था। इस टिप्पण मे नरचन्द्र ने किसी प्रकार का प्रामाण उद्धृत नही किया है। यही क्यों, कहीं कोई उद्धरण भी नहीं दिया है। संस्कृत नाटक के कलाविधान की भी कहीं चर्चा नही की है और न विशिष्ट शब्दों और पदों की ही व्याख्या की है। नरचन्द्र यद्यपि महापण्डित था, फिर भी उसकी यह कृति बिलकुल सरल और सीधी है ताकि साहित्यिक शिक्षा के प्रारम्भिक शिशुओं के उपयोगी हो। कदाचित् यही कारण है कि नरचन्द्र की इस कृति की जितनी अधिक प्रतियाँ आज प्राप्य है उतनी देवप्रभ और जिनहर्ष की टीकाओं की नहीं मिलती हैं[2]। यह बात इसको भी प्रमाणित करती है कि नरचन्द्र का यह टिप्पण अध्येताओं को उपयोगी हुआ था और उनमे इसीलिए यह लोकप्रिय भी था।

---

१. जिरको, पृ. ७।

२. वही, पृ. ७।

आठवाँ अध्याय

प्रशस्तियाँ

प्रशस्तियों की साहित्यिक शैली और उसका विकास

२०५. प्रशस्ति या गुणकीर्तन संस्कृत साहित्य की एक अत्यन्त रोचक शैली है क्योंकि आलंकारिक शैली के काव्य में लिखे जाने पर भी इनके विषय ऐतिहासिक व्यक्ति होते हैं और इनसे भूतकालीन इतिहास के संयोजन की बहुत सी सामग्री मिल जाती है। प्राचीनतम भारतीय साहित्य मे और विशेषतया ब्राह्मणो एवं उपनिषदों में 'गाथा नाराशंसी' अर्थात् व्यक्ति प्रशंसा के गीत का बहुत बार वर्णन आता है। ये गीत ऋग्वेद की दान-स्तुतियो और अथर्ववेद की कुणटाप सूक्तों से सम्बन्धित हैं और एक प्रकार से वीर गाथाओ मे वर्णित शौर्य घटनाओ के अग्रदूत भी, क्योंकि उनमे योद्धाओ और राजाओ के गौरवमय कार्यों का ही वर्णन है और विद्वानो की मान्यता है कि ये गाथाएँ ही कालान्तर मे किसी एक व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष को लेकर अतिशय दीर्घ महाकाव्यों में विकास पाई हैं[1]।

२०६. कालान्तर में ये प्रशस्तियाँ हमें उत्कीर्ण लेखों के रूप मे भी मिलती हैं जिसके द्रष्टव्य नमूने गुप्त युग के पाए गए हैं। समुद्रगुप्त के सम्बन्ध की हरिषेण की प्रशस्ति जो इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण है (३७५–३९० ई०), स्कन्दगुप्त का गिरनार लेख (४५६ ई.) और मन्दसौर के सूर्य मन्दिर की वत्सभट्टी की प्रशस्ति (मालवा सम्वत् ५२९ जो ब्यूलर के मतानुसार ४७३–४ ई० है), हमारा विशेष ध्यान आकर्षित करती है। ये और अन्य भी कितनी ही उन राज-काव्यों के नमूने हैं जो राजाओं के आश्रय मे और कभी-कभी वस्तुपाल जैसे मन्त्रियो के आश्रय में भी, बड़ी तत्परता से पोषित किए गए थे। हिन्दू सार्वभौमता के समाप्त हो जाने पर भी स्थापत्यो की स्मृति में प्रशस्ति लिखने की परम्परा अभी-अभी तक भी चलती रही थी। गुजरात और राजस्थान में, विशेषतया वहाँ के जैनो मे एक विशेष प्रकार की प्रशस्ति भी प्रचार

१. विंटरनिट्ज, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग १ पृ. ३१४।

में थी और वह थी ग्रन्थ-प्रशस्ति अर्थात् पुस्तकान्त में स्तुति-गाथा । जैन लेखक अपनी कृतियों के अन्त में बहुधा बहुत लंबी प्रशस्तियाँ दिया करते थे, और इनमें वे अपने, अपने गुरु के और अपने गच्छ के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिख देते थे । फिर इन हस्त-प्रतियों के अन्त में उन श्रावकों की प्रशस्तियाँ भी दी हुई मिलती है जिनके आश्रय में ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की जाती थीं और उनकी भी जो इन्हें खरीद कर साधु और साध्वियो को उपयोग के लिए दान कर पुण्य कमाते थे। ऐसी अनेक प्रशस्तियाँ पेटरसन और भण्डारकर जैसे विद्वानों की प्रतिवेदनाओं (रिपोर्टों) में और पाटण व जैसलमेर के जैन भण्डारों की वर्णनात्मक सूचियो में और जैन-पुस्तक प्रशस्ति-संग्रह ग्रन्थों मे दी गई हैं। ऐसी प्रशस्तियाँ मध्ययुगीन गुजरात के सम्भ्रान्त जैन परिवारों के इतिहास की भी बहुत उपयोगी सूचनाएँ देती है।

२०७. आदर्श प्रशस्ति रचना में सीधी और सरल होती है। मंगलाचरण या आशीर्वचन के पश्चात् उसमें स्थापत्य निर्माता या दाता का वृत्तान्त दिया जाता है। यदि निर्माता अथवा दाता तत्कालीन राजा नहीं है तो उस प्रशस्ति में तत्कालिक राजा के सम्बन्ध में भी कुछ वर्णन जोड दिया जाता है। दोनों ही दशाओं मे वंश का परिचय अवश्य रहता है। तदनन्तर दान का वर्णन किया जाता है और वह जिस लिए और जिन शर्तों पर दिया गया है, उसका दान के विवरण के पश्चात् वर्णन किया जाता है। कभी-कभी काव्य में स्थापत्य का वर्णन भी कर दिया जाता है। इसमें निर्माता शिल्पी का, प्रतिष्ठाता गुरु का, प्रशस्ति रचयिता कवि का, ताम्र या शिला पर लिखनेवाले लेखक और उसे उत्कीर्ण करने वाले त्वष्टा का नाम भी दिया जाता है। मन्दिर, मूर्ति, लोकभवन, ताम्रपत्र या ग्रन्थ की प्रशस्ति-शैली में कुछ-कुछ अन्तर भी देखा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्रशस्तियों में महत्त्व का अंश साधारणतया वंश-परिचय, शौर्य अथवा धर्मकार्य वर्णन होता है। कोई-कोई प्रशस्तियाँ बहुत ही छोटी होती हैं अर्थात् कुछ पंक्तियों की ही, तो कितनी ही सौ-सौ पंक्तियाँ या श्लोकों तक की लम्बी होती हैं। कुछ गद्य में होती हैं तो दूसरी सारी की सारी पद्य मे ही। कोई-कोई गद्य और पद्य की मिश्र भी होती है। इनका ऐतिहासिक एवं काव्यात्मक महत्त्व विभिन्न प्रकार का होता है।

वस्तुपाल और तेजपाल के सुकृतों की स्मारक प्रशस्तियाँ

२०८. वस्तुपाल और तेजपाल के सम्बन्धी लम्बी और छोटी सभी प्रकार की अनेक प्रशस्तियाँ आज उपलब्ध हैं। परन्तु यहाँ पर केवल उनका ही विचार

किया जाएगा कि जिन्हें हम स्वतंत्र काव्य-श्रेणी में रख सकते हैं या कह सकते हैं। प्रसंगवशात् हम ऐसे काव्यों का भी दिग्दर्शन करेंगे जो कहीं उत्कीर्ण नहीं होते हुए भी स्तुति-रूप रचे गये होने से अवलोकनीय हैं। इन सब काव्यों में वस्तुपाल और तेजपाल ही केन्द्रीय-मूर्ति है। हाँ, एक प्रशस्ति अर्थात् दर्भावती की वैद्यनाथ-प्रशस्ति जो वस्तुपाल के विद्यामण्डल के एक सदस्य सोमेश्वर की रची हुई है, उसकी केन्द्रीय मूर्ति है उस वैद्यनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार करानेवाला राजा वीसलदेव। इस प्रशस्ति में मंदिर और उसके जीर्णोद्धारक राजा का ही गुणगान किया गया है। बहुत सी प्रशस्तियों का मुख्य विषय वस्तुपाल और उसके सुकृत हैं और परम्परानुसार अयोग्य रीति से प्रशंसा करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है, इसलिए साहित्यिक गुणों में वे मध्यम श्रेणी की ही हैं। फिर भी उनमें कहीं-कहीं काव्य की अपूर्व छटा दिखलाई दे जाती है और इसीलिए वे विचारणीय हो गई हैं।

सोमेश्वर की आबू प्रशस्ति

२०९. सोमेश्वर की आबू प्रशस्ति आबू के मंदिरों के निर्माण की स्मृति में रची गई है। उसमें भिन्न भिन्न वृत्तों के ४७ श्लोक हैं। पहले दो श्लोकों में सरस्वती देवी और आबू मन्दिर के मूलनायक श्रीनेमिनाथ की स्तुति की गई है। तीसरे श्लोक में अणहिलवाड़ का संक्षेप में वर्णन है। तदनन्तर निर्माता के वंश का परिचय देते हुए उसके माता, पिता, भाई और भगिनियों का प्रशंसात्मक उल्लेख किया गया है (श्लो. ४-२४)। श्लोक २५-२९ में कवि चौलुक्य शाखा (याने वाघेला) के भूषण अर्णोराज और उसके पुत्र एवं पौत्र लवणप्रसाद और वीरधवल का उल्लेख करता है। इसके अनन्तर आबू का वर्णन किया गया है और वहाँ राज्य करनेवाले वसिष्ठ के अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न परमार वंश के पौराणिक आदि पुरुष से लेकर तात्कालिक राजा सोमसिंह एवं उसके पुत्र युवराज कृष्णराज का वर्णन है (श्लो. ३०-४२)। फिर वस्तुपाल और उसके परिवार के सदस्यों—उसकी पत्नि ललितादेवी, उसका पुत्र जयन्तसिंह, और उसका भाई तेजपाल एवं उसकी पत्नी अनुपमादेवी, और उसका ज्येष्ठ भ्राता मल्लदेव, उसकी पत्नी एवं पुत्र का कीर्तिगान किया गया है (श्लो ४३-५८)। फिर कवि तेजपाल निर्मित मंदिर का और परिवार के दस जनों की गजारूढ़ मूर्तियों की जो जिनेन्द्र के दर्शनों को आये दस दिग्पालों से दिखलाई पड़ते हैं, प्रतिष्ठा का वर्णन करता है (श्लो. ६९=६५)। श्लोक ६६-६८ में वस्तुपाल के सुकृत्यों का अतिरंजित वर्णन है। श्लोक ६९-७१ में नागेन्द्र-

गच्छ के आचार्यों की पट्टावली एवं उसके तात्कालिक आचार्य श्रीविजयसेनसूरि, मंदिर की मूर्ति के प्रतिष्ठाता, का वर्णन है। श्लोक ७२ में मन्दिर और उनके निर्माता की कुशल-कामना की गई है और श्लोक ७३ वें में रचयिता सोमेश्वर ने अपना नाम दिया है। इसमें भगवान नेमिनाथ और उनकी अधिष्ठात्री देवी अम्बिका की कृपा वस्तुपाल के परिवार के इस गुणकीर्तन पर प्रार्थित है। सरल गद्य के दो पदों में स्रष्टा का नाम और प्रतिष्ठा तिथि दे दी गई है।

गिरनार लेखों का गद्यांश

२१०. वस्तुपाल के गिरनार लेखों में से छह लम्बे लेखों को स्वतंत्र प्रशस्तियाँ ही कही जा सकती हैं। इनमें लेखों के प्रारम्भ ही में गद्यांश है और यह सबमें एकसा होने से उसका एक ही का लिखा या रचा होने का अनुमान होता है। लेखक या रचयिता का नाम दुर्भाग्य से नहीं दिया गया है। विशेष रूप से द्रष्टव्य यह है कि उक्त गद्यांश में वस्तुपाल के परिवार के इतिहास सम्बन्धी कुछ मुख्य तिथियाँ और अन्य उपयोगी सूचना है। इसलिए वह मध्यकालीन हिन्दू-युग के गुजरात के इतिहास के लिए महत्त्व की है।

गिरनार लेखों में सोमेश्वर के श्लोक

२११ गिरनार लेखों के उपर्युक्त गद्यांश के पश्चात् निर्माता की स्तुति रूप कुछ श्लोक हैं जिनमें रचयिताओं के नाम भी दिए गए हैं। दो लेखों में गुएले, सं. २०७, और प्राजैलेसं, स ३८-१; गुऐलेसं, सं २०६ और प्राजैलेसं, सं. ४०-३) श्लोक सोमेश्वर रचित हैं। पहले लेख में ६ श्लोक और दूसरे में १६ श्लोक सोमेश्वर के हैं। सब श्लोकों में गुणकीर्तन के सिवा कुछ भी नहीं है। ये प्रशस्तियाँ जिस रीति से रची गई हैं उसे देखते इनमें साहित्यिक गुण साधारण ही हो सकता है। फिर भी सोमेश्वर के उत्तम काव्य का अच्छा नमूना करने में सफल हुआ है। वस्तुपाल की प्रशासनिक प्रतिभा और काव्य रचनाओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

विरचयति वस्तुपालश्चुलुक्यसचिवेषु कविषु च प्रवर.।
न कदाचिदर्थहरणं श्रीकरणे काव्यकरणे वा॥[1]

तेजपाल के सम्बन्ध में कवि कहता है -

तेजःपालः सकलप्रजोपजीव्यस्य वस्तुपालस्य।
सविधे विभाति सफल. सरोवरस्येव सहकारः॥[2]

---

१. आबू प्रशस्ति, श्लोक १४। २. वही, श्लोक ६५।

वस्तुपाल का गौरव सर्वत्र कैसे फैल गया है उसको कवि इस प्रकार वर्णन करता है—

उदारः शूरो वा रुचिरवचनो वाऽस्ति न हि वा
भवत्तुल्यः कोऽपि क्वचिदिति चुलुक्येन्द्रसचिव ।
समुद्भूतभ्रान्तिर्नियतमवगन्तुं तव यशः-
स्ततिर्गेहे गेहे पुरि पुरि च याता दिशि दिशि ॥[1]

सोमेश्वर की वैद्यनाथ प्रशस्ति

२१२. दूसरी अपूर्व ऐतिहासिक महत्त्व की प्रशस्ति है सोमेश्वर की रचित दर्भावती की वैद्यनाथप्रशस्ति । यदि हम धवलक्क में राजा वीरधवल (पैरा ७३) के बनवाए वीरनारायणप्रसाद की नष्ट प्रशस्ति जो उसकी रचित कही जाती है की बात छोड़ ही दें । यह वैद्यनाथप्रशस्ति वैद्यनाथ महादेव के प्राचीन मंदिर के राजा वीरधवल द्वारा कराए जीर्णोद्धार की स्मृति में रची गई थी। ११६ श्लोक का यह एक लंबा काव्य है और इसमें वि. सं. १३११=सन् १२५५ ई० की तिथि दी हुई है जब कि वस्तुपाल एवं तेजपाल दोनों को ही मरे कुछ वर्ष बीत चुके थे । खेद है कि इस प्रशस्ति के दो शिला खण्ड बहुत ही बुरी प्रकार से घिस गए हैं । एक शिलाखण्ड पर तो लेख प्रायः बिलकुल सफाचट हो गया है और दूसरे में की कोई भी पंक्ति पूर्ण नहीं है । इसलिए हम कोई भी श्लोक पूर्ण रूप से नहीं पढ़ सकते हैं । फिर भी हम जान सकते हैं कि छठे श्लोक का अंश कीर्तिकौमुदी सर्ग २ श्लोक २ से और श्लोक १४ का अंश उसी सर्ग के श्लोक ६६ से बिलकुल मिलता हुआ है । श्लोक २५ का अंश सोमेश्वर की आबू-प्रशस्ति के श्लोक २७ से मिलता है । इन थोड़े से प्रशस्ति अंशों से ही यह कहा जा सकता है कि इसका अधिकांश गुजरात के राजाओं और वाघेला के माण्डलिकों और उनमें भी विशेष रूप से वीसलदेव के वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा करनेवाला है। श्लोक ४५ में वीसलदेव द्वारा धारा के राजा और दक्षिण के शासक की पराजय का वर्णन है । ८० वें श्लोक से वीसलदेव के भवन निर्माण की प्रवृत्तिया का वर्णन आरम्भ होता है । एक से अधिक शिव-मन्दिरों के निर्माण (श्लो. ८१ व ६१) का, 'मूलस्थान'[2] नामक सूर्य मन्दिर के जीर्णोद्धार (श्लो ६२ और १११)

---

१. सोमेश्वर का द्वितीय गिरनार शिलालेख, श्लोक ४ ।

२. कदाचित् यह सौराष्ट्र के थान (सं. स्थान) का सूर्य मन्दिर ही हो जिसके कि चित्ताकर्षक भग्नांश आज भी प्राप्त हैं ।

का, इत्यादि शिखर कैलाश शिखर जैसे उत्तुंग मन्दिर के निर्माण (श्लो ९३) का और जो रूप मे कामदेव के समान है उस पुरुष (वीसलदेव) द्वारा किसी अन्य 'प्राकार' के निर्माण का वर्णन किया गया है। श्लो. १०२ मे कहा गया है कि महान् यज्ञों में प्राप्त दक्षिणा से संतुष्ट एवं प्रसन्न अनरिश्रात ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित वेद-ध्वनियाँ देश में सुन पड़ती है। काव्य के अन्त्यांश (श्लो. १०६ आदि) मे सोमेश्वर प्रशस्ति का रचयिता, स्वयं के, लेखक के, स्रष्टा के और मन्दिर निर्माण मे लगे शिल्पियो और निरीक्षक अधिकारियों के सम्बन्ध मे कहता है। इस प्रशस्ति के दो श्लोक जल्हण की सूक्ति मुक्तावली (पेज ७७) में भी समावेश कर लिये गए है यह बात उनकी काव्यकीर्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि किसी प्राचीन प्रति में हमे इसकी प्रतिलिपि मिल जाए जैसा कि जयसिंह सूरि की वस्तुपालतेजपाल प्रशस्ति की और उदयप्रभ की सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी की प्रशस्ति की प्रतिलिपि हमें प्राप्त हो गई है, तो वह एक छोटी होते हुए भी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक खोज ही कहलाएगी।

गिरनार लेख मे उदयप्रभ के श्लोक और उसकी सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी

२१३. अब उदयप्रभसूरि रचित प्रशस्तियों का कुछ विचार करें। इस सम्बन्ध में पहली ही बात तो यह है कि एक गिरनार लेख (गुऐलेम, स २१२ और प्राजैलेसं, स. ४२-६) के नौ श्लोक इसी लेखक के है। परन्तु ऐसे साहित्य मे इसकी मुख्य देन तो सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी ही है। यह १७९ श्लोक की लंबी प्रशस्ति है। जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट होता है, यह वस्तुपाल के सुकृतों की परिचायक स्तुति-कथा ही है। प्रथानुसार देवों के नमस्कार के अनन्तर इसमें बहुत विस्तार के साथ चावड़ा वंश के राजाओं के शौर्य का लगा वर्णन श्लोक ९-१८ मे है। चौलुक्य वंश के राजाओं पर भी इसमें कम से कम ५० श्लोक (श्लो. १९-६९) दिए गये हैं। तदनन्तर वीरधवल और उनके पूर्वजों (श्लोक ७०-९७) की प्रशंसा की गई है। वस्तुपाल का वंशवृत्त और मंत्री एवं उसके परिवार की प्रशंसा श्लोक, ९८-१३७ मे है। श्लोक १३७-१४० में उसके शौर्य-कार्यों का वर्णन है और श्लोक १४१-१४९ में उसकी संघयात्राएँ वर्णित है। श्लोक १५०-१५७ मे नागेन्द्र गच्छ के आचार्यों की पट्टावली देने के और श्लोक १५८-६१ में विजयसेनसूरि की प्रशंसा करने के पश्चात् प्रशस्ति रचयिता ने धर्मस्थान परम्परा अर्थात् वस्तुपाल के बनाए अनेक धार्मिक और लौकिक भवनों को जो उसने आचार्य के उपदेशानुसार बनवाए थे, गिनाता है (श्लो. १६२-७७)। श्लोक १७८ मे प्रशस्ति रचयिता का नाम दिया है और

अन्तिम श्लोक में पाम्परानुसार आशीर्वचन कहा गया है। इस प्रशस्ति में ऐतिहासिक नई ऐसी बात कोई भी नहीं कही गई है जो हमें अन्य स्थानो पर नहीं मिली हो। फिर भी इसका महत्त्व इस दृष्टि से कुछ कम नहीं है कि इसमें ऐसी बाते हैं जो समर्थनकारी हैं।

स्तभतीर्थ के उपाश्रय की उदयप्रभ रचित प्रशस्ति और वस्तुपालस्तुति

२१४. स्तम्भतीर्थ में वस्तुपाल के बनाए हुए उपाश्रय की प्रशस्ति भी उदयप्रभसूरि रचित है। इसमें केवल १६ श्लोक हैं और इसके सिवा कुछ पंक्ति गद्य की भी है। इसमें निर्माता और उसके गुरु के वंशवृत्त एवं स्तुति के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। उदयप्रभ की वस्तुपाल प्रशस्ति ३३ यशोकीर्तिक गाथाओ का संग्रह है। यह किसी घटना विशेष पर या किसी सुकृत की स्मृति में रची गई हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है। वस्तुपाल की प्रशंसा में ही रचे गए प्रशंसात्मक श्लोको का यथास्थित संग्रह इसमे कर दिया गया है। ऐसा भी सम्भव हो कि ये श्लोक भिन्न-भिन्न अवसरो पर लेखक द्वारा रचे गए हो, परन्तु निश्चय रूप से कुछ भी नही यहाँ कहा जा सकता है। उदयप्रभ की प्रशस्ति में कुछ श्लोक बड़े ही सुन्दर है जिनमें से नमूने के तौर पर कुछ मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ। वस्तुपाल की वाणी की प्रशंसा में कवि कहता है—

पीयूषादपि पेशला शशधरज्योत्स्नाकलापादपि
स्वच्छा नूतनचूतमंजरिभरादप्युल्लसत्सौरभाः।
वाग्देवीमुखसामसूक्तविशदोद्गारादपि प्रांजलाः
केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदं श्रीवस्तुपालोक्तयः ॥[1]

उसके शौर्य कार्यों और दयार्द्रचित्त के वैसादृश्य पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कवि कहता है—

चेतः केतकगर्भपत्रविशदं वाचः सुधाबान्धवः
कीर्तिः कार्तिकमासमांसलशशिज्योत्स्नावदातद्युतिः।
आश्चर्यं क्षितिरक्षणक्षणविधौ श्रीवस्तुपालस्य यत्
कृष्णत्वं चरितैरपास्तदुरितैर्लोकेषु भेजे भुजः ॥[2]

संस्कृत कवियों के प्रिय श्लेषमय सुन्दर कथन द्वारा कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा मे जो कहता है वह सुनिए—

---

१. वस्तुपालस्तुति, श्लोक १। २. वही, श्लोक २।

सूरो रणेषु चरणप्रणतेषु सोमो वक्रोऽतिवक्रचरितेषु बुधोऽर्थबोधे।
नीतौ गुरुः कृतिजने कविरक्रियासु मन्दोऽपि च ग्रहमयो न हि वस्तुपालः॥[1]

गिरनार लेखों में नरचन्द्र के श्लोक और वस्तुपालप्रशस्ति

२१५. नरचन्द्रसूरि के श्लोक दो गिरनार लेखों में (गुएेलेसं, नं २०८ और प्राजैलेसं, सं. ३९-२ ; गुएेलेसं, नं. २११ और प्राजैलेसं, सं ४२-५) आते हैं। पहले लेख में ७ और दूसरे में ११ प्रशंसात्मक श्लोक हैं। नरचन्द्र-सूरि की वस्तुपाल प्रशस्ति २६ श्लोकों की है। उसके पहले श्लोक में कवि ने प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को नमस्कार किया है और दूसरे में वस्तुपाल-तेजपाल और उसके पूर्वजों का वर्णन है। शेष सारी कविता में अपने आश्रयदाता की प्रथानुसारेण स्तुति ही है। अपने आश्रयदाता के गुणों पर लेखक कहता है—

विभुता-विक्रम-विद्या-विदग्धता-वित्त-वितरण-विवेकैः।
यः सप्तभिर्विकारैः कलितोऽपि बभार न विकारम्॥[2]

वस्तुपाल के शस्त्र-चालन चातुर्य और दानशीलता की प्रशंसा में कवि कहता है—

रणे वितरणे चात्र शस्त्रैर्वस्त्रैश्च वर्षति।
अमित्रमित्रयोः सद्यो भिद्यते हृदयावनिः॥[3]

गिरनार लेख में नरेन्द्रप्रभ के श्लोक और उसकी दो वस्तुपाल-प्रशस्तियाँ

२१६. गिरनारलेख (गुएेलेसं, स. २१० और प्राजैलेस, स ४१-४) में १३ यशगीतिका श्लोक नरेन्द्रप्रभसूरि रचित हैं। उनकी लंबी वस्तुपाल प्रशस्ति १०४ श्लोकवाली ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से कुछ महत्त्व की है। प्रथम जिन और महादेव की श्लेष स्तुति के पश्चात् कवि ने चौलुक्य वंश के राजाओं की कीर्ति गाई है (श्लो २-१२) और तदनन्तर वाघेलावंश की (श्लो. १३-१७) फिर वस्तुपाल के पूर्वजों (श्लो. १८-२४) और उनके नज के गुणों के विषय में (श्लो २५-२८) कहा गया है। श्लोक २९ में कहा है कि वस्तुपाल ने धर्म में अपना मन लगा दिया है और श्लोक ३०-३१ में उनकी तीर्थयात्रा

---

१. वही श्लोक ४।

२. नरचन्द्र का द्वितीय गिरनार शिलालेख, श्लोक २।

३. वस्तुपाल प्रशस्ति, श्लोक १४।

का वर्णन है। इसके बाद श्लोक ३२-६८ में उसके बनाए अथवा जीर्णोद्धार कराए मन्दिरों, धर्मशालाओं, आदि की सूची दी गई है। श्लोक ६९-१०४ नागेन्द्र-गच्छ के आचार्यों के सम्बन्ध में है जिसका कि वस्तुपाल अनुयायी था। इन्हीं मे प्रशस्ति रचयिता और उसके गुरु का भी वर्णन है। नरेन्द्रप्रभसूरि की दूसरी ३७ श्लोको की वस्तुपाल-प्रशस्ति सारी की सारी दोनों भाइयो और राजा वीरधवल की प्रथानुकूल कीर्ति से भरी है। उसमें किसी भी ऐतिहासिक घटना का कोई उल्लेख नहीं है।

जयसिंहसूरि की वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति

२१७ जयसिंहसूरि की वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति ७७ श्लोक का कीर्ति-काव्य है जो तेजपाल के सुवर्णध्वज-दण्डो के चढ़ाने की स्मृति में रचा गया है। ये स्वर्णध्वज-दण्ड भृगुकच्छ के शकुनिविहार नामक मुनिसुव्रतस्वामी के मन्दिर में छोटी देव-कुलिकाओ पर चढ़ाए गए थे। जिन प्रशस्तियों का हमने अब तक विचार किया है उनकी तरह ही इसमे चौलुक्यो (श्लो. ४ ३२) और वाघेलो (३२-३८) का एवं दाता वस्तुपाल का (श्लो २६-५१) वंशवृक्ष दिया है और श्लोक ५२-६२ मे उसके सुकृत्यो की सूची है। श्लोक ६३ ७१ मे मन्दिर के मुख्य अधिष्ठाता, एवं इस प्रशस्ति के रचयिता जयसिंहसूरि ने तेजपाल को स्वर्णध्वज-दण्ड बनाने का उपदेश दिया था और अपने बड़े भाई वस्तुपाल से आज्ञा लेकर तेजपाल ने ध्वजदण्डों का निर्माण किया यह सब वर्णन है। शेष काव्य में आलंकारिक भाषा मे स्वर्णध्वज दण्डो, मन्दिर और दोनों मन्त्रियो पर प्रथानुमोदित आशीर्वचन है और सबसे अन्तिम श्लोक में रचयिता ने अपना नाम भी दे दिया है।

दर्भावती प्रशस्ति

६१८. अब हम उस प्रशस्ति का विचार करेंगे जिसका मूल पाठ नष्ट हो गया है, रचयिता भी जिसका अज्ञात है, परन्तु जिसकी विस्तृत सूची जिनहर्ष के वस्तुपालचरित[1] मे मिलती है। जब गोधरा के सामन्त घूघुल को बन्दी बनाकर तेजपाल लौटा तो उसने दर्भावती का गढ़ निर्माण कराया और उसमें कुछ देव मन्दिर भी बनवाए (देखो पैरा ५२)। वस्तुपाल चरित मे स्पष्ट कहा गया है कि तेजपाल ने प्रशस्ति की दो शिलाएँ वहाँ बनाए अपने जैन-मन्दिर की दीवाल मे लगवाई थीं और यह वर्णन वहाँ 'इति दर्भावतीप्रशस्तौ'

---

१. वस्तुपालचरित प्रस्ताव ३, ३६३-७९।

शब्द से समाप्त किया गया है। इससे यही अभिप्राय निकलता है कि यह सब वर्णन उक्त प्रशस्ति से ही लिया हुआ है। वस्तुपालचरित में वर्णित दर्भावती-प्रशस्ति सोमेश्वर की वैद्यनाथ-प्रशस्ति से बिलकुल ही पृथक् है, जिसका विचार पहले ही किया जा चुका है क्योंकि दोनों के विषय परस्पर एकदम भिन्न हैं। मूल प्रशस्ति का पाठ यद्यपि आज पुनर्संगठित नहीं किया जा सकता है, फिर भी वस्तुपालचरित[1] का प्रासंगिक श्लोकों का अर्थ यहाँ देना उचित है—'माण्डलिक राजाओं को साथ लेकर अश्वराज का पुत्र दर्भावती के नगर में आया, जो विदर्भ देश के पाटनगर जैसा ही सम्पन्न था (६२)। उस चतुर ने यह मालूम कर कि पल्ली के राजाओं के भय रूपी डण्डे से नगरवाली दुःखित हैं, सब गर्व भुलाकर, नगर के चारों ओर ऊँचा-ऊँचा गगनचुम्बी कोट बनवाया और उसको मूलराज और अन्य राजाओं के पुतलों से सजा दिया। उसमें विविध मार्गों की रचना थी। वह दुर्ग सज्जनों का आश्रयस्थान था। ऐसा कहिए कि आकाश में बिना सहारे भ्रमण करते हुए देवों के आराम के लिए वह था। इस तरह उसने अरक्षित पंथियों को भय से उसी तरह सर्वथा मुक्त कर दिया जिस तरह सूर्य अन्धकार को निर्मुक्त कर देता है। ऐसे लोगों का जन्म निःसन्देह मानव के हित के लिए ही होता है (६३–६६)। वहाँ उसने भगवान् पार्श्व जिन का मन्दिर बनवाया। उस पर सुवर्ण कलश सुशोभित थे। पर्वतराज कैलास के समान वह ऊँचा था। फहराती हुई झण्डियों से वह चमचमा रहा था। उसके तोरण थे। पूर्वजों की मूर्तियाँ भी उसमें थीं। वह तीनों भुवन के नेत्रों के लिए अमृताजन समान था। उसके चारों ओर १०२ मन्दिर थे। वस्तुपाल की माता श्रीकुमारदेवी की मूर्ति हाथी पर बैठी और हाथों में रौप्य-पुष्पों की माला लिए हुए प्रथम जिन की माता के समान द्वारमण्डप में सुशोभित थीं। चौलुक्य राजा के चित्त की प्रसन्नता के लिए उसने वहाँ और भी सुप्रसिद्ध स्मारक बना दिए थे (६७–७०) जैसे कि दर्भावती नगर के वैद्यनाथ मन्दिर के सभा-मण्डप में तेजपाल ने सोने के इक्कीस सुवर्णघट चढ़ाए थे (७१)। विजेताओं में प्रधान उसने वैद्यनाथ महादेव के गर्भमण्डप के सामने एक जैन मन्दिर भी बनवाया था जिसमें उसने अपने स्वामी राजा वीरधवल, उसकी प्रिय रानी, अपना, अपने परिवार के छोटे बड़े सदस्यों की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठापित कीं (७२)। उसने नौ सुवर्ण मंगलघट नौ खण्डों के उद्योतों (नभोवातायन) में रखे थे और वे तोरण

---

1. डा. हीरानन्द शास्त्री की पुस्तक 'दी रुइन्स आफ दर्भावती या डभोई' के पृ. ५ आदि से कुछ आवश्यक शुद्ध करके यहाँ लिया गया है।

के समान दीखते थे (७३) । उत्तरी और पश्चिमी अलिद के द्वारों में उसने प्रशस्ति[1] के दो प्रस्तर खण्ड उसके पुण्य कृत्यों की प्रशंसावाले रख दिए थे (७४) । स्वयम्वर नामक मीठे पानी की पैढ़ियां वाली बावड़ी बनवाकर उसने पृथ्वी को अमृत के स्वादवाली बना दिया था (७५) । वैद्यनाथ के मन्दिर के उत्तरी द्वार के सामने उसने श्वेत संगमरमर का एक ऊँचा तोरण बनवा दिया था (७६) । यहाँ उसके भाई वस्तुपाल राजमहल के सामने श्वेत संगमर्मर की सुवर्ण कलश चढ़ी हुई दुमंजली वृषमण्डपिका बनवा दी थी (७७) । कालक्षेत्र मे उरु और रेवा नदियों के संगम पर उसने अपने राजा वीरधवल के नाम का वीरेश्वर महादेव का मन्दिर भी बनवा दिया था (७८) । कुम्भेश्वर के पवित्र स्थान में उसने संन्यासियों के निवास के लिए धार्मिक क्रियाओं की सब सामग्री सहित पाँच निवास भी बनवा दिए (७९) । यह सब-वर्णन दर्भावती प्रशस्ति में है ।

२१६. वस्तुपालचरित में दी गई दर्भावती प्रशस्ति की विषय-सूची की सचाई इस बात से भी प्रमाणित होती है कि वैद्यनाथ के मन्दिर में सुवर्णघटों का प्रतिष्ठापन सुकृतसंकीर्तन (११. ३४४), सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी (श्लो १७-५७६), और नरेन्द्रप्रभसूरि की वस्तुपाल प्रशस्ति (श्लो. ४८-५०) में भी वर्णित है । राजा वीरधवल, उसकी रानी और मन्त्री के परिवार के अनेक जनों की मूर्तियों की स्थापना की भी पिछले दोनों ग्रन्थ वर्णन करते हैं । फिर मालवा के सुभटवर्मन द्वारा गुजरात पर आक्रमण के समय लूट लिए गये सुवर्ण घटों के स्थान में नए सुवर्ण घट बैठाए गये थे, इस बात में भी तीनो ग्रंथ सहमत है । खेद है

---

१. मूल पाठ इस प्रकार है—प्रशस्ती न्यस्तत्रानात्मकीर्तिमंगलपाठिके । मैंने प्रशस्ती शब्द का अर्थ जो द्विवचन में है, इस प्रकार इसलिए किया है कि श्लोक ३७९ के अन्तिम शब्द इस प्रकार हैं—इति दर्भावतीप्रशस्तौ, जिससे यह मालूम होता है कि प्रशस्ति एक ही थी, दो नहीं । प्राचीन काल में एक ही काव्य को दो शिलाओं पर उत्कीर्ण करने और उन्हें भिन्न द्वारों में या मुख्य द्वार के दोनों पक्षों में लगा देने की प्रथा थी । आज भी हम देख सकते हैं कि सोमेश्वर की वैद्यनाथ-प्रशस्ति की दो शिलाएँ दर्भावती के सुप्रख्यात हीरा भागोल के द्वार के दो पक्षों में लगी हैं । यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि जिस प्रशस्ति का ज्ञान हमें वस्तुपालचरित से होता है, वह वैद्यनाथ मन्दिर के सामने तेजपाल द्वारा बनवाए जैन मन्दिर की स्मृति में रची गई थी ।

कि दर्भावती-प्रशस्ति की मूल प्रति आज अप्राप्य है और इसलिए उसका साहित्यिक मूल्यांकन करना भी हमारे लिए असम्भव है।

वस्तुपाल और उसके पुत्र जैत्रसिंह की प्रशंसा में ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

२२०. पहले ही कहा जा चुका है कि वस्तुपाल ने स्तम्भतीर्थ, अणहिलवाड और भृगुकच्छ तीनों ही नगरों में बहुत धन व्यय करके हस्तलिखित पुस्तकों के भण्डार स्थापित किए थे (पैरा ६१)। यह एक प्राचीन परम्परा है और विशेषकर जैनों में जो ऐसे ग्रन्थभण्डार स्थापित करने अथवा उसके लिए अधिक से अधिक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाते थे वे प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्तियाँ भी संयोजित करवा देते थे (पैरा २०६) और इसलिए हम विश्वास कर सकते हैं कि वस्तुपाल स्थापित ग्रंथ-भण्डारों के ग्रन्थों में भी ऐसी प्रशस्तियाँ होनी ही चाहिए। परन्तु खेद है कि उन भण्डारों का आज कोई भी अतापता नहीं है। पाटण के तपागच्छ भण्डार में एक ताड़पत्रीय प्रति (सं. ८) श्रीचन्द्रसूरि कृत जीत-कल्प-चूर्णि व्याख्या की वि. सं. १२८४-सन् १२२८ ई० की प्राप्त है। इसमें मूल-ग्रन्थ तो १०७ वें पत्रों पर समाप्त हो गया है और उसके बाद के पत्र (जिस पर १०८ का अंक किसी पीछे के लेखक के हाथ का लिखा हुआ मालूम होता है जब कि पहले का लिखा अंक अपठनीय हो गया था) में चार श्लोक वस्तुपाल की प्रशंसा में हैं। इन चारों श्लोकों की संख्या क्रमश ३७-४० दी गई है। इनमें किसी ऐतिहासिक घटना विशेष का उल्लेख नहीं करके भी कुछ प्रशस्तियों में पाई जानेवाली प्रथानुकूल शैली में वस्तुपाल की अतिरंजित प्रशंसा की गई है[1]। ऐसा मालूम पडता है कि ४० श्लोक वाली इस ग्रन्थ की लम्बी प्रशस्ति के ही अन्तिम चार श्लोक ये हैं। १०७ वें पत्र के बाद के अनेक पत्र उस ताडपत्रीय प्रति के नष्ट हो गए ऐसा लगता है। उन्हीं पत्रों में इस प्रशस्ति के १ से ३६ श्लोक रहे होंगे। बाद के किसी अगुणदोषज्ञ पाठकों ने, इन छत्तीस श्लोकों के नाश से अपरिचित होने के कारण, इस अन्तिम पत्र पर १०८ का अङ्क यह सोचकर लिख दिया होगा कि प्रति सम्पूर्ण है और उसका कोई भी पत्र नष्ट नहीं है। जो भी हो, हम यह मान सकते हैं कि उक्त प्रति वस्तुपाल के स्थापित किए किसी ग्रन्थ-भण्डार की दुर्लभ प्रति का अवशिष्टांश है और अन्तिम पत्र पर पाए जाने वाले श्लोक उस लम्बी ग्रंथ प्रशस्ति के ही अंश हैं, जो इन ग्रंथ-भण्डारों की प्रतियों में संलग्न की गई थी। हमारा यह अनुमान इस बात से भी

---

१. इन चारों श्लोकों के लिए देखो पाभंसू, पृ. ५००।

समर्थित होता है कि उपर्युक्त ४ श्लोक वस्तुपाल के सम्बन्ध के आज उपलब्ध किसी भी काव्य में नहीं मिलते हैं, और इसलिए हमारा यह मान लेना उचित ही है कि ये श्लोक उसकी प्रशंसा की किसी स्वतन्त्र प्रशस्ति के काव्य के ही हैं। हमारा यह अनुमान करना भी उचित है कि वस्तुपाल का पुत्र जैत्रसिंह भी अनेक ग्रंथों की प्रतियाँ लिखवाने में सहायक था क्योंकि पाटण के वाड़ी पार्श्वनाथ भण्डार में एक कागज पर लिखी प्रति मौजूद है कि जिसके अन्त में १३ श्लोक की एक प्रशस्ति है[1] और उसमें चण्डप से लेकर जैत्रसिंह तक का वंशवृक्ष दिया हुआ है। यही नहीं, पर यह भी कहा हुआ है कि इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि जैत्रसिह के पुत्र प्रतापसिह के आध्यात्मिक सुख के लिए लिखी गई थी। मूल प्रति कदाचित् ताड़पत्र की होगी जिससे प्रशस्ति सहित इसकी प्रतिलिपि कागज पर उस समय की गई जब कि उक्त भण्डार के बहुत से ग्रन्थ पन्द्रहवीं शती में कागज पर नकल कर लिए गये थे ताकि पुरानी और सड़-गली ताड़पत्रीय प्रतियों के ग्रन्थ को सुरक्षित किया जा सके।

---

१. जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, पृ. ९–१०।

नवाँ अध्याय

स्तोत्र

संस्कृत साहित्य में स्तोत्र

२२१. स्तोत्र, संस्कृत साहित्य का एक सु-प्रयोजित प्रकार है और कुछ स्तोत्र तो भाव-प्रधान काव्यो के उत्कृष्टतम उदाहरण भी प्रस्तुत करते है। वास्तव में, संस्कृत साहित्य के सब रूपों मे स्तोत्र ही प्राचीनतम है क्योंकि भारत का प्राचीन धर्मग्रन्थ–ऋग्वेद स्तुतियों का संग्रह ही तो है। ये प्रार्थनाएँ अग्नि, इन्द्र, वरुण, उषस् आदि देवताओं की है। कालक्रमेण, धार्मिक विचारों और पूजा के प्रकारों में परिवर्तन होते होते, विष्णु एवं उसके विभिन्न अवतार और शिव ही प्रधान देव हो गए और उनकी स्तुतियाँ रची जाने लगीं। शक्ति की भी अनेक रूपों में पूजा होने लगी और उसकी भी स्तुतियाँ रची गईं। महाभारत और रामायण में भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न देव और देवियों की स्तुतियाँ की गई है। पुराणों व तंत्रों में भी स्तुतियों के अनेक उदाहरण मिलते है। देव और देवी के सौ या सहस्र नाम संग्रह उत्तरोत्तर बढ़ते रहे हैं। परन्तु भाव-प्रधान काव्य के एक स्वतंत्र भेद के रूप में स्तोत्र आज सर्वमान्य है। शिवमहिम्नस्तोत्र, शिवापराधक्षमापनस्तोत्र, सूर्याष्टक (मयूर का), और श्रीशंकराचार्य रचित छोटे-बड़े अनेक स्तोत्रों की अत्यन्त लोकप्रियता इस प्रकार की काव्यशैली की उपयोगिता का ज्वलंत प्रमाण है। स्तोत्र का साहित्यक रूप साम्प्रत काल तक भी भारत भर में परिपोषण किया जाता है।

सोमेश्वर का रामशतक

२२२. वस्तुपाल द्वारा पोषित साहित्यिकों की कृतियों में हमें अनेक स्तोत्र कृतियाँ भी प्राप्त हैं। उनमें अत्यन्त असाधारण कृति है सोमेश्वर का रामशतक। यह अभी तक छपा नहीं है। परन्तु हस्तलिखित मिलता है। जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात है यह राम की एक सौ-श्लोकी स्तुति है और इसमें सर्वत्र स्रग्धरा वृत्त का ही प्रयोग किया गया है। १०१ वाँ श्लोक जो प्रकृत स्तुति का अंग वास्तव में नहीं है, उपजाति वृत्त मे है और उसी में रचयिता का नाम दिया है। स्तुति में राम की प्रशंसा है और इसकी रचना मयूर के सूर्याष्टक एवं बाण के चण्डीशतक

के आदर्श पर हुई है। वे भी सौ सौ स्रग्धरा छन्दों के हैं और संस्कृत साहित्य में अत्यन्त लोकप्रिय[1] भी। रामशतक में राम की स्तुति राम के जीवन की घटनाओं का अनुसरण करती है। श्लोक १ से ६ तक राम का जन्म और बालक्रीड़ा वर्णित है और श्लोक ६ ८ में राम का भिन्न-भिन्न विद्याओ में शिक्षण। फिर विश्वामित्र के यज्ञ की सुरक्षा (श्लो. ६–११), ताडका और अन्य राक्षसो का वध (श्लो. १२-१५), अहल्योद्धार (श्लो. १६–१६), विश्वामित्र के साथ मिथिलागमन, शिवधनुष-भजन और सीता-पाणिग्रहण (श्लो. २०–३१), मिथिला से प्रत्यागमन एवं परशुराम-मिलन (श्लो. ३२-३६), दशरथ की राम-राज्याभिषेकाभिलाषा और राम का वनगमन (श्लो. ४०-५६), वनपरिभ्रमण, सीता-हरण और वानरों से भेंट (श्लो ५७–७१), सीता हनुमान भेंट, सेतुबंध निर्माण और लंका-आक्रमण (श्लो ७२-८१), राम रावण युद्ध और रावण-वध (श्लो. ८२–८५), सीता अग्नि प्रवेश, राम अयोध्या प्रत्यागमन और अन्त में राम-राज्याभिषेक (८६–१००) वर्णित है।

२२३. इस स्तोत्र में हम सोमेश्वर को अत्यन्त क्षमताशील कवि भी पाते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह रामशतक सूर्याष्टक और चण्डीशतक के आदर्श पर रचित है। फिर भी इसमें उनकी शाब्दिक नकल कहीं भी नहीं है। हम यही कह सकते है कि कवि को इनकी लोकप्रियता से प्रेरणा मिली थी। यह रामशतक पीछे के स्तोत्रो में पाई जानेवाली कृत्रिमता से बिलकुल मुक्त है। इतना ही नहीं, अपितु इसमे उसके महाकाव्य कीर्तिकौमुदी के समान ही प्रसादगुण भी विद्यमान हैं। ऐसे भाव-प्रधान काव्यों के लिए आवश्यक हार्दिक भक्तिभाव और सहृदयता भी इसमें भरपूर है। ये १०० स्रग्धरा छंद साक्षी देते हैं कि कवि लम्बे वृत्तों की रचना मे भी परम सिद्ध-हस्त है। यह एक स्तोत्र ही सोमेश्वर को स्तोत्र साहित्य मे सम्माननीय स्थान दिलाने को पर्याप्त है। मैं उससे यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। राम के बाल्यजीवन का कवि द्वारा वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> पर्यङ्के पङ्कजन्मांकिततलविचलत्पाणिपादप्रवालः
> खेलन् बालः प्रमोदं प्रथयतु मिथिलानाथपुत्रीपतिर्वः।

---

१. काव्यमाला, भाग ७ में प्रकाशित जम्बू गुरु का जिनशतक भी १०० स्रग्धरा छन्दों का है और उसमें भी उसी परम्परा का पालन किया गया प्रतीत होता है।

पित्रोः पोतप्रतीतिः समभवदुचिता पुंसि यस्मिन् पुराणे
पारं संसारवार्द्धेर्न हि परमपरस्तं विना नेतुमीशः ॥ श्लोक २ ॥

राम को भिन्न-भिन्न व्यक्ति कैसी दृष्टि से देखते थे, कवि का यह वर्णन पढ़िए—

पुण्यानां प्राक्तनानां फलमिति जनकेनान्तरात्मेति मात्रा
साक्षादृक्षीयमाणप्रणानिधिरिति भ्रातृभिश्च त्रिभिर्यः ।
नीतिमूर्त्तीत्यमात्यैः परपुरुष इति ज्ञानिभिः ज्ञायमानः
प्राप प्रौढिं क्रमेण दृढयतु नितरां राघवः सः श्रियं वः ॥श्लोक ६॥

अरण्य में प्रवेश करने पर वहाँ के वसन्तकालीन सौन्दर्य ने राम का कैसा स्वागत किया—

सन्दोहे पादपानां विकिरति कुसुमस्तोममुच्चैः पिकानां
गीते नृत्य श्रितासु व्रततिषु मरुता कीचकेषु ध्वनत्सु ।
संगीतं काननेन प्रथितमिव मुदा यत्र नाथे त्रयाणां
लोकानामभ्युपेते स भवदुःखभयात् पातु पीताम्बरो वः ॥४५॥

राम की माया देखिए—रावण ने मुक्ति पाई क्योंकि राम द्वारा उसका निधन हुआ। परन्तु जीवितावस्था में उसने नरक का दुःख सहा क्योंकि उसकी आँखों के सामने ही सब कुटुंबी मर रहे थे—

तस्माद् वः सर्वसिद्धिर्भवतु भगवतो भूरिमायाप्रपञ्चः
पंचत्वं प्राप्य यस्मादगमदमरतां राक्षसः सो पि सम्यक् ।
किन्तु श्रीकान्तकान्ताहठहरणमहापातकात्तेन काम-
व्यामोहान्धेन बन्धुक्षयनिरयरुजः सेहिरे जीवतेव ॥६२॥

जैन साहित्य में स्तोत्र

२२४. अत्यन्त प्राचीन काल से ही जैनी भी भावप्रवण काव्यों के क्षेत्र में अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों के साथ स्पर्धा वैसी ही करते रहे हैं जैसी कि साहित्यिक अन्य शैलियों की कृतियों में। जैन साहित्य में तीर्थंकरों एवं अन्य देव-देवियों की स्तुति एवं दार्शनिक स्तोत्र, संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में अगणित प्रस्तुत हैं। कुछ तो धर्माराधना के लिए रचे गए हैं तो अनेक ऐसे भी हैं कि जिनकी भावप्रवणता प्रशंसनीय है। इनमें सबसे प्राचीन स्तोत्र है पार्श्वनाथ की प्रशंसा में ५ गाथा का उवसग्गहर-स्तोत्र जिसके रचयिता महावीर निर्वाण पश्चात् की दूसरी शती में होनेवाले भद्रबाहु, कुछ विद्वानों द्वारा कहे जाते हैं[1]।

---

1. विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४२१।

मुनि श्रीपुण्यविजयजी के अनुसार यह भद्रबाहु अनेक जैनसूत्रों पर नियुक्ति का रचयिता ही है, परन्तु छेदसूत्रकार भद्रबाहु से भिन्न है और यह ईसा की ६ठी शदी के प्रथमार्ध में हुआ माना जाता है (देखो महावीर जैन विद्यालय रजतमहोत्सव ग्रन्थ, पृ १८५-२०१) । अन्य प्राचीन एवं सुप्रसिद्ध जैन स्तोत्रों में मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र[1], सिद्धसेन दिवाकर का कल्याणमन्दिर स्तोत्र और समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्र गिनाए जा सकते हैं[2] । उनके पश्चात् १९वीं शती तक जैनाचार्य जिनमें से एक हेमचन्द्र भी हैं, और श्रावक सस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और अनेक प्रान्तीय बोलियो मे स्तोत्र रचते आए है और इन स्तोत्रों के कुछ संग्रह जैसे कि काव्यमाला भाग ७, जैन स्तोत्र सदोह और जैन स्तोत्र समुच्चय प्रकाशित भी हो चुके है ।

वस्तुपाल रचित स्तोत्र

२२५ श्रावकों द्वारा रचित स्तोत्रों में वस्तुपाल के स्तोत्र न केवल इसीलिए विशेषरूपेण द्रष्टव्य है कि वे एक ऐतिहासिक बड़े व्यक्ति द्वारा रचित हैं, अपितु इसलिए भी कि साहित्य-गुणों से भी वे विहीन नही है । वस्तुपाल के रचित चार स्तोत्र है । (१) पहला स्तोत्र आदिनाथ स्तोत्र १२ गाथाओं का पहले तीर्थङ्कर की स्तुति है । इसका नाम है 'मनोरथमय' क्योंकि उसमें रचयिता ने धार्मिक और दार्शनिक विषयो की अपनी उत्कट इच्छाओ का

सूत्रकृतांग में भी वीरत्थय (सं. वीरस्तव) नामक एक अध्ययन है जो, वास्तव में, महावीर की स्तुति ही हैं ।

१. कुछ गुर्वावलियों के अनुसार, मानतुंग तीसरी सदी ईसवी में हुए थे । दूसरी परम्परा उन्हें ५ वीं, ७ वीं, ८ वीं या ९ वीं सदी ईसवी का भी बत ती है । (देखो, वही, पृ ५४९) ।

२. सिद्धसेन दिवाकर का समय कुछ पहली में, कुछ पाँचवीं और कुछ सातवीं में मानते हैं । देखो वही, पृ० ४७७ तथा 'सन्मति प्रकरण प्रस्तावना पृ० ३५, ४३, विक्रम वोल्यूम २१३-२८०; समन्तभद्र के समय की चर्चा के लिये देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना ३०-३२ । समन्तभद्र ७ वी सदी ईसवीं के बाद के नही हैं । उनके काल के लिएदेखो महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्तावना. पृ. ३०-३२ ।

व्यक्त किया है। अन्तिम श्लोक में रचयिता ने अपने को 'गुर्जरचक्रवर्तीसचिव' कहा है। (२) दूसरा नेमिस्तव नामक १० गाथाओं की नेमिनाथ की स्तुति है। प्रकृत स्तुति तो आठ गाथाओं की ही है क्योंकि अन्तिम दो गाथाओं में रचयिता ने अपना परिचय दिया है। यहाँ (श्लो ६) रचयिता अपने को 'शारदाधर्म-सूनु' अर्थात् सरस्वती का धर्मपुत्र कहता है। (३) तीसरा अम्बिका स्तोत्र १० गाथाओं में अम्बिकादेवी की स्तुति का है जो नेमिनाथ की शासनदेवी और उस प्राग्वाट जाति की जिसका वस्तुपाल था, कुलदेवी है। यह भी अष्टक है क्योंकि इसके नवें श्लोक में भक्त के आशीर्वाद की प्रार्थना है और १० वें में रचयिता का नाम सूचित किया गया है। इसमें अम्बिका के भाग्यवान, हिमालय में जन्मी और हेमवती (श्लो. १), कुष्माण्डी (श्लो. २, ३ व ४) पुरुषोत्तम द्वारा पूज्य (श्लो ६) और सरस्वती (श्लो ६) भी कहा गया है। यह बताता है कि उत्तरकालीन जैन देव-देवियों में जैनत्व और ब्राह्मणत्व जटिल रूप में मिल गए थे। (४) चौथा है आराधना स्तोत्र जो १० श्लोक का एक भक्ति-काव्य है जिसमें संसार की शून्यता और धर्म की यथार्थता का वर्णन है। उनका पहला श्लोक (न कृतं सुकृतं किंचित्०) प्रबन्ध चिन्तामणि में (श्लो. २३४), प्रबंधकोश (श्लो ३३७) और पुरातन-प्रबंध-संग्रह (श्लो. २०२) में भी मिलता है। इनमें यह वस्तुपाल द्वारा उस समय कहलाया गया है जब कि वह अन्तिम शैया पर था (देखो पैरा ६३)। प्रबन्ध कदाचित् ठीक ही कहते हैं क्योंकि इस अन्तिम श्लोक में रचयिता अनशन करने का अपना निश्चय कहता है और इस प्रकार श्रद्धाशील जैन साधुओं की तरह ही संथारा करके मृत्यु चाहता है।

२२६ यदि नरनारायणानन्द का वस्तुपाल एक ऐसा अच्छा कवि है कि जिसने महाकाव्य जैसा प्रयत्न किया तो इन स्तुतियों का वस्तुपाल एक अच्छा भावप्रवण कवि भी है। स्तुतियाँ सब भक्ति की उष्मा से सराबोर हैं और साथ ही वे रचयिता का साहित्यक शैली पर दाक्षिण्य भी प्रकट करती हैं। इनके थोड़े से उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होंगे। आदिनाथ स्तोत्र में अपनी आकांक्षाओं को किस प्रचण्डता से कवि व्यक्त करता है सो देखिए—

> संसारव्यवहारतो रतिमतिव्यावर्त्य कर्त्तव्यता-
> वार्तामप्यपहाय चिन्मयतया त्रैलोक्यमालोकयन्।
> श्रीशत्रुञ्जयशैलगह्वरगुहामध्ये निबद्धस्थितिः
> श्रीनाभेय कदा लभेय गलितज्ञेयाभिमानं मनः ॥४॥

आस्यं कस्य न वीक्षितं क्व न कृता सेवा न के वा स्तुता।
तृष्णापूरपराहतेन विहिता केषां च नाभ्यर्थना।
तत् त्रातर विमलाद्रिनन्दनवनीकल्पैककल्पद्रुमः
त्वामासाद्य कदा कदर्थनमिदं भूयोऽपि नाहं सहे ॥६॥[१]

अब देखिए नेमिनाथ स्तुति में प्रशंसा का कीर्तन—

जयत्यसमसंयमः शमितमन्मथप्रभावो
भवोदधिमज्ञातरिदुरितदावगाथोधरः।
जपस्तपनपूर्वदिक्कलुषकर्मवल्लीगजः
समुद्रविजयांगजस्त्रिभुवनैकचूडामणिः ॥१॥

नरचन्द्र का सर्वजिन साधारण स्तवन

२२७. नरचन्द्र का सर्व-जिन-साधारण-स्तवन मालिनी वृत्त के ११ श्लोक का एक स्तोत्र है। जैसा कि इस स्तोत्र के नाम से ही स्पष्ट है यह किसी एक जिन का स्तोत्र नहीं है। अपितु ऐसा है कि उसमें सभी जिनों का कीर्तन है। इस स्तोत्र में कोई द्रष्टव्य गुण नहीं है। प्रत्येक श्लोक का प्रत्येक पद एक रुचिर अनुप्रास से प्रारम्भ होता है जैसा कि—

हरसि हरसिताभिः सूत्रितज्ञानलक्ष्म्या
नयन नयनभाभिस्त्रातरज्ञानपंकम्।
तमसि तमसितिम्ना लोकमाक्रान्तविन्दुः
करनिकरनिपातैः किं न शुभ्रीकरोति ॥७॥

---

१. यह श्लोक प्रबन्धकोश (श्लो. २११) और पुरातन प्रबन्ध संग्रह (श्लो. १७२) में भी है। यह द्रष्टव्य है कि इन दोनों में इसे वस्तुपाल रचित ठीक ही कहा गया है।

दसवाँ अध्याय

साहित्य संग्रह

संस्कृत साहित्य में दो प्रकार का संग्रह

२२८. भिन्न भिन्न विषयों की कविताओं या निबंधों के संग्रहों को अंगरेजी में एन्थोलोजी कहा जाता है। ये एक ही लेखक की रचना भी हो सकते हैं जैसे कि अमितगति (९९४ ई०) का सुभाषितरत्नसंदोह है या पूर्वाचार्यों से चयन जैसा कि दसवीं सदी के अन्त का कविन्द्रवचनसमुच्चय और उसी प्रकार के बाद के चयनसंग्रह हैं। पिछली प्रकार के संग्रहों में कभी २ प्रत्येक श्लोक के साथ उसके रचयिता का नाम भी दिया हुआ होता है और इसलिए वे साहित्यिक इतिहास के संकलन में उपयोगी होते है हालाँकि बहुतों के विषय में समय निर्णय का कोई भी सूत्र वहाँ नहीं मिलता है। परन्तु इस अध्याय में तो हम पहली प्रकार के संग्रहों का ही विचार करेंगे अर्थात् एक ही लेखक के वचनों के। वे हैं सोमेश्वर का कर्णामृतप्रपा और नरेन्द्रप्रभसूरि के विवेकपादप और विवेककलिका।

सोमेश्वर का कर्णामृतप्रपा

२२९. कर्णामृतप्रपा सोमेश्वर के धार्मिक, भक्ति और उपदेश सम्बन्धी मुक्तकों का संग्रह है और भिन्न-भिन्न प्रकार के इसमें २१७ श्लोक हैं। यह ग्रन्थ अभी तक अमुद्रित हैं। हस्तलिखित मिलता है। उसके कुछ श्लोक जैसा कि आगे के पैरा में बताया जायगा, तो सोमेश्वर के अन्य ग्रन्थों में और अन्य किसी में भी नहीं मिलते है। हो सकता है कि ये लेखक की किसी ऐसी कृतिका के ही अंश हो जो नष्ट हो गई और आज अप्राप्य है, अथवा वे इसी संग्रह के लिए विशेष रूप से रचे गये भी हो सकते हैं। हमें यह पिछली बात ही अधिक सम्भव लगती है। प्रशस्ति में ग्रन्थ को सुभाषितावलि या सुभाषितों का संग्रह ही कहा गया है[1]। रचयिता का उद्देश्य मुख्यतया धार्मिक और उपदेशक है, यह बात मंगलाचरण से ही स्पष्ट हो जाती है जिसके ६ श्लोक हैं। लेखक ने कृष्ण और

---

१. इति श्रीठक्कुरसोमेश्वरविरचिता कर्णामृतप्रपा सुभाषितावली सम्पूर्णा।

शिव दोनो को ही अपने कर्मों के नाश के लिए स्मरण किया है। उसके पश्चात् वह गंगा को नमस्कार करता है और तदनन्तर तीनों वेदों को जो उसके मुख में निवास करते है (श्लो. ५)। सातवे श्लोक में वह कहता है कि उसके इस ग्रन्थ का ध्येय साधुबोध है। सारा ग्रन्थ चौदह विभागो में विभक्त किया गया है और प्रत्येक विभाग में एक ही विषय है जैसे कि लक्ष्मी (श्लो. १०–१६), आकांक्षा (श्लो २०–२५), क्रोध (श्लो. २६), लोभ (श्लो. २७), कलि स्वरूप (श्लो. २८–३६), कुराजा निन्दा (श्लो ४०–५६), दुर्जन (श्लो. ५७–६५), पण्डित (श्लो. ६६–७०), भाग्य (श्लो. ७१–७६); सांसारिक विषयो की उपेक्षा (श्लो. ८०–१०८); इनके अतिरिक्त प्रकीर्णक (श्लो. ११०–४५), जिनमें कितनी ही अन्योक्तियाँ हैं, निवृत्ति पर (श्लो १४६–६२), उपदेशक (श्लो. १६३–६६) और सबसे अन्त में कृष्ण स्तुति पर (श्लो. १६६–२१६) श्लोक हैं और इन्हीं कृष्ण-स्तुति के श्लोकों में शिवस्तुति के भी कुछ हैं। सबसे अन्त का श्लोक कवि सम्बन्धी है।

२३०. कर्णामृतप्रपा का १०६ वाँ श्लोक गुजरात के पाटनगर अणहिलवाड़ की दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत करता है और वह कीर्तिकौमुदी (२.१०४) में भी पाया जाता है, यथा—मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा०। 'सिद्धेशप्रमुखैः पुरा परिहृतं०' श्लोक १०८ वाँ में भी उसी का विस्तृकरण है परन्तु यह लेखक की किसी भी ज्ञात रचना में नहीं मिलता है। अन्योक्तियो में श्लोक १२४ 'मासान् मांसलपाटलापरिमल०' प्रबन्धकोश (श्लो० ३२६) और विविधतीर्थ-कल्प पृ० ८० में मिलता है। इन दोनों ग्रन्थो में यह श्लोक सोमेश्वर के नाम से ही दिया है। श्लोक० १०६ व १०७ 'तिष्ठत्येव तवान्तिके० और तानेव स्तुमहे महेश०' स्वर्गीय राजा सिद्धराज जयसिंह की स्मृति में हैं। श्लोक १७७–६६ शंकराचार्य के चर्पटमंजरिका स्तोत्र से प्रभावित होकर रचे गये प्रतीत होते है जैसा कि उनकी शैली और छंद रचना से स्पष्ट है। उदाहरण के लिए देखिए—

> विरतं तदखिलमपि परिगलितं प्रादुर्भूतं शिरसि च पलितम्।
> तदपि न हृदयं विषयावितृप्तं संसेवितुमभिलष्यति कृष्णम् ॥१७७॥
> इयमपि दशनश्रेणी पतिता सा च समाप्ता जगदधिपतिता
> तज्जगदाश्रयमाश्रय देवं हृदय विरंस्यसि दुःखादेवम् ॥१७८॥
> सत्पात्रेषु न दत्तं दानं मन्ये तत्तव दौस्थ्यनिदानम्।
> प्रणतः कश्चिदपि न स गोविन्दस्तदयं प्रहरति कालपुलिन्दः ॥१७६॥

ये चर्पटमंजरिका के निम्न श्लोकों से तुलनीय हैं—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥६॥
गेयं गीतानामसहस्र ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्त्रम् ।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥१३॥

यद्यपि सोमेश्वर ने ये २० श्लोक अपने इस संग्रह के एक भाग में दिये हैं, परन्तु वे तो एक स्वतंत्र उपदेशी-दार्शनिक काव्य रूप ही है और इसीलिए विचारणीय भी।

२३ यदि कीर्तिकौमुदी की रचना सोमेश्वर की महाकाव्य शैली की सफलता है तो उसका यह कर्णामृतप्रपा मुक्तकों की रचना में दक्षता प्रमाणित करता है। यह द्रष्टव्य है कि लेखक सारे ग्रन्थ में एक समान ही काव्य-स्तर निवाह पाया है और कर्णामृतप्रपा के अनेक श्लोक नैतिक और औपदेशिक कविता के उत्कृष्टतम उदाहरण स्वरूप उद्धृत किए जा सकते हैं। रचना रीति बहुत सादी और जोरदार है। ऐसा मालूम पडता है कि लेखक धार्मिक उद्देश्य से ही प्रेरित है। मैं यहाँ कुछ श्लोक उद्धृत करूँगा। प्रारम्भ में लेखक अपने मुख में निवास करनेवाले तीनों वेदों को जो उस जैसे अज्ञानन्धों के लिए तीन कड़वी बूटियों से तैयार की हुई औषधि के समान हैं, स्तुति करता है—

विषयरसनिरन्तरानुपानप्रकुपितमोहकफोपगुम्फितात्मा।
त्रिकटुकगुटिकामिव त्रिवेदीं वदनगतामहमन्वहं नमामि ॥५॥

एक अन्य स्थल पर वह धीर की प्रशंसा इस प्रकार करता है—

कुरुतां विधिर्विरुद्धं तत्कृतमनुमोदतां च पिशुनजनः।
न मनागपि धीरमनाः कुप्यात तस्मै च तस्मै च ॥७८॥

विद्या से साधारणतया विमुख धनिकों पर कटाक्ष करते हुए वह कहता है—

धत्ते व्याकरणं न कोऽपि कवितां कुत्रापि नार्थत्यसौ
तर्कं मर्कटवन्न कोऽपि निकटीकर्तुं कदापीच्छति।
वेदादुद्विजते जनस्तदपरं नैवाल्पमप्यस्ति मे
भ्रातर्जल्प पणेन केन तदहं वित्तं धनिभ्यो लभे ॥६८॥

एकान्त स्थान में धर्मध्यान करने की अपनी हार्दिक आकांक्षा प्रकट करते हुए कहता है—

नगोपान्ते कान्ते क्वचिदपि निकुंजे श्रुतिजपै-
रुपेन्द्रध्यानैर्वा सकलमपि कालं गमयतः।
हिमाकारं हारि त्रिदशतटिनीवारि पिबतः
कदा कर्न्तर्वृत्तिर्मम शमरतेरोह (? स्त्र) भविता ॥१५२॥

अब लेखक दामोदर के चरणों की पूजन सभी दशाओं में करने का अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करता है, वह देखिए—

स्वयं श्रीरायातु प्रकृतिचपला यातु यदि वा
शिवाः कश्चिद् वाचो वदतु यदि वा वक्तु विरसाः ।
तथाप्येते भ्रातर्न खलु विलसामो न च वयं
विषीदामो दामोदरप्रचरणचर्यासु रसिकाः ॥१५६॥

अज्ञानियो को, मुर्खों को स्पष्ट शब्दों में हित शिक्षा देते हुए कहता है—

चित्तं दमय मा कूर्चं वृत्तं संस्कुरु मा वपुः ।
गीतां च शृणु मा गीतं पुरुषं पश्य मा स्त्रियम् ।१६४॥

अन्त में वह प्रार्थना करता है कि हे दिव्य पिता ! भवस्थिति से मेरी रक्षा करो—

त्वमसि न तथा तात ध्यातः प्रमादितया मया
फलमभिमतं निःशङ्कस्त्वां यथाहमिहार्पये ।
तदपि करुणात्मानं मत्वा भवन्तमुपाश्रित
स्तदवतु जवान्मामेतस्माद् भवाभिभवाद् भवान् ॥२१६॥

यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि इस संग्रह के कुछ विभागों में नीतिशतक और वैराग्यशतक का प्रभाव झलकता है हालांकि लेखक के लिए यह गौरव की ही बात है कि वह प्रभाव शब्दों में नहीं; अपितु विषय विवेचन और शैली में ही दीख पड़ा है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि सोमेश्वर के समान उत्तरकालीन कवि भर्तृहरि जैसे महान पूर्वज से प्रेरणा प्राप्त करे।

नरेन्द्रप्रभ का विवेकपादप और विवेककलिका

२३२. विवेकपादप और विवेककलिका नरेन्द्रप्रभसूरि रचित जैनधार्मिक और जैनदार्शनिक विषयों की कविताओं के दो संग्रह ग्रन्थ हैं। खेद है कि एक मात्र ताड़पत्रीय प्रति (पाटण के संघवी पाड़ा भण्डार के अपूर्ण ग्रन्थ विभाग सूची सं० ५२) जिसमें ये दोनों ही संग्रह पाए जाते हैं, खण्डित है और इसलिए सम्पूर्ण ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है। विवेकपादप के अंन्तिम पत्र पर के अंक से जान पड़ता है कि पूर्ण ग्रन्थ में कुल ४२१ श्लोक होना चाहिए परन्तु उपलब्ध पत्रों से आज हमें उसके केवल २०६ श्लोक ही प्राप्त हैं। इसी प्रकार विवेककलिका में सकल ११० श्लोक होना चाहिए, परन्तु हस्तलिखित प्रति में उनमें से केवल ६६ ही पाए जाते हैं। पहले ग्रन्थ का उपलब्धांश सब अनुष्टुप

छन्द में है। इसके प्रशस्ति के दो श्लोक ही भिन्न छन्द में है, एक शार्दूलविक्रीडित और दूसरा वसन्ततिलका में है। पक्षान्तर में दूसरा ग्रन्थ भिन्न-भिन्न वृत्तों का है। यद्यपि लेखक दोनों ही ग्रन्थों को जैनधार्मिक ही बनाना चाहता परन्तु उनमें कितने ही श्लोक साधारण शील, सदाचार और मानवीय गुणों के से ही हैं। नरेन्द्रप्रभ की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से कर्णामृतप्रपा के साथ तुलनीय नहीं कही जा सकती है, फिर भी उसके श्लोक सरल और स्पर्शी है। उदाहरण स्वरूप मानवी जीवन में अनुकम्पा कितनी अमूल्य है, उस पर उसका कथन देखिये—

दयादयितया शून्ये मनोलीलागृहे नृणाम्।
दानादिदूताहुतोऽपि धर्मोऽय नावतिष्ठते ॥

—विवेकपादप, श्लोक २४।

अपने गुरु की स्तुति में वह कहता है—

दिनं न तपनं विना न शशिनं विना कौमुदी
श्रियो न सुकृतं विना न जागती विना विक्रमम्।
कुलं न तनयान्विना न समतां विना निर्वृति-
र्गुरूंश्च न विना नृणां भवति धर्मतत्त्वश्रुतिः ॥

—विवेककलिका, श्लोक १२।

उसने सत्य बोलने पर कितने ही उत्तम श्लोक कहे हैं जिनमें से एक यहाँ देखिए—

विवेकस्य प्राणाः श्रुतरसरहस्यं शुभधियः
प्रकारः प्राकारः सुचरितपुरस्योन्नततरः।
गुणानां जीवातु' प्रशमदमसन्तोषनिकषः
सुखश्रीपल्ल्यङ्को वचनमनलीकं सुकृतिनाम् ॥

—विवेककलिका, श्लोक ३६।

वह ज्ञान को श्रद्धाजलि इस प्रकार भेंट करता है मानो वही ईश्वर है—

किं कृत्यं किमकृत्यमेव किमुपादेयं च हेयं च किं
देवः कश्च गुरुश्च कः किमथवा तत्त्वं कुतत्त्वं च किम्।
संसारश्च क एव मुक्तिरपि केत्येव यतः सर्वतो
निर्णीयेत विवेकिभिर्भगवते ज्ञानाय तस्मै नमः ॥

—विवेककलिका, श्लोक ८०।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

प्रबन्ध

प्रबन्ध साहित्य का एक प्रकार और इतिहास का साधन

२३३. गुजरात और मालवा का प्रबन्ध एक विशिष्ट साहित्य है और इसको जैन लेखकों ने विशेष रूप से पोषित किया है। प्रबन्ध उस ऐतिहासिक कथानक को कहा जाता है जो सरल संस्कृत गद्य और कभी-कभी पद्य में भी लिखा जाता है। मेरुतुंग की प्रबन्धचिंतामणि (१३०५ ई०), राजशेखरसूरि का प्रबन्धकोष (१३४९ ई०), जिनप्रभसूरि का विविधतीर्थकल्प (१३३३ ई० में सम्पूर्ण हुआ), और बल्लाल का भोजप्रबन्ध (लगभग १६ वी सदी ई०) गद्य प्रबन्धों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पक्षान्तर में प्रभाचन्द्रसूरि का प्रभावकचरित्र (१२७७ ई०), पद्यप्रबन्धों का संग्रह ग्रन्थ है। प्रबन्धकोश के रचयिता राजशेखरसूरि ने अपने ग्रन्थ[1] की प्रस्तावना में चरित्र और प्रबन्ध का विभेद समझाने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार तीर्थंकरों, चक्रवर्तियो या जैन पुराण के राजाओं, प्राचीन राजाओं और आर्यरक्षितसूरि कि जिनका स्वर्गवास महावीर निर्वाण पश्चात् ५५७ वर्ष या ३० ई० मे हुआ था, तकके जैनाचार्यो के जीवन चरित्रों को चरित्र-ग्रन्थ कहा जाता है। आर्यरक्षितसूरि के बाद होनेवाले आचार्यों और गृहस्थों के जीवनचरितों को राजशेखरसूरि ने 'प्रबन्ध' नाम दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि राजशेखरसूरि की इस मान्यताका कोई प्राचीन आधार है या यह विभेद उनका अपना ही किया हुआ है। जो कुछ भी हो, इस प्रकार की नाम-पद्धति का विवेक कृतियो में सदा ही बराबर पालन नहीं हुआ है क्योंकि कुमारपाल, वस्तुपाल, जगड्ड आदि पुरुष जो १२ वीं और १३ वीं सदी में ही हुए थे, उनकी जीवनियो को भी चरित्र कहा गया है जैसा कि जिनमण्डल का (१२३५–३६ ई० कुमारपालचरित्र), जिनहर्ष का वस्तुपालचरित्र (१४४१ ई०) और सर्वानन्द का जगडूचरित्र (१४ वीं सदीका)। प्रबन्धो के विषय यद्यपि ऐतिहासिक व्यक्ति ही हैं, फिर भी उनके लिखे जाने का ध्येय था 'धर्म-श्रवण के लिए

---

१. प्रको, पृ. १।

एकत्र हुई समाजों को धर्मोपदेश देना, जैनधर्म की शक्ति और महानता में विश्वास दृढ़ कराना और साधुओं को धर्मोपदेश के लिए उचित सामग्री प्रदान करना अथवा जब कि प्रबन्ध का विषय बिलकुल सांसारिक हो तो श्रोताओं का रुचिर चित्तविनोद कराना।[1] इसलिए प्रबन्धों को वास्तविक इतिहास या जीवन-चरित ही नहीं समझना चाहिए, अपितु ऐसी सामग्री का इतिहास रचना में विचारपूर्वक उपयोग किया जा सकता है।

जिनभद्र की प्रबन्धावली

२३४. यहाँ हम जिनभद्र की प्रबन्धावली का सबसे पहले विचार करेंगे जो वस्तुपाल के जीवनकाल में ही उसके पुत्र जैत्रसिंह (पैरा ११७) के आदेश से रची गई थी। यह आज तक के उपलब्ध प्रबन्धों में प्राचीनतम है। इसकी एक-मात्र उपलब्ध प्रति में ४० गद्य प्रबन्ध हैं जिनमें से अधिकांश गुजरात, राजस्थान और मालवा से सम्बन्धित ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं पर हैं और थोड़े से लोक-कथाओं को लेकर लिखे गए हैं। जिस रूप में हमें यह प्राप्त हुआ है, वह पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। उसके पाठ में कुछ प्रक्षेप भी मालूम पड़ते हैं क्योंकि कुछ प्रबन्ध ऐसी घटनाओं पर भी हैं जो वस्तुपाल की मृत्यूपरान्त घटी थीं। फिर एक प्रबन्ध अर्थात् वल्लभी-भंग प्रबन्ध तो अक्षरशः प्रबन्ध-चिंतामणि से नकल ही कर लिया गया है[2]। उसके दो प्रबन्ध याने पादलिप्ता-चार्य प्रबन्ध एवं रत्नश्रावक प्रबन्ध का तो प्रबन्धकोश[3] में भी उपयोग कर लिया गया है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि ये अंश इस ग्रन्थ में किसी पीछे के लेखक याने प्रतिलिपिकार द्वारा लिखे या प्रक्षिप्त कर दिए गए हैं क्योंकि इसकी रचना शैली बड़ी सरल और सीधी है जैसा कि संस्कृत के प्राथमिक अध्येता के लिए उपयुक्त है। पक्षान्तर में प्रबन्धकोश की शैली उन्नत और सुसंस्कृत है। यह बात बताती है कि प्रबन्धकोश-रचयिता ने जिनभद्र की प्रबन्धावली से ही ये दोनों अध्याय अपने ग्रन्थ में ले लिए हैं और उनमें कुछ शैली का एवन् भाषा का सुधार कर दिया है। मोटामोटी यह कहा जा सकता है कि उत्तरकालीन प्रबन्ध-ग्रन्थ अपने कुछ विषयों के लिए इस प्रबन्धावली के ऋणि हैं। यही कारण है कि मुनि जिनविजयजी ने इसे भी अपने ग्रन्थ 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह में' समाविष्ट कर लिया है जो कि प्रबन्धचिंतामणि के सहायक ग्रन्थ के रूप में

---

१ ब्यूलर, हेमचन्द्राचार्य की जीवनी, पृ. ३।

२. पुप्रसं, प्रस्ता, पृ. ८।　　　　　३. वही, पृ. ७।

प्रकाशित किया गया है। यह द्रष्टव्य है कि प्रबन्धावली के पृथवीराज प्रबन्ध में चार अपभ्रंश कविताएँ उद्धृत की गई हैं जिनमें से तीन कुछ कुछ भ्रष्ट रूप में दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् के मित्र एवं समकालिक चन्द वरदाई के तथाकथित पृथवीराज-रासो में भी पाई जाती हैं। इन उद्धृत कवित्तों से यह प्रमाणित होता है कि प्रकाशित पृथवीराज रासो सम्पूर्णतया ही पीछे की कृति नही है जैसा कि कुछ पण्डितों का विश्वास है। परन्तु प्रकाशित रासो में बहुत प्राचीन बीज बिन्दु भी हैं जो कम से कम १२३४ ई० के भी पहले के हैं जब कि यह जिनभद्र का ग्रन्थ रचा गया था[1]।

२३५. इस प्रबन्धावली का एक विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व है। यह उस साहित्यिक माध्यम की शैली का उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसमें संस्कृत को लोकभाषा का रूप दिया गया था। इसने संस्कृत के ज्ञान को लोकप्रिय बनाया और कम से कम गुजरात देश के वैश्य वर्ग में तो ऐसी कृतियों ने संस्कृत के अधिक प्रौढ़ अध्ययन को प्रस्तुत किया। इस प्रकार प्रबन्धावली की भाषा न केवल प्राकृत के प्रयोगों से ही ओतप्रोत है अपितु तात्कालिक क्षेत्रीय भाषा के शब्दों से भी, और वह भी इतना कि जिसे प्राकृतों, और प्राचीन एवं अर्वाचीन गुजराती भाषा का ज्ञान नही है, वह उनके कितने ही शब्दो एवं वाक्यो व भावों को बराबर समझ ही नही सकता है। गुजरात के जैनो के लिखे कुछ अन्य ग्रन्थो और प्रबन्धो में भी ऐसे शब्दादि पाए जाते हैं, जिनका प्रचार भारत के अन्य भागो में साधारणतया नही है। बात यह है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतवर्ष में संस्कृत पुरोहितों और पण्डितों की ही भाषा नही थी अपितु वह राजनय और राजदरबार की भाषा भी थी। अभी कुछ ही समय पहले तक वह बोलचाल की भी भाषा रही थी। गुजरात में मुसलमानों के राज-स्थापन के पश्चात् भी कानूनी लेख पत्र बोलचाल की संस्कृत में ही लिखे जाते थे और वे न्यायालयों में रजिस्ट्री करने के लिए भी स्वीकृत किए जाते थे[2]। जनता का अधिकांश भाग जो स्वयं संस्कृत का साधारणतया उपयोग यद्यपि नहीं करता था परन्तु उसे समझ लेता था। "परन्तु जो विद्वान् नहीं थे उनके द्वारा बोली व समझी जानेवाली संस्कृत उपर्युक्त रूढ एवं लोकभाषामय संस्कृत थी। काव्यों की गद्य एवं पद्य की अत्यन्त कृत्रिम संस्कृत नहीं थी। इस लौकिक संस्कृत के बोलनेवाले पाणिनि या हेमचन्द्र का

---

१. वही, पृ. ८–१०।

२. पुत, भा. ४ पृ. १ आदि; गुजरात संशोधन मंडल का त्रैमासिक, भा. ११, पृ. ८९ आदि।

अभ्यास नहीं करते थे। वे तो मुग्धावबोधमौक्तिक जैसे व्याकरण पढ़ते थे। गुजरात के श्वेताम्बर जैन लेखक अपनी कथाओं में इसी संस्कृत का प्रयोग करते थे ताकि उनकी ये कथाएँ सर्वसाधारण को भली भाँति समझ में आ जाएँ[1]।" इसका यह कारण कदापि नहीं है कि जैन लेखक साहित्यिक संस्कृत मे अपनी बात कहना नहीं जानते थे, परन्तु यह है कि वे सर्वसाधारण तक उस भाषा माध्यम द्वारा पहुँचने में प्रयत्नशील रहते थे कि जिसे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लोकभाषामय संस्कृत (वर्नाक्यूलर संस्कृत) कहा जा सकता है। इस संस्कृत की तुलना उत्तरस्थ बौद्धों की ऐसी ही मिश्र भाषा से की जा सकती है कि जिसे 'गाथा संस्कृत' कहते हैं और जिसमें ललितविस्तर और महावस्तु जैसे ग्रन्थ लिखे गए हैं। प्रो० जकरिया ने ऐसे शब्दों की सूची प्रकाशित की है कि जो काश्मीरी लेखकों की कृतियो में ही एकान्तभावे पाए गये हैं और जरमनी के प्रो० श्मिड्ट ने इस सूची में और भी वृद्धि कर दी है[2]। साहित्यिक, सांस्कृतिक और भाषा-अध्ययन की दृष्टि से यह अत्यन्त ही उपयोगी होगा कि इस प्रकार की शब्द-सूची जो निःसंदेह लंबी होगी—गुजरात के जैन लेखकों की कृतियों से भी तैयार की जाए। डा. हरटल ने पूर्णभद्र के पंचाख्यान के अपने संस्करण में (पृ २६१–२६५) और डा० उपाध्ये ने गुजरात के ही एक अन्य जैनलेखक हरिषेण के बृहत् कथाकोश के मुखबन्ध में (पृ १०१–१०) ऐसे संस्कृत शब्दों की सूचियाँ दी है जो उनके सम्पादित ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए है। इन शब्दों में से अधिकांश ऐसे है जिनका प्राचीन एवं अर्वाचीन गुजराती में प्रचलित रूपों से, व्युत्पत्ति से, ध्वनि से और अर्थ से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मैं ऐसे कुछ शब्दों की सूची प्रबन्धावली से देता हूँ जो छोटी होते हुए भी पूरी प्रतिनिधि-रूप कही जा सकती है। घर (पृ. १३, ३२; प्राकृत घर <स. गृह, गुज. घर, सलसलितम् (पृ १३, गुज सलल् थुं, सरकना), महीआरी (पृ. १४; सं. मथितकारी <महीअआरी, गुज महीआरी, ग्वालिन), कुतिगिना (पृ ४७ सं कौतुकिकाः तु पु गुज. कुतिग <सं कौतुक, कुतूहल), इस 'कुतिगिना' का अर्थ विदूषक है।), टोलिक (पृ ३६; गुज. टोळी <सं. टोलिक, दजाज), ओलगा (पृ. ५५; सेवा। पुरानी और अर्वाचीन गुजराती में यह शब्द 'ओलग' या 'ओलग' दोनों रूपों मे मुक्तता से प्रयोग किया जाता है। तु. पु. मराठी ओडग, वोळग; कनड़ी उरिग), घुघरमाला (पृ. ५६; गुज. घूघरमाल, घूंघरमाल),

---

१. हरटल, गुजरात के श्वेताम्बरों का साहित्य, पृ. १७–१८।

२. वही पृ. १६।

शल्यहस्त (पृ. ८६; शब्दार्थ—जो हाथ में शल्य याने भाला लिये हुए हो और इसलिए भावार्थ 'राज्याधिकारी' । राज्याधिकारी के अर्थ में ही यह शब्द पुरानी गुजराती में सेलहत्थ, शेलहुत और शेलोत रूप में प्रयुक्त हुआ है। (देखो, प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित १४२२ ई का पृथ्वीचन्द्रचरित, पृ १२८; १४वीं सदी का पेथडरास, गाथा २२; माधवानल कामकन्दला (ई० १५२६) प्रबन्ध, ७. ४८२ व ४६४। गुजरात के खेडवाल ब्राह्मणों में शेलत उपनाम रूप से प्रयुक्त होता है हालांकि प्रचलित भाषा में इसका प्रयोग मिट गया है—देखो बुद्धिप्रकाश, जनवरी १९५२ अंक में मेरा लेख), द्वारभट्ट (पृ ८६, तु. गुज, बारहट्ट, बारोट), अंधारी (पृ. ८६, गुज अंधारी (सं. अंधकारी, जेल की अंधियारी कोटड़ी), भारिका पृष्ठ ८६; गुज. भारी), टिप्पा (पृ ८६; सं. तिप् से; गुज. टीपुं, बिन्दु), खडखडा (पृ. ८६; गुज. खटखट, झंझट), मेलापक (पृ. ८६; पु. गुर्ज. मेलावो, सैन्यजमवट), धगड (पृ. ६०; मुसलमान सैनिक, तु गुज. धगडो, याने गुण्डा), धाटी (पृ १०२; गुज. धाड़), भेलित (पृ. १०३; पु. भेल्यो, लूट गया) तु. पडी भेल प्रासादि देवनइ, भागां कुंची तालां (देव मंदिर लूट लिया गया, ताले चाबी तोड़ दिये गए) पद्मनाम का, १४५६ ई० का रचा, कान्हड़दे प्रबन्ध १. ६३)। फारसी और अरबी मूल के कुछ शब्द भी जैसे कि दुर्वेस (पृ. ८६; फारसी दरवीश) और मसीति पृ० ८३; मस्जिद), रूपान्तरित कर लिये गए हैं। ऊपर उद्धृत शब्दों में से कुछ दूसरी आधुनिक भारत-आर्य भाषाओं में भी पाये जाते हैं, परन्तु इससे मूल बात शिथिल नहीं हो जाती है कि लेखक गुजरात में रहा था और यह स्वाभाविक ही था कि उसने कतिपय प्रचलित शब्दों और वाक्यों को बोलचाल की भाषा में से जिसका कि वह खूब ही जानकार था, स्वीकार कर लिया।

२३६. जिनभद्र की प्रबन्धावली यद्यपि उपर्युक्त वर्णित शैली की संस्कृत में ही लिखी हुई है, फिर भी उसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के कई सुभाषित भी यत्र-तत्र है। अपभ्रंश गाथाएँ अधिकाश दोहा छंद में हैं और वे लोक साहित्य में से लेखक द्वारा ले ली गई प्रतीत होती है। यहाँ उन अपभ्रंश गाथाओं की ओर निर्देश करना रुचिकर होगा जो जीर्णदुर्ग (आधुनिक जूनागढ़) के सामंत खेंगार की रानी के मुख से तब कहलाई गई है जब कि सिद्ध-

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि के अपभ्रंश दोहों की आधुनिक गुजराती संस्करण से साहित्यिक तुलना के लिए देखो न. भो. दिवेटिया, मनोमुकुर (गुज), भाग २ पृ. २७ आदि।

राज नर्यासह की सेना द्वारा वह मार दिया गया था। प्रबन्धावली में ऐसी १३ गाथाएँ उद्धृत हैं (पृ. २४-२५)। इनमें से ६ थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रबन्धचिंतामणि पृ ६५, जो कि ८१ वर्ष पहले की रचना है, में मिलती है। उसमें और दो गाथाएँ अधिक हैं जो प्रबन्धावली में नहीं है। ये सब गाथाएँ आज भी सौराष्ट्र और गुजरात के लोक गीतों में खूब प्रचलित हैं हालांकि आज वे आधुनिक भाषा के लिबास में ही मिलती हैं। परन्तु उनका ७०० से अधिक वर्ष के लम्बे काल तक प्रचार में रहना ही ऐसे लोक साहित्य की लोकप्रियता को प्रमाणित करता है कि जिसके नमूने प्रबन्धावली जैसे ग्रन्थों में सुरक्षित हो गये हैं।

बारहवाँ अध्याय

जैन धर्मकथाओं का संग्रह

जैनों का धर्मकथा साहित्य

२३७. मानव प्रकृति में कथा-कहानी कहने और सुनने के स्वभाव की जड़ें बहुत ही गहरी है। इसीलिए तो संसार के सभी देशों में लोक साहित्य पाया जाता है। लोक-कथाओं को या तो साहित्य में रुचिकर उपन्यास रूप से अपना लिया गया है या लौकिक और धार्मिक दोनो ही उद्देश्यों से उनका बहुत सी बातों में उपयोग कर लिया गया है। भारतीय साहित्य को ही हम लेवें तो बृहद्-कथा जो कि मूल रूप में आज अप्राप्य है, परन्तु जिसके प्राकृत और संस्कृत में अवतरण पांचवीं सदी ईसवी के वसुदेवहिण्डी में और ११ वीं सदी ईसवी के कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी में पाये जाते हैं, सांसारिक कथाओं का महा भण्डार था जो साहित्यिक चित्त विनोद के लिए ही संग्रह की गई थीं। इसी प्रकार सुप्रख्यात पंचतन्त्र भी कथा-साहित्य की पुस्तक है जिसमें लोक-कथाओं का उपयोग राजनीति के तत्त्वों और सांसारिक ज्ञान की बातों को सिखाने के लिए किया गया है। पक्षान्तर में जातक और जैन साहित्य में मिलनेवाली अधिकांश कथाएँ धार्मिक-लोक-कथाओं के उदाहरण हैं।

२३८. बौद्ध और जैन दोनों ही बड़े कथाकार थे क्योंकि कथा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा धार्मिक उपदेश सरल-रूप से दिया जा सकता है। जैन शास्त्र परम्परा से चार विभागो में विभक्त है जिन्हें अनुयोग कहते है। इसके धर्मकथानुयोग विभाग में धर्म कथाएँ ही दी गई है। इस अनुयोग का प्रतिनिधि ज्ञाताधर्मकथा कहा जाता है जो अंग सूत्रों में छठा अंग-सूत्र है। जैन शास्त्रों की संस्कृत और प्राकृत टीकाओं में न केवल प्राचीन परम्पराएँ और कथानक ही दिए गए हैं अपितु अनेक छोटी और बड़ी लोक-कहानियाँ भी दी गई हैं। तीर्थंकरों एवं अन्य धार्मिक व्यक्तियों के काव्यात्मक चरित्रों में भी बहुधा सभी प्रकार की कहानियों का प्रयोग किया गया है। इनके सिवा भी जैन लेखकों की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनेक कथा कहानियाँ मिलती हैं। 'ये सब कृतियाँ चाहे वे

सीधी सादी गद्य या पद्य में कही गई कहानियाँ हों अथवा बहुश्रम से लिखे गए आख्यान और महाकाव्य हों, मूलतः धर्मोपदेश हैं। केवल चित्त-विनोद करना ही इनका लक्ष्य नहीं है। धर्मोपदेश और नैतिक उपदेश का ही सदा ये काम करते हैं।"[1]

२३९. जैन साहित्य में कथा-ग्रंथ बहुत ही हैं। परन्तु अधिकांश की रचना १० वीं सदी ईसवी बाद हुई है। जैसे जैसे हम पीछे की सदियों में खोज करते हैं उपलब्ध कृतियों की संख्या घटती ही जाती है। यहाँ तक कि ईसाई युग के प्रथम सौ वर्ष की अवधि में रचित कथा ग्रन्थ दस भी नहीं मिलते हैं। पादलिप्त के महान धार्मिक उपन्यास तरंगवती (पाचवीं सदी के पहले का) का परिचय हमें उसके सक्षिप्त संस्करण से ही मिलता है जो नेमिचन्द्र ने १००० वर्ष बाद रचा था। दूसरे प्राचीन कथा-ग्रन्थ जैसे कि मलयवती, मगधसेना, बन्धुमती और सुलोचना का परिचय हमें साहित्यिक उल्लेखों से ही मिलता है[2]। संघदासगणि का वसुदेवहिंडी नष्ट बृहद-कथा का प्राकृत में जैन संस्करण ही है और आगम युग के पीछे के जैनधर्म-कथा-साहित्य का स्मृति-स्तम्भ रूप शेष है। हरिभद्र की समराइच्चकहा, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला और सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा, ये तीन अन्य प्राचीन कथाएँ हैं जिनका पहले अध्याय में मैं पहले ही वर्णन कर आया हूँ। हरिषेण का बृहत्-कथाकोश १० वीं सदी का रचा धर्म-कथाओं का संग्रह ग्रन्थ है। उत्तर काल में जैनों ने लम्बे और बहुश्रम से प्राचीन आदर्शों पर लिखे गए कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त कथाकोशों या कथासमुच्चयों की रचना की हैं जिनमें कहानियों में उपकहानियाँ या तो भारतीय वर्णनात्मक साहित्य में सुपरिचित रीति से मिला दी गई हैं या एक के बाद दूसरी इस प्रकार कह दी गई हैं।

नरचन्द्रसूरि का कथारत्नाकर

२४० नरचन्द्रसूरि का कथारत्नाकर या कथा रत्नसागर जिसका कि विचार हमें यहाँ करना है पिछली श्रेणी का ही कथा ग्रन्थ है। यह अभी तक अमुद्रित

---

१. विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २ पृ ५२१।

२. जैसासं, भाग ३, पृ. १६४।

३. जिरको, पृ. ६५-६७। ऐसे ही ग्रन्थों के संक्षिप्त पर्यवेक्षण के लिए देखो विण्टरनिट्ज, वही, पृ. ५४१ आदि।

होने से केवल हस्तलिखित ही मिलता है। इसके ग्रन्थाग्र २०६१ श्लोक हैं[1]। इसमें १५ तरंग हैं और प्रत्येक तरंग में जैनधर्मोपदिष्ट किसी सिद्धान्त के अनुसार जीवन-यापन करने से प्राप्त फल को चित्रित करने वाली एक कहानी दी गई है। सम्भव है कि ग्रन्थकार को अपनी रचना को 'कथा-रत्नाकर' कहने की और उसे तरंगों में विभक्त करने की प्रेरणा सोमदेव के कथासरित्सागर से ही मिली हो, परन्तु दोनों के चर्चित विषयों में कोई भी साम्य नहीं है। यह ग्रन्थ सारा का सारा अनुष्टुप् छंद में लिखा गया है, परन्तु प्रत्येक तरंग का अन्तिम श्लोक भिन्न वृत्त या छंद में है। जितेन्द्रियता, तप, दान, निरभिमान, अहिंसा, अचौर्य, बड़ों का विनय और सेवा, अनसूयत्व अध्यात्म सिद्धि के लिए नवकारमंत्र का जप, आदि आदि गुणों का इन कहानियों में यह दिखाते हुए कीर्तन किया गया है कि उनके मुख्य पात्रों ने उक्त गुणों का पालन कर इस या परभव में फल प्राप्त किया था। वर्णन मंद और एकसुरी शैली में है। साहित्य की दृष्टि से कोई महत्व का उपादान इसने नहीं दिया है। नरचन्द्र जैसे पण्डित द्वारा और वस्तुपाल के आदेश से (पैरा ११६) रचा हुआ होने पर भी इसके लिखने में दैनिक व्याख्यान में उपदेश सुनने को आनेवाले धार्मिक श्रोताओं की ही दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है। लेखक का प्रमुख लक्ष्य जैनधर्मानुमोदित आचरण का महत्व श्रोताओं के मन पर जमाने का ही प्रतीत होता है। यह भी द्रष्टव्य है कि कथारत्नाकर जैनधर्म की कहानियाँ जो पूर्वकाल में रची गई, का ही संग्रह है जैसा कि इस संग्रहकार के बाद के लेखकों के अधिकांश कथाकोश हैं[2]।

---

१. जिरको, पृ ६६।

२. जिरको, पृ. ६४–६७; उपाध्ये, बृहत् कथाकोश, प्रस्ता. पृ. ३१ आदि।

तेरहवाँ अध्याय

अपभ्रंश रास

रासों का संक्षिप्त इतिहास

२४१. यद्यपि यह पुस्तक वस्तुपाल के विद्यामंडल की संस्कृत साहित्य को देन के विचार पर ही मुख्यतया है, फिर भी दो अपभ्रंश रासों का विचार करना यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा जो उस विद्यामंडल के सदस्यों द्वारा ही रचे गए थे क्योंकि इस साहित्यिक प्रवृत्ति को भी मंत्री द्वारा बहुत आश्रय दिया गया था। ये दोनों रास हैं, विजयसेनसूरि का रैवंतगिरिरास और पाल्हणपुत्र का आबूरास। इनका विचार करने के पूर्व रास या रासरूपी साहित्यिक कृति किसे कहते हैं यह हम संक्षेप में विचार कर लें। रास या रासक अपभ्रंश या पुरानी गुर्जराती के साहित्य में बड़ा ही लोकप्रिय साहित्य था।

२४२. रासक केवल पढ़ने या पुनरावर्तन करने के लिए ही नहीं होते थे, परन्तु वे नाच के साथ गाये जाने के लिए भी रचे जाते थे। इस प्रकार की रचना जिनकी हाव-भाव पूर्वक नाचों के साथ तुलना की जा सकती है, पहले पहल लोकगान और नाच के लिए ही हुई होगी। परन्तु कालान्तर में जब कि भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिनेय साहित्यिक कृतियों का सर्वेक्षण किया गया तो उनको मुख्य दो विभागों में वर्गीकरण कर दिया गया—(१) एक तो वे जो जिनमें अभिनय और पठन साथ-साथ होते थे और (२) दूसरी वे जिनमें नाचके साथ गाना भी होता था। जिस कृति का रूपान्तर रास या रासो में हुआ, वह दूसरे वर्ग की ही रचना है। इस वर्गीकरण का जिसमें डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, षिङ्गक, भाणिका, रामक्रीडा, हल्लीसक और रासक समाविष्ट हैं, प्राचीनतम उपलब्धि उल्लेख अभिनवगुप्त की अभिनवभारती (लगभग १००० ई०) में ही पाया जाता है जहाँ रासक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

> अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
> आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥[1]

---

1. भरत का नाट्यशास्त्र (गा. ओ. सि.), भाग १, पृ. १८३।

इस परिभाषा से हम यह समझते हैं कि रासक गेय रूपक थे, इनमें रुचिर लय तान भरी रहती थी। अनेक नर्तिकाएँ जिनमें भाग लेती थीं, जिनमें अधिक से अधिक ६४ युगल होते थे और जो कहीं कोमल तो कहीं उद्दीप्त होता था। इसी परिभाषा एवं वर्गीकरण को आगे जाकर हेमचन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' (पृ ८.४) में, वाग्भट्ट द्वितीय ने अपने काव्यानुशासन (पृ १८) में, स्वीकार कर लिया है। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण (भाग १, पृ. २१४–१५) और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (काणे का संस्करण, पृ. १०४-५) में रासक और नाट्य-रासक के लक्षण दिए हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राचीन काल में लोक नृत्य का प्रचलन भारत के विभिन्न भागों में था हालांकि हमें यह कहने का कोई विश्वस्त प्रमाण प्राप्त नहीं है कि किस प्रान्त में कौन विशेष लोक-नृत्य प्रचलित था। इस सम्बन्ध में एक रोचक कथानक सारंगदेव के संगीतरत्नाकर (लगभग १२०० ई०) में हमें मिलता है जिसमें कोई ऐतिहासिक परम्परा भी सुरक्षित हो ऐसा प्रतीत होता है। वहाँ कहा गया है कि शिव ने ताण्डव नृत्य का निर्माण किया और पार्वती ने लास्य शैली का नृत्य। पार्वती ने वह नृत्य बाणासुर की पुत्री और कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की स्त्री उषा को सिखाया और उसने वही नृत्य द्वारावती की गोपियों को जिन्होंने उसे सौराष्ट्र की युवतियों को एवं युवानारियों को सिखा दिया और फिर उन्हीं से सारे संसार में इसका प्रचार हो गया[२]। इस परम्परा का समर्थन गुजरात और सौराष्ट्र में अद्यापि प्रचलित रास, रासड़ा, गरबा और गरबी आदि लोक नृत्यों से होता है।

२४३. इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रासक या रास एक प्रकार का लोक नृत्य था जिसकी तुलना कृष्ण की रास-क्रीड़ा से, जो भागवत एवं अन्य पुराणों में वर्णित है और गुजरात के विशिष्ट गरबा नाच (जो रास भी कहा जाता है) से की जा सकती है। कालान्तर में प्राकृत में यह अभिनय-योग्य साहित्य के विशेष प्रकार में परिणत हो गया। रास खुले आम खेले जाते थे इसका प्रमाण अनेक साहित्यिक उल्लेखों से मिलता है। रैवंतगिरि-रास की अन्तिम गाथा भी रास के अभिनय को ही कहती है—

रंगिहिं ए रमइ जो रासु सिरिविजसेनसूरिनिम्मविउ ए।
नेमिजिणु तूसइ तासु अंबिक-पूरइ मनि रलि ए॥

अर्थात् जिन नेमिनाथ उस पर तुष्ट होंगे और अम्बिका देवी उसकी इच्छाएँ

---

२. संगीतरत्नाकर, ७. ४–८।

पूर्ण करेंगी जो श्रीविजयसेनसूरि के निर्मित इस रास को उत्साह के साथ पढ़ेंगे और खेलेंगे।

सप्तक्षेत्री रासु (१२७१ ई०) में दो प्रकार के रास बताए गये हैं यथा, तालारास और लकुटारास[3]। पहले से अभिप्रेत है वह रास-नृत्य जिसमें हस्त-ताल द्वारा लय दिया जाता है और दूसरे से वह जिसमें छोटी-छोटी छड़ियों अथवा डण्डों द्वारा लय दिया जाता है। इसमें नट हाथों में डण्डे रखते और नाचते हुए ताल देते हैं। इसको गुजरात में डाडिया रास कहते हैं। सुपास-नाहचरिय (११४३ ई०) के रचयिता लक्ष्मणगणि ने रास-नृत्य की चाल का वर्णन 'केवि उत्ताल-तालाउलं रासयं'[4] कह कर किया है और इस प्रकार उसने उस रास का संकेत कर दिया है जिसमें लय हाथ की ताल द्वारा दी जाती थी।

२४४ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक-नृत्य का यह प्रकार रास जो साहित्य का भी एक रूप बन गया मूलतः अभिनेय ही था। गुजरात से अपभ्रंश और उत्तर-अपभ्रंश व बोली में कितने ही रास हमें मिलते हैं जिनका प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण शीलभद्रसूरि का भरतबाहुबलीरास (११८५ ई०) है। कालान्तर में प्राचीन गुजराती में रास का यह प्रकार एकविध हो गया और फिर उपाश्रयों में पढ़ी जानेवाली जैन पुराणों के काव्य-गुम्फित आख्यान ही इसका साधारण रूप हो गया। आज इस श्रेणी में हम सैकड़ों ही कृतियों की गिनती कर सकते हैं।

विजयसेनसूरि का रेवंतगिरिरासु

२४५ रास साधारणतया भास (सं भाषा) या कड़वक या कभी-कभी जैसा कि प्राचीन गुजराती साहित्य में देखते हैं, ढाल में विभक्त होते हैं। ढाल को हम ताललय मय गाथा कह सकते हैं। विजयसेनसूरि के रेवतगिरिरास में चार कड़वक और कुल ६२ गाथाएँ हैं। पहले कड़वक में मंगलाचरण के पश्चात् सोरठ देश (दक्षिण सोरठ) का वर्णन किया गया है। जहाँ की गिर-नार स्थित है (गाथा २-५), और फिर वस्तुपाल की वंशावली दी गई है एवं विजयसेनसूरि का उसे दिया उपदेश व उससे प्रेरित धर्म कृत्यों का वर्णन है

---

३. प्रागुक्तासं, पृ. ५२।

४. मुंशी, गुजरात और उसका साहित्य, पृ. ८८।

(गाथा ६-११)। इसके अनन्तर गिरनार की तलेटी में वसन्तकालीन सौंदर्य को देख कर यात्री-संघ के हुए हर्ष का वर्णन है (गाथा १२-२०)। दूसरे और तीसरे कडवक में गिरनार तीर्थ का संक्षेप में प्राचीन इतिहास, और वस्तुपाल द्वारा बनवाए वहाँ के मन्दिरों का वृत्तान्त कहा गया है। दूसरे कड़वक में कहीं कहीं वन का भी अच्छा वर्णन है। अन्तिम कड़वक में नेमिनाथ भगवान् और अम्बिका देवी की स्तुति की गई और गिरनार पहाड़ की धार्मिक महत्ता विस्तार से वर्णित है। सारे रास की शैली बहुत सरस और निराडम्बर है। काव्य की दृष्टि से रचना रसप्रद है और उसके उदाहरण स्वरूप दूसरे कड़वक से गिरनार का वर्णन यहाँ देते हैं—

जिम जिम चडइ तडि कडणि गिरनारह,
तिमि तिमि उडइ जण भवण ससारह।
जिम जिम सेउजलु अंगि पलोट्टए,
तिम तिम कलिमलु सयलु ओहट्टए॥
जिमि जिमि वायइ वाउ तहि निज्झरसीयलु,
तिम तिम भवदुहदाहो तक्खणि तुट्टइ निच्चलु।
कोइलकलरवो मोरकेकारवो,
सुम्मए महुयर महुरु गुञ्जारवो।
पाय चडतह सावयालोयणी,
लाखारामु दिसि दीसए दाहिणी॥
जलदजालबमलि नीझरणि रमाउलु,
रेहइ उज्जिलसिहरुअलि-कज्जलसामलु।
बहलवहु धाउरसभेउणी जत्थ झलहलइ सोवन्नमइ मेउणी।
जत्थ दिप्पंति दिव्वोसही सुन्दरा,
गुहिरवर गरुय गंभीर गिरिकंदरा॥ —गाथा २-४।

अर्थात् जैसे लोग गिरनार की पहाड़ी पर चढ़ते हैं, वे संसार-स्थिति स्नेह का कपाट बंद करते जाते हैं। जैसे परिश्रम से अंगोपांग में पसीना आता है, वैसे ही कलिकाल की कलुषता भी उनकी धुलती जाती है। जैसे नदी के जल से शीतल हुआ वायु बहता है, संसार की चिंताओं से होनेवाली जलन तुरन्त ही

५. ऐसे रासों की विवरणात्मक सूची के लिए देखो मो. द. देसाई, जैन गुर्जर कविओ (गुज) भाग १-३।

शात हो जाती है। कोयल की कुहू कुहू, मयूर का केकारव और भौंरों का गुंजारव सुनाई पड़ता है। पहाड़ की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए श्रावक दाहिनी ओर लखाराम नामक उद्यान देखते हैं। गिरनार का शिखर घने बादलों से घिरा हुआ, अनेक नदी-नालों से सुशोभित और भौंरों व काजल के समान काला बहुत ही सुन्दर दीखता है। जहाँ की भूमि सुवर्ण रंग की है, अनेक प्रकार मणि-रत्नों से भरी पूरी है, वह गिरनार बड़ा ही द्युतिमान दीखता है। जहाँ देवोपम औषधियाँ चमक रही हैं और जिसमें अप्रवेशनीय, सुन्दर बड़ी और गहन गुफाएँ हैं।

पाल्हण पुत्र का आबूरास

२४६. पाल्हण के पुत्र अथवा पाल्हणपुत्र रचित आबूरास ५० गाथा का है जिसमें वस्तुपाल और तेजपाल के निर्मित आबू के मन्दिरों का वर्णन किया गया है। यह काव्य भास और ठवणी में विभक्त है जो बारी-बारी से आते हैं। इस काव्य में दी गई सब सूचना अन्य सामग्रियों में भी मिलती है सिवा इसके कि नेमिनाथ की मूर्ति जो आबू के मन्दिरों में प्रतिष्ठित है, स्तम्भतीर्थ की बनी हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस नगर में तब मूर्ति-निर्माण एवं तत्सम्बन्धित कला-कौशल खूब सम्पन्न था। काव्य में कुछ भी साहित्यिक दृष्टि से द्रष्टव्य नहीं है फिर भी ऐतिहासिक और भाषा दृष्टि से यह इसलिए विचारणीय है कि इसमें वस्तुपाल-युग की एक अवलोकनीय घटना प्रचलित भाषा में वर्णित हुई है।

चौदहवाँ अध्याय

अलंकार के ग्रंथ

अलंकार साहित्य का विकास

२४७. यद्यपि संस्कृत का काव्य ईसा पूर्व दो हजार वर्ष या इससे भी प्राचीन है जब कि ऋगवेद की ऋचाएँ रची गई हों, परन्तु अलंकार सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख ईसा पूर्व ७वीं या ६ठी शती से पहले का नहीं मिलता है। अलंकार शास्त्र का वेदांग में वर्णन नहीं है और न हम वैदिक संहिता, ब्राह्मण अथवा प्रारम्भिक उपनिषदों में ही ऐसे उल्लेख पाते हैं जिनमें हम अलंकारशास्त्र की यथार्थ पीठिका प्राप्त कर सकें[1]। यास्क के निरुक्त (लगभग ईसा पूर्व ७००) में उपमा के पूर्णा और लुप्ता भेदों का उल्लेख मिलता है। निघंटु में इव, यथा, आदि अव्ययों का उपमान्तर्गत सन्निवेश कर लिया गया है और यास्क ने अपने पूर्वजों[2] में से गार्ग्य की दी हुई उपमा की परिभाषा उद्धृत की है जिससे मालूम पड़ता है कि संस्कृत अलंकार के कुछ तत्त्व यास्क से भी, जो स्वयं ही वेदों का उपलब्ध प्राचीनतम व्याख्याकार है, पहले के हैं। महान् वैयाकरण पाणिनि (लगभग ई० पू० ५००) ने उपमा, उपमित, सामान्य, उपमान आदि विशिष्ट शब्द इस सुकरता से प्रयोग किये हैं कि जिससे यह कहा जा सकता है कि ये शब्द उसके समय से पहले ही लोक व्यवहार में थे और तुलना के तात्पर्य का उसका वैयाकरणीय विश्लेषण अलंकारशास्त्र के सादृश्य के निकटतम कहा जा सकता है[3]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में साहित्य सर्जन की श्रेष्ठता पर विचार किया गया है और इसकी व्याख्या वहाँ जो की गई है वह उत्तरकालीन अलंकारशास्त्र से तत्त्वरूप में भिन्न नहीं है।

२४८ अलंकारशास्त्र का भारत में बहुत विकास भरत के नाट्यशास्त्र (लगभग ३०० ई०) के पहले से ही देखा जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ही हम सर्व प्रथम रस सिद्धांत का विवेचन पाते हैं जिसने संस्कृत-साहित्यालोचन

---

१. दे, एस. के., संस्कृत पोएटिक्स, भाग १, पृ. ३–४।

२. वही, पृ. ४–६।

३. वही, पृ. ६–८।

में महत्व का भाग लिया है। इसी ग्रन्थ में अलंकार शास्त्र के अनेक विषयों पर बहुत सूचना पाई जाती है। नाट्य शास्त्र के १६वें अध्याय में हमें पहली ही बार अलंकार शास्त्र की रूपरेखा मिलती है। उसमें चार अलंकारों, दस गुणों, दस दोषों और ३६ लक्षणों का वर्णन है। परन्तु विशुद्ध अलंकार शास्त्र के आदि पण्डित तो दण्डी और भामह (लगभग ६०० ई०) हैं जिनकी पौर्वापर्यता अभी तक निश्चित रूप से स्थापित नहीं हुई है। इसके पश्चात् ही अलंकार का सर्जक और फलद युग आरम्भ हुआ और वह अभिनवगुप्त के साथ समाप्त भी हो गया। इस युग में भिन्न-भिन्न अलंकार पद्धतियों या वादों के सिद्धांत की साधारण रूपरेखा स्थिर हुई थी जिसने चार विभिन्न वादों या सम्प्रदायों को जन्म दिया जो अनुक्रम से रस, अलंकार, रीति और ध्वनि के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। तीन शताब्दी से भी अधिक लम्बा यह युग है और इसी में अलंकार शास्त्र के इतिहास के बहुमान्य पण्डित, जैसे कि भामह, उद्भट एवं रुद्रट; लोल्लट, शंकुक एवं भट्ट नायक; (?) दण्डी एवं वामन; ध्वनिकार आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त; कुन्तक, महिमभट्ट एवं भोज हुए थे। इन सब ने मंडनात्मक या खण्डनात्मक शैली से प्रचलित भिन्न-भिन्न विचारों को स्वरूप देने में सहायता दी थी और इसीलिए मम्मट के महानिबन्ध में उनकी एक-सी धारा आज पाई जाती है[1]।

२१६. मम्मट (लगभग १००० ई०) ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) और अभिनवगुप्त (लगभग १००० ई० के बाद के अलंकारशास्त्र पर लिखनेवालों में उल्लेखनीय है। उसके 'काव्य-प्रकाश' ने बहुत ही प्रख्याति पाई एवं संस्कृत साहित्य क्षेत्र में उसने महत्वपूर्ण प्रभाव प्रदर्शित किया था। इसी ने रस-ध्वनि सम्प्रदाय का जिसका प्रतिपादन ध्वन्यालोक में उत्कृष्टता से किया था, सदा के लिए स्थापित कर दिया था। ध्वन्यालोक में प्रतिपादित नए सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए काव्यप्रकाश ने संस्कृत अलंकारशास्त्र की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के सिद्धांतों का संक्षिप्त अथच सारगर्भित और विद्वत्तापूर्ण एकीकरण करने का प्रयत्न है। इस प्रकार अध्येताओं के लिए अत्युत्तम पाठ्य-पुस्तक के गुणोंवाली एवं विवेचन में परिपूर्ण और अल्पशब्दक होने के कारण यह काव्यप्रकाश सुदूर काश्मीर में रचित होने पर भी थोड़े ही काल पीछे समस्त भारतवर्ष में पाठ्यग्रन्थ बन गया और उस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं यहाँ तक कि संस्कृत में यह कहावत ही हो गई है कि काव्यप्रकाश

१. वही, भाग २, पृ. २६८।

पर घर-घर में टीकाएँ लिखी गई तो भी वह दुर्गम ही रहा[1]। अलंकार में ध्वनि-सिद्धान्त की स्वीकृत महत्ता का परिहार किये बिना ही मम्मट ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था और उसके विचार संस्कृत अलंकारशास्त्र में अत्यन्त ही संतुलित स्वीकार कर लिये गए है। विवेचन शैली में और विषय के वर्गीकरण में काव्यप्रकाश को आदर्श मान लिया गया है और सुप्रसिद्ध अलंकारशास्त्रीगण उस पर टीका लिख कर अपने को परम गौरवान्वित मानते थे हालांकि उन लोगों ने अपने विशिष्ट विचार भी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखकर व्यक्त किये हैं। विशेष उदाहरणों, नई परिभाषाओं और सूक्ष्म वर्गीकरण के अतिरिक्त मम्मट द्वारा विवक्षित अलंकारशास्त्र तब से आज तक ज्यों का त्यों ही रहा है[2]।

२५०. रचना के कुछ ही काल बाद से काव्यप्रकाश का गुजरात में भी बड़ी तत्परता से अध्ययन किया जाने लगा था क्योंकि सुप्रसिद्ध विद्वान हेमचन्द्र ने बारहवीं सदी के प्रथमार्ध में रचित अपना काव्यानुशासन ग्रन्थ के सूत्रों की रचना उसके आधार पर की है और अनेक स्थलों पर काव्यप्रकाश से प्रचुर उद्धरण दिए हैं एवं मम्मट के नाम का भी उल्लेख किया है[3]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट का ग्रन्थ हेमचन्द्र-काल के पहले से ही गुजरात में पाठ्य ग्रन्थ रूप से प्रयोग किया जाता था। जब हम यह स्मरण रखते हैं कि काव्यप्रकाश की रचना लगभग ११०० ई. की है और काव्यानुशासन की लगभग ११४३ ई. की, तो गमनागमन के त्वरित साधन नहीं होते हुए भी प्राचीन और मध्यकालीन भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क इतना शीघ्र हो पाया यह अवश्य ही महान् आश्चर्य की बात है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि ज्ञान-विज्ञान के विषय में गुजरात और काश्मीर में तब बहुत ही घना सम्पर्क था। प्रभावकचरित्र के अनुसार सोमचन्द्र (आचार्यपद प्रदान पूर्व का हेमचन्द्र का नाम) ने काश्मीरवासिनी देवी सरस्वती को प्रसन्न करने की आशा

---

१. काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

काव्यप्रकाश के टीकाकार महेश्वर की मूलतः यह उक्ति है (कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ७५६) जो कदाचित् १७ वीं सदी में हुआ था (दे, वही, भाग १, पृ. १७६)।

२. कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ७१६।

३. र. छो परीख, काव्यानुशासन, प्रस्ता. पृ. ३१८ व २७३।

अपने गुरु से प्राप्त कर ली थी[1]। बील्हण के विक्रमांकदेवचरित के अन्तिम सर्ग में दिए जीवनवृत्त से हम जानते हैं कि शारदा देश—काश्मीर की भूमि से पण्डितगण गुजरात आते थे। सिद्धराज जयसिंह के दरबार में उत्साह नाम का एक पण्डित था जो बड़ा वैयाकरण था एवं उसकी विद्वत्ता शारदा देश[2] में विख्यात थी। इसी उत्साह पण्डित को शारदा याने काश्मीर

---

१. वही, पृ. २७१। प्राचीन गुजराती साहित्य में भी सरस्वती सम्बन्धी काश्मीरभूषणादेवी रूप मे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जैसे कि—

१. उरि कमलां भमरां भमई कासमीरां मुहमंडण माइ।

— नाल्हकृत, वीसलदेवरासो, (१२१६ ई.) कड़ी १।

२. सारद तुठि ब्रह्मकुमारी, कासमीरां मुखमण्डणी।—वही कड़ी ६।

३. कासमीर मुखमंडण माडी, तू समी न जगि काइ भिराडी।

—शालिसूरि (१५ वीं सदी) विराट पर्व, कड़ी १।

४. देव सरसति देव सरसति सुमति दातार।
कासमीर मुखमंडणी ब्रह्मपुत्रि करि वीणा सोहइ॥

—कुशललाभ (१५६० ई.) की माधवानल चौपाई कड़ी १।

५. कासमीर मुखमंडणी (हंसगमणी) सरस्वति सामिणि, ताम प्रासादि
वेदव्यास वालमीकि रपि इम एहनु उपदेस।
तास प्रसादिं असाइत भणि : वीरकथा वरणव्योम।

— असाइतकृत का हंसाउलि, (१२६१ ई.) कड़ी १।

६. कासमीरपोरवासनी, विद्या तणी निधान।
सेवक कर जोड़ी कहइ, आपउ विद्यादान।
—नरपति कृत (१५०४ ई.) पंचदंडनी वार्ता, आदेश १ कड़ी ८।

७. सरसती सामिणि पय नमी, मागु उचित पसाय;
कासमीर मुखमंडणी वाणी दिउ मझ माय।

—देवशील (१५६३ ई.) की वेतालपचीसी, कड़ी १।

८. कासमीर निवासिनी सरसती समरुं मात।

— मतिसार (१५४८ ई.) की कर्पूरमंजरी, पंक्ति ६।

ये थोड़े से उदाहरण यहाँ दे दिए गए हैं:, पर और भी अनेक उद्धृत किए जा सकते हैं।

२. र. छो. परीख, वही, पृ. २५३।

के पण्डितों ने आठ व्याकरण ग्रन्थ देकर काश्मीर से भेजा था कि जिनसे हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण तैयार किया था[1]। मम्मट के ग्रन्थ की सबसे प्राचीन टीकाओं में से एक जैनाचार्य माणिक्यचन्द्र की है जो वस्तुपाल के विद्यामण्डल का एक सदस्य एवं मंत्री का मित्र भी था जैसा कि पहले (पैरा १३० में) हम कह आए हैं। इस ग्रन्थ की सर्वप्रथम टीका, अलंकारसर्वस्व के रचयिता काश्मीरी रूचक या रूय्यक की है और वह १२ वीं सदी के दूसरे और तीसरे पाद की रचना है। काव्यप्रकाश की दूसरी अत्यन्त प्राचीन टीका गुजरात में लिखी गई। वह गुजरात के वाघेला राजा सारंगदेव के समकालिक जयंतभट्ट की (१२९४ ई.) है और उसके आधार पर ही टीकाकार रत्नकण्ठ (१६४८–१६८१ के मध्य) ने अपनी टीका रची है[2]। गुजरात के पण्डितों की ही लिखी इस काव्यप्रकाश की दो और टीकाएँ है। परन्तु ये दोनों ही अभी पूर्ण प्रकाश में नहीं आई हैं। एक टीका तो है जयानंदसूरि[3] की जिनका समय अभी अज्ञात है और दूसरी है महान् पंडित जैन साधु यशोविजय की कि जो १७ वीं सदी में हो गए हैं[4]।

माणिक्यचन्द्र का काव्यप्रकाश-संकेत

२५१. ऊपर जो अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है उससे प्रकट है कि अलंकारशास्त्र की साहित्य शाखा का गुजरात में पूरे उत्साह से पोषण किया गया था। हेमचन्द्र और उनके शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र के बाद (पैरा २६), हम वस्तुपाल के विद्यामण्डल के तीन सदस्यों का नाम ले सकते हैं जो संस्कृत अलंकारशास्त्र के अच्छे लेखक थे। इन तीनों की कृतियो में से काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र का संकेत ही सबसे प्राचीन है। दूसरे हैं नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकारमहोदधि और अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता। ये दोनों संकेत के पीछे की रचनाएँ हैं।

---

१. वही, पृ. २७३। संस्कृति (गुज) में मेरा लेख 'गुजरात अने काश्मीर' लेख भी देखिए।

२. दे, वही, भाग १, पृ० १७१। ३. जिरको, पृ० १० ।

४. यशोविजय के सर्वतोमुखी विद्वान् होने की सुप्रख्याति के विचार करते हुए, काव्यप्रकाश की उनकी टीका अत्यन्त ही महत्त्व की होनी चाहिए। सम्प्रति मुनि पुण्यविजयजी को इस टीका की एक अपूर्ण प्रति खम्भात में मिली है। इस अपूर्ण दशा में भी इसका सूक्ष्मदर्शी सम्पादन होकर प्रकाशन किया जाना चाहिए।

२५२. माणिक्यचन्द्र का संकेत न केवल पुरानों में से एक ही है, अपितु वह काव्यप्रकाश की अनन्यतम प्रामाणिक टीकाओं में से भी एक है। उसके ग्रन्थाग्र ३२४४ श्लोक है जैसा कि पाटण के जैन भण्डार में सुरक्षित ताड़पत्रीय पुरानी प्रति के अन्त से पता चलता है[1]। यह ग्रन्थ विषय की अपनी व्याख्या के गुणों के कारण भी बहुत महत्व का है। टीकाओं में साधारणतया पाई जाने वाली कमजोरियों से यह मुक्त है, अर्थात् कठिन विषयों पर व्याख्या-विवेचन की कमी और अनावश्यक अंशों पर अति विस्तार इसमें नहीं है। माणिक्यचन्द्र यद्यपि जैन-साधु था, परन्तु उसका ब्राह्मण साहित्य और दर्शन का पांडित्य इस ग्रन्थ की आलोचना और व्याख्या से एवं दिये उद्धरणों और आपाणे से स्पष्ट ही प्रतीत होता है। लेखक न केवल गहन पंडित और अलंकारशास्त्र में निष्णात ही है, अपितु वह काव्य सूक्ष्मदृष्टिसम्पन्न के क्षेत्र में आलोचक भी है। वह स्वयं कवि भी है। काव्य को समझने की उनकी मौलिक शक्ति का परिचय 'मुखं विकसितस्मितं (२.६) और प्रस्थानं वलयैः कृतं० (४.४६) की टीका से और कारिका २६ (शृंगारस्य द्वौ भेदौ) और ३० (रतिर्हासश्च शोकश्च०) से होता है। उसने अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए अपने ही काव्यों से अनेक उद्धरण टीका में दिये हैं[2]। इस प्रकार साहित्यिक के तीन महान् गुण-पांडित्य, गुण-दोष-विचार कौशल और कविता की सही समझ उसकी टीका में एक साथ पाये जाते हैं।

२५३. माणिक्यचन्द्र के अद्भुत पांडित्य और व्यापक अध्ययन उसके दिये, अनेक उद्धरणों और उल्लेखों से स्वतः प्रामाणित होता है। वह यह भी बताता है कि लेखक अपने समय से पहले के लिखे हुए अलंकार-साहित्य के अधिकांश से एवं संस्कृत साहित्य से भली प्रकार परिचित था। उसने भट्ट नायक और उनके

---

१. पाभंसू पृ० ५४।

२. माणिक्यचन्द्र ने कुल १७ श्लोक अपने ही रचित उद्धृत किए हैं; देखो पृ० १८८, १९०, १९१, १९२, १९३, १९५, २०२, २०४, २०५, २१६ २३०, २३७, २५२, २७०। इनमें से कितने ही (पृ० २०३, २०४, २०५, २१६) तो जिन-स्तुतियों में से लिये गए प्रतीत होते हैं और इससे स्पष्ट है कि माणिक्यचन्द्र ने अपने संकेत एवं दो महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक स्तोत्र भी रचे थे (देखो पैरा १८२)।

हृदयदर्पण (पृ ४, ८), काव्यकौतुक (पृ. ५),[1] पाणिनि (पृ. १४, २६), भट्ट कुमारिल (पृ. १६) और जैमिनि (पृ १११), भर्तृमित्र (पृ. १७), वक्रोक्तिकार (पृ. २५), नैयायिक धर्मकीर्ति (पृ. ४३), माघ (पृ. ५२), उद्भटकुमारसम्भव (पृ. २५२)[2], कादम्बरी (पृ. १७७), कुमारसम्भव (पृ. १७८) एवं शकुन्तला (पृ. १६५), ध्वनिकार (पृ. २००), कण्ठाभरण[3] (पृ. २१६) और विद्धशालभंजिका (पृ. ३०३) से उद्धरण दिये हैं या इनका उल्लेख किया है। माणिक्यचन्द्र ने मम्मट द्वारा उद्धृत कुछ श्लोकों के मूल स्थान का भी पता लगाया है। जैसे कि उसने एक प्राकृत गाथा आनन्दवर्धन की पंचबाणलीला कथा (पृ. १४४) में और दूसरी गाथा विषमबाणलीलाकथा (पृ. १७३) में खोज निकाली है। कुछ और दृष्टांत प्रतिमानिरुद्ध नाटक[4], वेणीसंहार और मालतीमाधव (पृ. २६४), राघवानन्द (पृ. ६१) और महाभारत (पृ. ८६) में खोज लिए गये हैं। एक श्लोक (४.३६) का मूल सन्दर्भ विवरण के साथ इस प्रकार दिया है—काश्मीरराजमातृमरणे भट्टनारायणकविकाव्यमिदम् (पृ. ५७), हालांकि इस भट्टनारायण के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक आज हमें जानकारी नहीं है और न यही कि किस अवसर पर उक्त श्लोक की रचना की गई थी। माणिक्यचन्द्र ने एक श्लोक 'पूज्यानामिदम्' (पृ. २०३) कह कर उद्धृत किया है और यह बहुत ही सम्भव है कि वह श्लोक उसके गुरु का ही हो।

२५४. माणिक्यचन्द्र ने नीचे लिखे आचार्यों या प्रमाणों को भी उद्धृत किया है और उनके विचारों की कहीं आलोचना की है तो कहीं उनका समर्थन भी किया है—कणाद (पृ. १४), प्रभाचन्द्र का न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. १४),

---

१. इस विनष्ट ग्रन्थ का रचयिता भट्ट तोत था। भरत नाट्यशास्त्र की अभिनव गुप्त की टीका (अध्याय १) में इसका उल्लेख किया गया है।

२. यह काव्य भी नष्ट है। प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट की अपनी टीका में इसका उल्लेख किया है (पुप्त भाग १, पृ० १८७)

३. रचयिता ने इस ग्रन्थ से कोई उद्धरण नहीं दिए हैं, परन्तु नाम से इसका उल्लेख कर दिया है। सम्भव है कि यह भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण ही हो।

४. इस विनष्ट ग्रन्थ का भी अभिनवगुप्त ने भरत की अपनी टीका में (अध्याय १६) उल्लेख किया है। वहाँ इसका रचयिता भीम कहा गया है।

मुकुल (पृ. १८, २२, २४), अभिनवगुप्त (पृ. २५, ४८), वामन (पृ. २५, ५३, १५२, १८६, १८८, १९०), भरत (पृ. १८६, १९१, १९२), दण्डी (पृ. १८६, १९१, १९२, २४५), भोज (पृ. १९२, १९५, २१६, ३०४), शंकुक (पृ. ४५, ५०), भट्ट तोत (पृ. ४६), लोल्लट (पृ. ५२), भामह (पृ. १२०, १८६, २१३, २८७), उद्भट (पृ. १२१, १७४, १८७, २१२, २५६, २७२, २६४), रुद्रट (पृ. २४५, २४६, २५७, २६६, २७१, २७४), मंगल (पृ. १९०)[1], अलंकारसर्वस्व (पृ २०६, ३४६)[2], कोहल[3] और लोचन (पृ ६५) । इस सूची से यह स्पष्ट है कि टीका में उद्धृत कुछ ग्रन्थकार और ग्रन्थ सदियों ही पहले नष्ट हो गये और इसलिए उनके उल्लेख ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से अति महत्त्व के हैं ।

२५५. माणिक्यचन्द्र ने कितने ही स्थलों पर मम्मट के पाठ-भेदों का भी विचार किया है और उनके आपेक्षिक गुणावगुणों पर भी अपना मत दिया है (पृ ३७, २५०) । इससे पता चलता है कि काव्यप्रकाश की रचना के १०० वर्ष में ही मूल पाठ मे कुछ महत्त्व के पाठान्तर प्रवेश कर गये थे । प्राकृत गाथा (छणपाहुडिआदेअर०, ४.२१२) पर टीका करते हुए माणिक्यचन्द्र ने प्राकृत शब्द पडोहर या पुडोहर की व्याख्या के विषय में संक्षिप्त परन्तु रुचिर विचारणा की है और उसके अर्थ पर सात वाहन के अतिरिक्त भी कितने ही मतों का प्रमाण दिया

---

१. वामन और मंगल दोनों का एक साथ उल्लेख है । (गौडीयानां निर्देशो न युक्तिमान् इति वामनमंगलौ । पृ. १९०) । अस्तु मंगल निस्संदेह ही आलंकारिक होना चाहिए । मंगल के मत काव्यमीमांसा (३य संस्करण, पृ. ११, १४, १६, २०) में राजशेखर ने और काव्यानुशासन (४, १) पर लिखे अपने विवेक में हेमचन्द्र ने भी उद्धृत किए हैं ।

२. अलंकारसर्वस्व का उल्लेख यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि रुय्यक कालक्रम से माणिक्यचन्द्र से प्राचीन था ।

३. कोहल का लोचन के साथ ही उल्लेख हुआ है (विस्तरविचारस्तु कोहल-लोचनग्रन्थादिषु ज्ञेयः पृ. ६५) । वह भरत का अनुयायी था और अभिनवगुप्त ने भी इसका उल्लेख किया है उल्लेखों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि यद्यपि कोहल ने मुख्यता से भरत का ही अनुसरण किया, फिर भी वर्गीकरण की बारीकियों में यह नाट्यशास्त्र आगे बढ़ गया है (कृष्णमाचारियर, वही, पृ. ८२२) ।

है। माणिक्यचन्द्र का पाडित्य मूल के शब्द—(४.१४६) की व्याख्या में परिलक्षित होता है। अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतरूपार्थः व्यवधीयते वह कहता है—यद्वा काश्मीरभाषया उज्ज्वलशब्दोऽरुणार्थः (पृ १२४)। यह इस बात का दूसरा प्रमाण है कि मम्मट काश्मीर निवासी था। यह किम्वदन्ती कि मम्मट ने काव्यप्रकाश को परिकर अलंकार तक ही लिखा था और शेष ग्रन्थ किसी अलक या अलट द्वारा पूर्ण किया गया था, माणिक्यचन्द्र द्वारा भी समर्थित हुई है। काव्यप्रकाश के अन्तिम श्लोक—इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नो०—की टीका करते माणिक्यचन्द्र कहता है—अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनाऽऽरब्धोऽपरेण समापित इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते। (पृ. ३०४) यह बताता है कि काव्यप्रकाश के दो रचयिताओं की परम्परा बड़ी पुरानी है। एक पुराना टीकाकार उस परम्परा को जानता था और इसलिए वह गम्भीरता से विचारणीय भी है। माणिक्यचन्द्र ने कुछ स्थलो पर संस्कृत शब्दो के प्राचीन गुजराती तुल्यार्थक शब्द भी दिए हैं। उदाहरणार्थ काव्यप्रकाश के श्लोक—एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलं०, (७ १४३) की टीका करते हुए कहता है कि तिन्दुकफलं तद्यस्य टिम्बरुकमिति ख्यातिः, (पृ. १२३)। यह शब्द आज भी गुजराती में 'टिंबरू' रूप में प्रयुक्त होता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकारमहोदधि

२५६. अब हम नरेन्द्रप्रभसूरि के अलंकारमहोदधि का विचार करेंगे। इसके ग्रन्थाग्र ४५०० श्लोक के। मम्मट के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का अनुकरण करते हुए, इस ग्रन्थ की रचना कारिका और वृत्ति में हुई है। परन्तु जहाँ काव्यप्रकाश १० अध्यायों में विभक्त है, लेखक के गुजरात के पूर्वज श्री हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की तरह इस अलंकारमहोदधि में आठ अध्याय ही हैं। कारिकाएँ अनुष्टुप् छंद में हैं और प्रत्येक अध्याय का अन्तिम श्लोक भिन्न छन्द में है। कारिकाएँ कुल २६६ हैं। ग्रन्थ का नाम अलंकारमहोदधि होने से अध्यायो को भी तरंग ही कहा गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ग्रन्थकार ने ये शब्द अपने गुरु नरचन्द्रसूरि के अनुकरण में किये है कि जिसने अपने ग्रन्थ 'कथारत्नाकर' के अध्यायो को तरंग ही कहा (देखो पैरा २४०)।

२५७. लेखक द्वारा इस ग्रन्थ की मौलिकता का कोई दावा नहीं किया गया है। वह कहता है कि ऐसी कोई भी बात नही है कि जिस पर अलंकारशास्त्री पूर्वाचार्यों ने नहीं विवेचन किया हो और इसलिए यह रचना उनकी उक्तियों का चयन मात्र ही है (पृ. २)। प्रशस्ति श्लोक १० में वह कहता है कि उसने

इसकी रचना विद्वानों के चित्तविनोदार्थ अपने गुरु द्वारा दिए व्याख्यानों को सुन कर और अपनी व्युत्पत्ति के लिए की है। परन्तु स्पष्ट बात तो यह है कि अलंकारमहोदधि ने काव्यप्रकाश के विषय को उसके वैज्ञानिक संगठन में हस्तक्षेप किए बिना ही ऐसा सरल और व्यापक कर दिया है कि वही इस ग्रन्थ का महान् गुण हो गया है। लेखक ने कुछ आनुषंगिक बातें भी इसमें जोड़ दी हैं जो काव्यप्रकाश में प्राप्त नहीं थीं। इससे इस ग्रन्थ का आकार भी बहुत विस्तृत हो गया है। उसने या तो प्राचीन अलंकार ग्रन्थों से अथवा साधारण संस्कृत साहित्य से नये दृष्टान्त भी अनेक दिए हैं और इससे उसका यह ग्रन्थ अधिक पठनीय हो गया है। मम्मट के दृष्टान्तों की संख्या ६०२ और अलंकारमहोदधि में उनकी संख्या ६८२। नरेन्द्रप्रभ ने काव्यप्रकाश के दस अध्यायों के विषयों के साथ अपने ग्रन्थ के आठ ही अध्यायों में बराबर न्याय कर दिया। काव्यप्रकाश का दूसरा और तीसरा अध्याय अलंकारमहोदधि के दूसरे अध्याय ही में आ गये हैं, और उसके छठे अध्याय का विषय बिलकुल छोड़ ही दिया गया है। इस प्रकार दो अध्यायों की बचत कर ली गई है। अलंकार महोदधि के लेखक पर मम्मट का इतना अधिक प्रभाव है कि कितने ही स्थलों पर उसकी कारिकाएँ और वृत्ति कश्मीरी गुरु के शब्दों और उद्धरणों से ओतप्रोत हैं (देखो पृ. ६, ७, १४-१५, ४३, ४८, ५१-५६, ५७, ५८, १२१, १८०-८२, १८३, १८४-८६, १६७, १६६ आदि)। परन्तु साथ ही अलंकारमहोदधिकार पर हेमचन्द्र के काव्यानुशासन का भी प्रभाव कुछ दीखता है। तरंग १. १० में कविलक्षी शिक्षा शब्द की व्याख्या करते हुए लेखक ने काव्यानुशान पर लिखी अलंकारचूडामणि से कवि-शिक्षा प्रकरण को अक्षरशः और सारा का सारा ही प्रायः उद्धृत कर दिया। फिर काव्य की उसकी परिभाषा काव्यप्रकाश की अपेक्षा काव्यानुशासन के अधिक अनुरूप है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक ने काव्यानुशासन की दो टीकाओं अर्थात् अलंकारचूडामणि और विवेक से अनेक दृष्टांत ले लिए हैं जैसे कि अचू. २. १७० से ५ वाँ; अचू. १. ७१ से २५६ वाँ और विवेक से ४२५-२८१ वाँ। नरेन्द्रप्रभ ने माणिक्यचन्द्र का संकेत अवश्य ही देखा होगा क्योंकि काव्य का उद्देश्य बतानेवाली कारिका की टीका करते हुए (पृ. ६) उसने माणिक्यचन्द्र (१ २) के समान ही भट्ट नायक के हृदयदर्पण से भी उद्धरण दिये हैं। माणिक्यचन्द्र ने १ ३ में काव्यकौतुक से 'प्रज्ञा नवनवोन्मेष०' उद्धृत किया है और यही नरेन्द्रप्रभ की वृत्ति के १.७ में भी उद्धृत है जहाँ कि प्रतिभा के विषय की चर्चा की गई है। इन सब प्रभावों के बावजूद भी यह तथ्य तो रही जाता है कि अलंकारमहोदधि में काव्यप्रकाश का अति

सूक्ष्मता से अनुसरण है हालाँकि उसमें विषय सामान्यतया अनुपूरित, व्यापक और सरल ही हुआ है।

२५८ वृत्ति के प्रारम्भ में, परम ज्योति की प्रार्थना करने के पश्चात् लेखक ने अपने गुरुओं की गुर्वावली और अपने आश्रयदाता का वंशवृक्ष दिया है (श्लो. १-११) और उसके गुरु नरचन्द्र की आज्ञा से यह ग्रन्थ रचा गया यह कहा है क्योंकि वस्तुपाल ने ऐसे ग्रन्थ की गुरु से प्रार्थना की थी (श्लो १५-२१)। पहले अध्याय का शीर्षक है, प्रयोजन-कारण स्वरूपभेदनिर्णय[1]। इसमें लेखक ने सामान्य काव्य की परिभाषा और प्रयोजन बताया है और उसके तीन भेदों यथा—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अवर की व्याख्या ही है। शब्द-वैचित्र्यवर्णन[2] दूसरे अध्याय का शीर्षक है और इसका विषय है शब्दों की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ यथा—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। २. १६-२० में लेखक ने बन्ध या रचना के संघात की परिभाषा में 'अर्द्ध-नारीश्वरस्पर्द्धि यत्र संघट्टनक्रम' कहा है और बन्धोत्पन्न सौन्दर्य को काव्य में अत्यन्त महत्त्व की वस्तु बताया है। तीसरा अध्याय ध्वनिनिर्णय[3] है। अभिधा और लक्षणा का विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार व्यंजना अथवा ध्वनि का विचार करता है। ध्वनि के विषय पर वह काव्यप्रकाश का अनुसरण करता है, परन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ ध्वन्योत्पादन में कितना दान देती है इसे स्पष्ट करने के लिए उसने अनेक नए दृष्टान्त दिए हैं (पृ. ४६-५३)। रस सम्बन्धी अंश काव्यप्रकाश के चौथे उल्लास से ज्यों का त्यों ही ले लिया गया है हालाँकि नौ भावों का विचार करते हुए (३.१३-२५) ग्रन्थकार का विवेचन दृष्टान्तों और अन्य सहायक बातों में अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण है। ग्रन्थ-कार ने व्यंजना या इंगित संज्ञा के उनतालिस भेद किए हैं (३.६३), और फिर उनके संकर और संसृष्टि आदि भेदों को लेकर ६१२३ प्रभेद कर दिए हैं (३.६४), जब कि काव्यप्रकाश (४.४४) मे इन प्रभेदों की संख्या १०४५५ तक बताई है। अन्त में (३.६४-६५) ग्रन्थकार कहता है कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है और वह अलंकार्य होने के कारण स्वयं ही अलंकार नहीं बन सकती है और इसलिए रसवत् अलकार नहीं हो सकता है जैसा कि कुछ

---

१. तु. काप्र, अध्याय १ प्रयोजन-कारण-स्वरूपविशेषनिर्णय।
२. तु वही, अध्याय २ शब्दनिर्णय।
३. तु. वही, अध्याय ३-४ अर्थव्यंजकतानिर्णय और ध्वनिनिर्णय।

अलंकारशास्त्रज्ञ कहते हैं। अलंकारमहोदधि का सारा तीसरा तरंग काव्यप्रकाश के चौथे अध्याय का एक लम्बा और सरलीकृत संस्करण है, ऐसा भी कहा जा सकता है।

२५६ 'गुणीभूतव्यंग्यप्रदर्शन'[1] नाम का चौथा तरंग ध्वनि के गौण प्रभेद पर ही है और दोषव्यावर्णन[2] नाम का पांचवाँ तरंग काव्य-दोषों का बहुत लम्बा वर्णन करता है। इस तरंग में कितनी ही कारिकाओं और उसकी वृत्ति की वाक्य-रचना पर मम्मट का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है, यही नहीं कहीं-कहीं तो वह अक्षरशः उद्धृत कर दिया गया है। छठे तरंग का शीर्षक है गुणनिर्णय[3] और इसमें काव्य के तीन गुण यथा—माधुर्य, ओजस और प्रसाद का विवेचन किया है। ग्रन्थकार ने यहाँ भी सामान्य रूप से मम्मट का अनुसरण किया है, परन्तु उसका विवेचन अधिक ब्यौरेवाला और स्पष्ट है। सातवाँ शब्दालंकार[4] तरंग है इसके सामान्य निरूपण में मम्मट का अनुसरण करते हुए भी इस ग्रन्थकार ने अधिक उपविभाग और अनेक नए दृष्टान्त दिए हैं। आठवाँ तरंग अर्थालंकारवर्णन[5] है और इसमें अर्थालंकारों का निरूपण है। ग्रन्थकार ने यहाँ कुल ७० अलंकारों का निरूपण किया है जब कि उसके आदर्श काव्यप्रकाश में ये कुल ६१ ही हैं और हेमचन्द्र ने ३१ सूत्रों में २९ अलंकारों का निरूपण किया है। सामान्यतया मम्मट का अनुसरण करते हुए भी हमारे ग्रन्थकार ने अपने अलकारों की योजना भिन्न रीति से ही की है, अर्थात् उपमा के स्थान में अतिशयोक्ति से उसका प्रारम्भ किया है। उसने निम्नलिखित नौ अर्थालंकारों का दृष्टांत सहित निरूपण किया है जो मम्मट में नहीं मिलते हैं, यथा—उल्लेख, परिणाम, विकल्प, अर्थापत्ति, विचित्र, रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी और समाहित (समाधि से भिन्न)। रसवत् आदि अलंकार सिद्धान्त रूप से ग्रन्थकार को यद्यपि स्वीकृत नहीं है फिर भी उसने अपने सर्वग्राही निरूपण में उन्हें इसलिए सम्मिलित कर लिया है कि कुछ अन्य अलंकारशास्त्रियों ने उन्हें स्वीकृत कर लिया है[6]। सरल और शास्त्रीय पद्धति से भावों के उपविभा-

---

१. तु. वही, अध्या. ५ ध्वनिगुणीभूतव्यंग्य संकीर्ण-भेदनिर्णय।

२. तु. वही, अध्या. ७ दोषदर्शन।

३. तु. वही, अध्या. ८ गुणालंकारभेदनियतगुणनिर्णय।

४. तु. वही, अध्या. ९ शब्दालंकारनिर्णय।

५. तु. वही, अध्या. १० अर्थालंकारनिर्णय।

६. रसादयः पूर्वं प्रतिपादितरूपाः सर्वेऽप्येते यत्र क्वचिदात्मानं गुणीकृत्या-

जन और परिभाषण एवं बहु दृष्टांतीकरण से ग्रन्थकार ने अपना यह ग्रन्थ परम वैज्ञानिक और रुचिकर बना दिया है। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति न होगा कि अलंकारमहोदधि ग्रन्थ हेमचन्द्र के और दोनों वाग्भट्टों के पश्चात् जैनाचार्य की अलंकारशास्त्रों पर एक अत्यन्त महत्व की रचना है।

२६०. यहाँ जिस प्रकार से विषय का निरूपण किया गया है और मम्मट में प्राप्त सामग्री का जिस प्रकार से सहायक सामग्री द्वारा परिवर्धन किया गया है और जिस प्रकार प्रमाण एवं दृष्टान्त उल्लेख किये गये हैं उन सब को ध्यान में लेते हुये यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि नरेन्द्रप्रभ सूरि बहु-श्रुत विद्वान् थे। प्रमाण निम्नलिखित दिए गये हैं—हृदय-दर्पण (पृ. ६) और उसके लेखक भट्ट नायक (पृ. ५७), वाक्यपदीय (पृ. १५) और महाभारत (पृ. १५–१६), मुकुल (पृ. २६), कैयट (पृ. ४४) भरत और उसका टीकाकार (पृ. ५५), लोल्लट (पृ. ५६), शंकुक (पृ. ५६), अभिनवगुप्त (पृ. ५८), हेमचन्द्र का व्याकरण, हालांकि उसका नाम स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है (पृ. १६६, २३८, ३१५, ३३२), ध्वनिकार (पृ. १८२, १८३), वामन (पृ. १६० और कुण्टक (पृ. २०१) जिसका नाम मुद्रित प्रति में कु 'कुन्तु(त्त)क' छपा है। नीचे लिखे ग्रन्थ और ग्रन्थकारो का भी उल्लेख है—कालिदास (पृ. ६), भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, शकुन्तला और कादम्बरी (पृ. ८), आनन्दवर्धन (पृ. ११), कणाद (पृ. १५), कुमारसम्भव (पृ. १८०), वेणीसंहार (पृ. १८०), वीरचरित (पृ. १८१), हयग्रीववध (पृ. १८१), शिशुपालवध (पृ. १८१), रत्नावलि (पृ. १८१), अर्जुनचरित (पृ. १८३), नागानन्द (पृ. १८३) और हर्षचरित (पृ. २५०, ३०४)।

कविशिक्षा साहित्य का विकास

२६१. अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता और उसकी दो स्वोपज्ञ टीकाएँ यथा—कविशिक्षा और कविपरिमल, कविशिक्षा—विषय पर महत्त्व की कृतियाँ

परस्य रसादेरेवांगतामवयवतां धारयन्ति तस्मिन् विषये इमे रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादिनामानोऽलंकाराः कैश्चिदलंकारकारैरंगीकृता अंगीकृताः (पृ० ३२८)।

यहाँ यह बता देना चाहिये कि मम्मट ने रसवत् अलंकार का उल्लेख गुणीभूतव्यंग्य का विवेचन करते हुये किया है (तु. काव्यप्रकाश पर, ५.२)।

है। ये कविपदेच्छुकों के लिये पाठ्य-पुस्तक रूप से रची गई थीं। कविशिक्षा नाम की टीका में मूल की सुव्यवस्थि और यथार्थ-रीति से व्याख्या की गई है। इसलिए यह मूल काव्यकल्पलता के साथ एक से अधिक बार मुद्रित और प्रकाशित भी हुई है। इसीलिए हम इसका विचार पहले करना चाहते हैं और परिमल का तदनन्तर। परन्तु इससे पूर्व हम कविशिक्षा साहित्य के ऐतिहासिक विकास का विहंगावलोकन कर लेना उचित समझते हैं। इन ग्रन्थों में अलंकारशास्त्र के प्रथानुमोदित विषयों का सैद्धान्तिक, और परिभाषाओं सहित विवेचन नहीं किया गया है, परन्तु ये कवि को अपने व्यवसाय में सहायता देनेवाली व्यवहारोपयोगी रचनाएँ हैं। उनका प्रधान लक्ष्य कविशिक्षा अर्थात् कवि को अपनी कला में कौशल प्राप्त करने की शिक्षा देना ही है।..... अलंकारशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने निःसंदेह कहीं-कहीं कवि की व्यवहारिक शिक्षा की समस्या पर विचार किया है और यह भी अघटनीय नहीं है कि यह विषय समय पाकर पृथक् अध्ययन का लक्ष्य बन गया हो और इसलिए ऐसी उपयोगी पुस्तकों की वृद्धि हुई हो, जिनका अपेक्षाकृत बहुत पीछे का नमूना हमें अवश्य ही प्राप्त है[1]। डा० याकोबी के अनुसार काव्यकला सम्बन्धी ऐसे काव्यशिक्षा-ग्रन्थ मूलतः सम्बन्धित विषयों पर सूचनाएँ या सम्मति देने और व्यवहारोपयोगी नुस्खे बताने से अधिक आगे नहीं जाते थे। परन्तु कालान्तर में साहित्य में पृथक् अध्ययन का ही यह विषय हो गया जब कि काव्य-रचना में सैद्धातिक दृष्टिकोण अधिकाधिक विचारणीय होने लगा[2]। कवि की सांस्कृतिक सज्जा और उसके व्यवहारिक प्रशिक्षण को प्राचीन भारत में बहुत ही महत्त्व दिया जाता था। कवि को ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में बहुत लम्बा परिश्रम करना पड़ता था और तब वह सहृदयों को अपनी कविता से मुग्ध कर पाता था। भामह कवि के प्रशिक्षण-महत्त्व से परिचित था ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वामन की अपेक्षा उसके इस विषय पर मन्तव्य संक्षिप्त हैं। वामन ही सब से पहले इस विषय पर बहु श्रमपूर्वक विचार करता है। स्वाभाविक काव्यमयी देन या प्रतिभा की अत्यन्त आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते हुए सत्कवित्व, भामह १.४), सभी प्राचीन और अर्वाचीन लेखक अध्ययन और अनुभव की आवश्यकता पर भार देने में एकमत हैं। इस ज्ञान और कला की अनेक शाखाओं में कवि को निष्णात होना परमावश्यक है। भामह ने (१.९) सबसे पहले ऐसी सूची दी है

---

१. दे, वही, भाग २, पृ. ३५६-५७। २. वही, पृ. ४२।

और उसमें व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोश, ऐतिहासिक कथाएँ, संसार की रीति-नीति, तर्क और ललित कला को काव्य-सहायक सामग्री बताया है। रुद्रट की दी सूची (१.१८) से यह बहुतांश में मिलती है। वामन (१.३, १–२०) ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है और वह कवि को व्याकरण, कोश, छन्द, ललितकला, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति और सर्वतोपरि संसार की रीति-नीति का ज्ञान होना परमावश्यक कहता है[1]। राजशेखर की काव्यमीमांसा (लगभग ९०० ई०) जो कि अपेक्षाकृत प्राचीन काल की कृति है, में कवि-शिक्षा का विषय प्रकृत अलंकारशास्त्र के विषयों के साथ ही मिला दिया गया है। यही नहीं उसमें और भी अनेक बाह्य विषयो पर कुछ उड़ता हुआ सा विवेचन है और इसमें साधारण भूगोल, कवियों की प्रचलित प्रथा, ऋतु वर्णन, कवि गोष्ठी वर्णन आदि भी कवि के लिए महत्त्व के विषय कहे गये हैं।

२६२. इस दृष्टि से कश्मीरी महापण्डित क्षेमेन्द्र (११ वीं सदी) की दो कृतियाँ यथा— औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण, द्रष्टव्य हैं क्योंकि वे नये कवियो की परिचालना के लिए ही लिखी गई मालूम पड़ती हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी वे कविशिक्षा की परिपूर्ण पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं। कतिपय व्यवहारी विषयों पर अवश्य ही वे विवेचन करती हैं, इसलिए वे उपयोगी अवश्य कही जा सकती हैं। तीन प्रमुख जैन अलकारशास्त्रज्ञ यथा हेमचन्द्र एवं वाग्भट्ट द्वय ने कविशिक्षा के योग्य पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत की जाय इसी उद्देश्य से अपने ग्रन्थ लिखे थे और इसलिए सामान्य सिद्धांतों का विचार करते हुए उन्होंने काव्य रचना में व्यवहारोपयोगी विषयों का भी उनमें समावेश किया। यह जानने की बात है कि हेमचन्द्र और दूसरे वाग्भटे दोनों ने ही क्षेमेन्द्र और राजशेखर[2] से बहुत नकल किया है। परिपूर्ण कविशिक्षा का उपलब्ध प्राचीन-तम ग्रन्थ भी गुजरात के एक जैनाचार्य का है। उस ग्रन्थ का नाम ही कवि-शिक्षा है एवं उसका लेखक है—जयमंगल आचार्य। इस ग्रन्थ की अति प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति खम्भात के जैन भण्डार में सुरक्षित है[3]। इस प्रति में एक श्लोक अणहिलवाड़ पाटण के राजा सिद्धराज जयसिह की प्रशंसा में मिलता है। इसलिए इसका लेखक उस राजा का समकालिक और बारहवीं सदी ईसवी के प्रथमार्द्ध में हुआ हो ऐसा लगता है। अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता इसके सौ वर्ष पीछे की है। विनयचन्द्र की कविशिक्षा भी इस विषय की बड़ी भारी पुस्तक है और वह

---

१. वही, पृ. ५४। २. वही, पृ. ३६६।

३. पेटरसन, प्रतिवेदना १, पृ. ७८-८०।

इसलिए विशेष उपयोगी है कि उसमें इतिहास, भूगोल और मध्यकालीन भारत की साहित्यिक स्थिति की अनेक सूचनाएँ मिलती है। पाटण के जैन भण्डार में विनयचन्द्र के इस ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रति उपलब्ध है[1]। लेखक का समय अनुमानतः १३ वीं सदी ईसवी का प्रथमार्द्ध मान लिया जा सकता[2] है क्योंकि उसने कवि बिल्हण का उल्लेख किया है और इसलिए वह १२ वीं सदी के प्रारम्भ से पूर्व का तो हो ही नहीं सकता है[3]।

अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता और उसकी टीका कविशिक्षा

२६३. अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता इस प्रकार कविशिक्षा पर उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थो में से एक है। उसकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता देखते हुए यह सहज ही माना जा सकता है कि कवित्व की व्यवहारिक बातो पर यह अत्यन्त ही प्रामाणिक और शिक्षाप्रद ग्रन्थ है। यह काव्यकल्पलता कारिकाओं के रूप में है। काशी संस्कृत ग्रन्थमाला से प्रकाशित इसके संस्करण में कारिकाओ की संख्या ७६८ हैं। कविशिक्षा नामक वृत्ति इन कारिकाओं पर क्रमागत टीका है। मूल का वह बिलकुल अनुसरण करती है। पक्षान्तर मे परिमल कारिकाओं पर मुक्त और सरल व्याख्या है। कविशिक्षा वृत्ति-के ग्रन्थाग्र हैं ३३५७ श्लो.क[4]। काव्यकल्पलता और उसकी इस वृत्ति के मुख्य विषयों के सार से कविशिक्षा का साधारण क्षेत्र और प्रकृति हम सहज हो जान सकेंगे।

२६४. काव्यकल्पलता चार प्रतानों या अध्यायों में विभक्त है यथा—१. छन्द-सिद्धि, २. शब्दसिद्धि, ३. श्लेषसिद्धि और ४. अर्थसिद्धि। इन अध्यायो के स्तवक नाम से उपविभाग किए गये हैं। (१) छन्दःसिद्धि अध्याय का पहला स्तवक है अनुष्टुप्-शासन। संस्कृत काव्य में अनुष्टुप् छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त होने से लेखक ने इस छन्द में की जानेवाली रचना के लिए व्यवहारिक सुझाव सब से पहले दिए हैं और मात्रा एवं शब्दांश की जाँच की रीति बताई है। (२) दूसरा स्तवक छन्दोभ्यास का है। इसमें ६ से २१ पादाक्षरों के मुख्य छन्द गिनाये गए है और आर्या छन्द की विशिष्टता वर्णन की गई है। छन्द रचना में व्यवहारिक कौशल प्राप्त करने के लिए लेखक ने कथा, नगर, दैनिक कार्य एवं संसार व्यवहार आदि के वर्णन का अभ्यास करने की सलाह दी है कि जिससे कवि का अध्ययन गहन एवं व्यापक हो सके। तदनन्तर अपने अथवा अन्य कवियों के

---

१. पामंसू, पृ. ४६-५०। २. अम, प्रस्ता., पृ. १८।
३. पामंसू, पृ. ४१। ४. जिरको, पृ. ८६।

भावों को उसी या अन्य वृत्त में कहने और एक वृत्त को दूसरे वृत्त में बदल देने के अभ्यास करने का कहा गया है। इन सब अभ्यासों के उदाहरण भी लेखक ने दिये हैं और इस प्रकार अध्येता को व्यवहारिक सूचनाएँ की हैं। जब अध्येता भिन्न-भिन्न वृत्तो में रचना करने लग जाए तब उसे छन्दों का मर्म समझने (कारिका ३१) और समता असमता की पहचान द्वारा अपने आपको अन्य वृत्तो मे प्रवीण बनने का कहा गया है। जैसे कि भद्रिका छन्द के अन्त में एक लघु और एक गुरु वर्ण जोड़ देने से वह रथोद्धता छन्द में बदल जाता है। केवल गुरु वर्ण जोड़ने से ललिता बन जाता है। वंशस्थ के सातवें वर्ण के बाद ह्रस्व वर्ण जोड़ने से वह मंजुभाषिणी छन्द में बदल जाता है। ऐसे ही अन्य छंद भी रूप बदल लेते हैं (पृ. ११)। कुछ छन्दो या वृत्तो का इस प्रकार अध्ययन कर लेने पर नया कवि मुख्य मुख्य छन्दो में प्रवीण हो सकता है। इस उपविभाग के अन्त में ग्रन्थकार ने छन्दों में यति के स्थान का विवेचन किया है। (३) तीसरा उपविभाग या स्तबक छन्दःपूरण के लिए सामान्य शब्दो का है जो तत्काल कविता करने मे या समस्यापूर्ति में विशेष रूप से उपयोगी होते है। लेखक ने एक से चार वर्णों या अक्षरों के शब्दो की सूची दी है जो अनुष्टुप् एवं अन्य वृत्तों के प्रारम्भ और अन्त में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। अनुष्टुप के दोनों ही पादों के ऐसे उदाहरण दे कर लेखक ने अन्य प्रमुख वृत्तो का भी उसी प्रकार विचार किया है। (४) चौथा उपविभाग या स्तबक वादशिक्षा का है[२]। ग्रन्थकार ने वाद की परिभाषा इस प्रकार की है—

---

१. प्रवीणता द्योतक शब्द 'सिद्धि' में समाप्त होने वाले अध्याय शीर्षक विशेष रूप से विचारणीय हैं, क्योंकि महापण्डित अकलंक (लगभग ६४३ई.) के सिद्धिविनिश्चय के सभी अध्यायों के शीर्षकों में अन्त में भी यह शब्द आता है, और वेदान्त के कुछ ग्रन्थ भी जैसे कि ब्रह्मसिद्धि, अद्वैतसिद्धि आदि भी ऐसे ही सिद्धि शब्दांत हैं। उदयप्रभसूरि को एक ज्योतिष के ग्रन्थ को भी आरम्भसिद्धि नाम दिया गया है (देखो पैरा ११६ व ३०१)। इसलिए काव्यकल्पलता के अध्यायों का सिद्धि-नामकरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस विद्वत् और दार्शनिक परम्परा का अनुसरण ही है जो पाण्डित्य एवम् आध्यात्मिक उच्चतम सफलता की सिद्धि को महत्व देती थी।

२. प्राचीन भारत में वाद को सभी शास्त्रों में समान महत्त्व प्राप्त था और इसीलिए वाद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी पाए जाते हैं। बौद्ध महापण्डित वसुबन्धु

वादोऽनुप्रासयुक्तोक्तिः स्वोत्कर्षः परगर्हणा ।
कुलशास्त्रादिसंप्रश्नः स्वशास्त्राध्ययनप्रथा ॥ —का ४४ ।

अर्थात् वाद उसे कहते हैं कि जिसमें अनुप्रासपूर्ण उक्तियाँ हों, अपनी बड़ाई और प्रतिपक्षी का तिरस्कार हो, प्रतिवादी के कुल और ज्ञान का प्रश्न हो एवं स्वज्ञान का वर्णन हो। टीका में इन सब का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है (पृ, २ –२४) और अनुप्रास बनाने में उपयोगी शब्दो की सूची भी वहाँ दे दी गई है (पृ २०–२१)। उन उदाहरणों से हम जान सकते हैं कि विद्वान् और कवि प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के राजाओ और मंत्रियो की सभाओं में किस प्रकार परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते थे। इस उपविभाग का शीर्षक 'वादशिक्षा' यह बताता है कि इसमें वाद या शास्त्रार्थ का विशेष रूप से विवेचन है जिनके प्राचीन साहित्य में अनेक वर्णन मिलते हैं। (५) पाँचवें स्तबक में शीर्षक है वर्ण्यस्थिति और उसमें कवियो के वर्णन योग्य विषय गिनाए गये है जैसे कि राजा, मत्री, पुरोहित, रानियाँ, कुमार, सेनापति, देश, ग्राम, नगर, सागर, नदी, उद्यान, अटवी, आश्रम, राजनय, राजदूत, युद्ध, मृगया, अभियान, घोड़ा, हाथी, सूर्य-चन्द्र का उदय और अस्त, विवाह, विरह, पुष्पचयन, जल-क्रीडा कामक्रीड़ा आदि आदि (कारिका ४५)। केवल गिना देकर ही संतोष न करके लेखक ने वर्णन करने के कुछ सकेत भी दिए है क्योंकि उसके ग्रन्थ का मूलसूत्र लक्ष्य सिद्धात ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार-कौशल है। मंत्री के विषय में ग्रन्थकार ने यह कहा है—

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिकृतश्रमः ।
क्रमागतो वणिक्पुत्रो भवेद्राज्यविवृद्धये ॥ —कारिका ५५ ।

यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ मन्त्री वैश्यकुल से आने वाला कहा गया है, क्योंकि मध्यकालीन गुजरात में व्यापारी लोग राजनीतिक सेवा किया करते थे और ग्रन्थकार का आश्रयदाता वस्तुपाल भी वैश्य या वणिक् वर्ग का ही सदस्य था।

अन्त में ग्रन्थकार ने कविसमय जिनका कि संस्कृत साहित्य में अनुसरण

ने वादविधि नाम का एक ग्रन्थ लिखा था कि जो आज केवल तिब्बती भाषानुवादित ही उपलब्ध है (विण्टर्निट्ज, भाग २, पृ. ६३२; सन्मतितर्क, प्रस्ता; पृ. ७९), और सिद्धसेन दिवाकर ने भी वादोपनिषद्द्वात्रिंशिका रची है, जो इनकी उपलब्ध इक्कीस द्वात्रिंशिकाओं में सातवीं है।

किया जाना पाया जाता है, की अपने अध्येताओं की परिचालना के लिए एक सूची दे दी है।

२६५. दूसरा अध्याय, शब्दसिद्धि भी चार उपविभागों या स्तबकों में विभाजित किया गया है। (१) पहले स्तबक में रूढ़, यौगिक और मिश्र शब्द समझाये गए हैं और प्रचुर उदाहरण यह बताने को दिए गए हैं कि जो शब्द साहित्य में बहु प्रचलित हैं, वे ही काव्य में प्रयोग किए जा सकते हैं। (२) दूसरे स्तबक में वास्तविक या काल्पनिक पदार्थों या व्यक्तियों के यौगिक पर्यायों की जो काव्य में सामान्यतया मिलते हैं, सूची दी गई और इन्हीं में से उपयुक्त शब्द पसंद करने की सलाह दी गई है कि जिससे वह इच्छित स्वल्पाक्षरता या संस्कारिता प्राप्त करने में सफल हो। (३) तीसरे स्तबक में अनुप्रास में सफलता प्राप्त करने के लिए शब्दों की एक लम्बी सूची दी गई है। इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने एक अन्य सूची उन शब्दो की भी दी है कि जिनके अन्त में क से लेकर म वर्ण पर्यन्त पाए जाते हैं कि जिससे अनुप्रास और यमक पूर्ण काव्य लिखने में सहायता मिले। (४) चौथे स्तबक में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की विस्तार से व्याख्या है। अनन्तर लेखक ने काव्य में उपयोगी लाक्षणिक शब्दों की (क १८३–२०६) सूची दी है और उन शब्दो को उपमा एवं उपमेय के लिए उपयोग करने की रीति भी समझाई है। इस उपविभाग पर ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रभाव प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है, जो अमरचन्द्र के बहुत पूर्व ही स्थापन हो चुका था।

२६६. श्लेषसिद्धि नामक तीसरे अध्याय में श्लेपका विचार है कि जिनका संस्कृत साहित्य-काव्य में बहुत हो प्रचार रहा है। इसके पाँच विभाग किए गये हैं। (१) पहला स्तबक श्लेषव्युत्पादन का है जो विभिन्न छेद द्वारा भिन्न भिन्न अर्थ किस प्रकार होना है यह बताता है। यहाँ श्लेष में सफल होने के लिये उपयोगी शब्दों की सूची भी दी गई है। (२) दूसरे सर्ववर्णन में उस श्लेष का विचार है कि जहाँ एक वस्तु के वर्णन में श्लेष के द्वारा अन्य वस्तु के गुणधर्म सूचित होते हैं। (३) तीसरा विभाग उद्दिष्टवर्णन का है जो भिन्नार्थक शब्दों के प्रयोग से अनेक अर्थ प्रकाशित करता है। (४) चौथा विभाग अद्भुतविधि नामक है। इसमें वर्ण, भाषा, लिङ्ग, पद, प्रकृति और प्रत्यय तथा वचन और विभक्ति से होनेवाले आठ प्रकार के श्लेषों का वर्णन है। यमक रचना के उपायों का निर्देश है और विरोधाभास प्रश्नोत्तर और पुनरुक्तवदाभास अलंकारों के उदाहरण दिये गये हैं। (५) पाँचवाँ चित्र स्तबक है। इसमें चित्र काव्य का वर्णन है। लेखक ने चित्र-काव्य रचने में उपयोगी शब्दों की सूची दी है जैसे

कि एकाक्षरी और द्वयक्षरी शब्द (पृ. ८६-८७)। एकाक्षरी धातु (पृ. ९२-९४) और ऐसी शब्द सूची कि जो उल्टे, सीधे समान ही पढ़े जा सकें (पृ. १००)। भिन्न जातियों के चित्र-काव्यों के जो उदाहरण दिए गये हैं वे हैं—स्वरचित्र, व्यंजनचित्र, गतिचित्र, आकारच्युत, मात्राच्युत, वर्णच्युत और भिन्न-भिन्न प्रकार के गूढ़।

२६७ अर्थसिद्धि का चौथा अध्याय सात खण्डों का है। (१) पहला खंड अलंकार के विचार का है। सबसे पहले उसमें उपमा का विचार किया गया है। ग्रन्थकार ने उपमाद्योतक शब्दों की एक सूची उसमें दी है और विशिष्ट उपमानों के उपयुक्त विशिष्ट उपमाओं का एक निघण्टु भी दे दिया है (पृ १०५-०७)। उत्तम उपमावली कविता करने में कुशल होने के लिए अनेक व्यवहारी सूचनाएँ भी ग्रन्थकार ने यहाँ दी हैं क्योंकि ग्रन्थकार के अनुसार—उपमायां हि सिद्धायां बहलंकारसिद्धयः (कारिका ३६), उसने दृष्टांत द्वारा यह बताया है कि उपमा के थोड़े से परिवर्तन से ही रूपक, अनन्वय, स्मरण, सदेह अपह्नुति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि अनेक प्रकार के अलंकार फलित हो जाते हैं (पृ १०९)। रूपक का बहुत विस्तार से विचार किया गया है। रूपक की रचना किस प्रकार की जानी चाहिए और एक सा ही भाव भिन्न-भिन्न रीति से कैसे दर्शाया जाना चाहिए, यह भी बताया गया है (पृ १११-१६२-४ दूसरा, तीसरा और चौथा खण्ड भिन्न रंग, कार्य और रूप के पदार्थों के वर्णन की रीतियों के हैं। (५) पाँचवे खण्ड में विस्तार से समझाया गया है कि कवि को कैसे भिन्न भिन्न पदार्थों के और गुणों, आधार, परिवार सम्बन्धी कल्पना करके कवि किस प्रकार की रचना करे उसका सुन्दर वर्णन है। काव्य में सुकथन का प्रमुख आधार सादृश्य ही है (कारिका १६३) और इसलिए ग्रन्थकार ने सदृश पदार्थों की एक लम्बी सूची भी यहाँ दे दी है जैसे कि तीक्ष्ण, महत्तम, शुभ, अशुभ, शुद्ध, अशुद्ध, त्वरित, मंद, सबल, निर्बल, क्रूर, दयार्द्र, महाबोध, सुन्दर-पुरुष महान् धनुर्धर, विद्वान् राजा, आदि-आदि (कारिका १६४-२४८)। (६) यह छठा विभाग संस्कृत काव्य अध्येता को बहुत ही उपयोगी है क्योंकि इसमें संख्यावाची शब्दों की सूची दी है। इस सूची में १ से २० तक की और १०० व १००० की संख्या के द्योतक शब्द दिए हैं (१४३-१४८)। मध्यकालीन संस्कृत ग्रन्थकारों में यह मान्य प्रथा रही है कि वे अपने ग्रन्थ का रचना-वर्ष प्रत्यक्ष अंकों में नहीं, अपितु संख्या-शब्दों द्वारा घुमाफिरा कर कहें (तु पैरा १२६)। (७) सातवें खण्ड में समस्या-पूर्ति के विषय में सूचनाएं और सुझाव दिए गए हैं। समस्या पूर्ति करना संस्कृत कवियों में एक महत्वपूर्ण

कार्य माना जाता था और विशेषतया राजदरबारों में या वादसभा में; और यह ग्रन्थकार इसी लिए अपनी कविशिक्षा की पाठ्य-पुस्तक में इस विषय पर भी व्यवहारी सूचनाएं देना नहीं चुका है।

काव्यकल्पलता की दूसरी स्वोपज्ञ वृत्ति = परिमल

२६८. काव्यकल्पलता पर दूसरी स्वोपज्ञ वृत्ति—परिमल वास्तव में टीका नहीं कही जा सकती है। यह तो मूल ग्रन्थ की अनेक बातों पर मुक्त, और असंलग्न चूर्णी मात्र है। यह ग्रन्थ अभी अमुद्रित है। खेद है कि परिमल की दोनों ही प्रतियाँ जो कि मैं पाटण के जैन भण्डारों से प्राप्त कर सका था, दूसरे अध्याय शब्दसिद्धि के प्रारम्भ ही में, समान स्थान पर ही समाप्त हो जाती हैं और इसलिए इसका सम्पूर्ण रूप में अध्ययन नहीं कर सका हूँ। इसी ग्रन्थ की एक तीसरी प्रति का परिचय श्री ही. र कापड़िया ने पद्मानन्द महाकाव्य की अपनी प्रस्तावना पृ. ४२ में दिया है। परन्तु वह भी अपूर्ण है और इसलिए हमें उपयोग नहीं है। जैन ग्रन्थावली में परिमल के ग्रन्थाग्र ११२२ श्लोक दिए हैं[1]। परन्तु यह गलत मालूम पड़ता है। पाटण की प्रतियों का, जो दोनों ही दूसरे अध्याय के प्रारम्भ तक ही हैं, ग्रन्थाग्र श्री मुरारीलाल नागर ने ४५०० श्लोक गणना की है और इसलिए हम यह अनुमान कर सकते हैं कि चार अध्यायों की सम्पूर्ण टीका के ग्रन्थाग्र १० से ११ हजार श्लोक से कम नहीं हो सकते हैं। पहले अध्याय के द्वितीय खण्ड पर टीका करते हुए लेखक ने काव्य पर बहुत लम्बा विचार किया है और छन्दोनुशासन में किए हेमचन्द्र के विवेचन की भाँति ही यहाँ भी अपभ्रंश छन्दों पर विवेचन किया है। लेखक ने हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुए छः प्रकार की प्राकृतों के गुण भी यहाँ दिए हैं। पाँचवें खण्ड में अमरचन्द्र ने भिन्न-भिन्न विद्या, कला और भिन्न शस्त्रास्त्र, देव-देवियों के रूप, दर्शनों के सिद्धान्त और सामान्य ज्ञान के विषय जो कि कवि को अपनी कला में उपयोगी हों, उन सब को गिना दिया है। संस्कृत कवियो का शृंगार-रस बड़ा ही प्रिय विषय रहा है और इसलिए ग्रन्थकार ने कामशास्त्र का भी कामसूत्रों में कहे स्त्री-पुरुषो के वर्गीकरण से लेकर काम केलि तक के सभी विषयों का यहाँ वर्णन किया है। नायक, प्रतिनायक और नायिका के लक्षणों पर भी विवेचन किया है। सर्वजीवों की प्रकृतियों के वर्णन में यह टीका पाद-विहीन जीव, (जैसे कि सर्प), द्विपद (जैसे कि मनुष्य, देव और पक्षी , चतुष्पद और षट्पद जैसे कि मक्खी आदि जो कि काव्य रचना में उपयोगी होते हैं, का भी

---

१. जैन ग्रन्थावली, पृ. २१६; उसीके अनुसरण में जिरको, पृ. ८६।

विचार किया है। लेखक ने पौराणिक भूगोल और उसके काल में ज्ञात भारत-वर्ष के भूगोल पर भी कुछ लिखा है। काल के विभाग में काल के सूक्ष्म विभाग समय से प्रारम्भ कर वह वर्ष तक आता है और कहता है कि—

दैवज्ञानां च चैत्रादिर्लोकानां श्रावणादिकः। पत्र ६६-[1]

इससे मालूम पड़ता है कि अमरचन्द्र के युग में गुजरात के कुछ भागों में तो वर्ष का प्रारम्भ श्रावण मास से होना माना जाता था। यह भी द्रष्टव्य है कि जैनागम ग्रन्थों में से दो याने भगवतीसूत्र १८.१० और ज्ञाताधर्मकथा पृ. १०७ भी श्रावणादि वर्ष का उल्लेख करते हैं और कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधि. २. अध्या. ७) में भी ऐसा ही उल्लेख है। तदनन्तर लेखक ऋतुओं के सौष्ठव का वर्णन करता है विशेषकर वसंतऋतु का, वृक्षों के पुष्पित होने का, और उनके दोहद का। इस प्रकार कवि को उपयोगी बहुत-सी बातों का ब्यौरेवार विचार कर अमरचन्द्र पहले अध्याय के अन्तिम खण्ड पर अपना परिमल समाप्त कर देता है। इसके अनन्तर दूसरे अध्याय पर चूर्णी प्रारम्भ होती है। परन्तु दोनों ही प्रतियाँ जो मुझे मिलीं दूसरे अध्याय के दूसरे खण्ड के समाप्त होने के पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं। कविशिक्षा वृत्ति यौगिक शब्दों की सूची (दूसरे अध्याय का दूसरा खण्ड) पर कोई टिप्पण नहीं करती है जिस पर कि परिमल बहुत ही विस्तार से लिखता है। पक्षान्तर में परिमल पहला खण्ड यों ही छोड़ देता है जिस पर कि कविशिक्षा वृत्ति में टीका की गई है।

२६६ काव्यकल्पलता और उसकी दोनों ही टीकाएं व्यवहार का विचार करती हैं न कि काव्य के सिद्धान्त का। इसलिए उनमें प्रामाणिक आचार्यों के उद्धरण भी अधिक नहीं है। कविशिक्षा वृत्ति में अमरचन्द्र ने अपने ही ग्रन्थ छन्दोरत्नावली, मंजरी, परिमल और अलंकार प्रबोध[2] का उल्लेख किया है और एक स्थल पर तो उसने शाकटायन व्याकरण का हवाला भी दे दिया है (पृ. २८)। परिमल में हमें भरत (पत्र ६४), हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन (पत्र २६) और व्याकरण (पत्र ११) भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत देखते हैं।

---

१ परिमल के पत्रों की यहाँ बताई संख्या पाटण के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर की प्रति सं० १५११ के हैं।

२. तु. पैरा १६४ व १०६।

३. यथा धनपालस्य—नतसुरकिरीटसंघृष्टचरण, जय भगवति गीतजनैक-शरण०।

मालतीमाधव (पत्र ६१), का उल्लेख है। रघुवंश (पत्र १), कवि धनपाल (पत्र ६)[3], जो कि धारानगरी के राजा भोज का समकालिक था और १०वीं सदी में विद्यमान था, भी उद्धृत हैं। काव्यप्रकाश की संकेत टीका-लेखक माणिक्यचन्द्र सूरि (पत्र १)[1] से भी उद्धरण दिया गया है।

२७०. काव्यकल्पलता के विषयों का उपर्युक्त विश्लेषण यह प्रकट करता है कि कवि को काव्यकला का व्यवहारिक शिक्षण देने का उसमें किस प्रकार प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार अमरचन्द्र ने इस विषय को हस्तगत किया है उससे यह भी पता चलता है कि वह स्वयं भी ग्रन्थ में बताए अनुशासन पर चल कर ही इस कला में पण्डित हुआ होगा। राजा वीसलदेव के दरबारी कवियों द्वारा अमरचन्द्र के काव्यगुण की परीक्षा का प्रबन्धकोश का (देखो पैरा १०३) वर्णन इस दृष्टि से बड़ा ही रोचक है। प्राचीन भारत में कवि के लिए काव्य केवल आत्मप्रकाशन का साधन ही नहीं था परन्तु श्रोता-विशेष को भी अपने काव्य से प्रसन्न करना पड़ता था। जब कोई नई कृति प्रकाशित होती तो सर्व प्रथम वह काव्यनिष्णातों की सभा में जैसा कि राजशेखर आदि ने कहा है, प्रस्तुत की जाती और उनकी पसंदगी की मोहर उसके लिए प्राप्त करने की चेष्टा की जाती थी। इसलिए कवि अपने प्रस्तुत काव्य में काव्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता। आकांक्षी कवि को इन सब लक्षणों की पूर्ति करने की क्षमता अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता जैसी कृतियाँ दे देती है। ऐसे ग्रन्थों से हमें उन पद्धतियों का दिग्दर्शन हो जाता है कि जिनसे अध्येता काव्य रचना करना सीखते और सिखाए जाते थे बशर्ते कि उनमें कुछ स्वयंभू शक्ति हो। उक्त ग्रन्थ छन्दों की बारीकियाँ सिखाता है, काव्यालंकार सजाने की रीति बताता है, द्वयर्थक काव्य रचना के लाघव का शिक्षण देता है और अनुप्रास और तुकों की जटिल योजनाओं का सुकौशल-साधन करना बताता है, आशुकविता करना और पादपूर्ति एवम् शब्द समस्याओं की सफल पूर्ति की गूढ़ बातों का ज्ञान कराता है। यद्यपि यह ग्रन्थ आपाततः यान्त्रिक या यन्त्रवत् हो गया है फिर भी उदीयमान कवियों के लिए

---

१. यदुक्तं श्री माणिक्यसूरिभिः —

स्तुत्यं तन्नास्ति नूनं न जगति जनता यत्र वाचा विदध्या-
दन्योन्यस्पर्धिनोऽपि त्वयि तु शुभविधौ वादिनो निर्विवादाः।
यत्तच्चित्रं न किंचित् स्फुरति मतिमता मानसे विश्वमात-
र्माहि त्वं येन धत्से सकलनयमयं रूपमर्हन्मुखस्थाः॥

इसमें कितनी ही बातों की उपयोगी सूचना मिल जाती है। यह सब स्पष्ट ही घोषित करता है कि ग्रन्थकार काव्य कला में पूरा-पूरा सिद्धहस्त और अलंकारशास्त्र का महान् पण्डित था।

२७१. पीछे के अनेक लेखक काव्यकल्पलता से बहुत ही प्रभावित हैं। देवेश्वर (लगभग १४ वीं सदी) की काव्यकल्पलता इसका निकटतम अनुसरण करती है और कितने ही स्थलों पर तो देवेश्वर ने अपने पूर्वज की अक्षरशः नकल तक भी कर ली है। अधिकांश नियमों और परिभाषाओं की अक्षरशः नकल कर ली गई है और दृष्टांत श्लोकों का पुनरावर्तन कर दिया गया है[1]। यह नकल कहीं-कहीं ही नहीं अपितु योजना पूर्वक और सारे ही ग्रन्थ में की गई है। इससे हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि देवेश्वर के समक्ष अमरचन्द्र का यह ग्रन्थ अवश्य ही रहा होगा। केशवमिश्र (१६ वीं सदी) ने अपने अलंकारशेखर[2] में विषय का विवेचन अमरचन्द्र के इस ग्रन्थ से बहुतांश उद्धृत कर दिया है। परन्तु इस अलंकारशेखर में कविशिक्षा के अतिरिक्त अलंकार और छन्दशास्त्र के सामान्य विषय भी चर्चे गए हैं। यह सत्य कहना ही होगा कि कविशिक्षा के विषय में भारत भर के संस्कृतज्ञों में आज तक अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता एक अद्वितीय पाठ्य-पुस्तक का महत्व पा रही है।

---

१. दे, वही भाग १, पृ. २१२।

२. वही, पृ० २६१ आदि।

पन्द्रहवाँ अध्याय

व्याकरण ग्रन्थ

संस्कृत व्याकरण का सम्प्रदाय

२७२. जैसा कि सर्व विदित है छः वेदांगो या वेदाध्ययन की सहायक विद्याओ में एक व्याकरण भी है, जिनका मुख्य ध्येय धर्मग्रन्थो की संशुद्धि और सरक्षण ही रहा है। शाकल्य का तैयार किया हुआ ऋग्वेद का पदपाठ, प्रातिशाख्य और शिक्षा ऐसे ग्रन्थ हैं जिनसे पता चलता है कि वेदो को सुरक्षित रखने और विशुद्ध रूप में उच्चारण करने की हमारे पूर्वज कितनी चिंता रखते थे। यास्क (लगभग ७०० ई. पू.) के निरुक्त से हमे पता चलता है कि वेदो के मूल पाठ को लेकर व्युत्पत्ति और भाषा सम्बन्धी वाद किए जाते थे और यास्क के युग तक भाष्यकारो के विभिन्न वाद या सम्प्रदाय स्थापित भी हो गए थे। प्राचीन पाठो से सम्बन्धित व्याकरणीय समस्याओ का विवाद करते हुए वैयाकरणो को जन-साधारण की प्रचलित बोलचाल को भी कुछ मान्य कर लेना पड़ता था और इसी प्रवृत्ति ने कदाचित् आगे चल कर व्यावहारिक व्याकरण को भी जन्म दिया। सबसे पहला उपलब्ध व्याकरण, जिसमें धर्मशास्त्रो की आर्य भाषा के अतिरिक्त संस्कृत के प्रचलित अभ्यास या प्रयोग का विचार किया गया है। पाणिनि (लगभग ५०० ई. पू.) का ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' है जिसमें पूर्वज वैयाकरणो में नाम मात्र से उल्लेख यद्यपि शाकटायन (३.४.३.) आपिशलि (६ १.६१.), स्फोटायन (६.१ १२३), शाकल्य (१.१.१६) चक्रवर्मन (६ १.१२८), सेनक (५.४ ११२), गार्ग्य (८.३.२०), और गालव (६.३.६१) का किया गया है, फिर भी यह इस बात की साक्षी देता है कि अनेक प्रमुख व्याकरण-ग्रन्थ तब पाणिनि के सामने थे। पाणिनि के 'प्राच्यो' के उल्लेख से कुछ पण्डितो ने व्याकरण के ऐन्द्र सम्प्रदाय के अस्तित्व का अनुमान कर लिया है, जिसका पाणिनि के व्याकरण ने स्थान ले लिया[1] था। पतंजलि (लगभग १२० ई. पू.) के महाभाष्य के सिवाय भी पाणिनि के सूत्रो के विषय में आनुषंगिक अनेक निबन्ध-ग्रन्थ थे जिनमें से कात्या-

---

१. वेलवलकर, सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृ. १० आदि।

यन (लगभग ३५० ई. पू.), का वार्तिक जयादित्य और वामन (७ वीं सदी ई०) की काशिका वृत्ति, धातुपाठ, उणादिसूत्र जिन्हें परम्परा शाकटायन या वररुचि का मानती है, और शान्तनव के फिट्सूत्र का नाम यहाँ गिनाया जा सकता है। इनके बाद भी अच्छे अनेक ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

२७३. पाणिनि के युग के पश्चात् भारत के साहित्यिक और वैज्ञानिक अध्ययन मे व्याकरण ने बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया यहाँ तक कि प्रत्येक अध्येता के लिए कम से कम शब्दशास्त्र का व्यवहारोपयोगी ज्ञान होना तो आवश्यक ही हो गया। फलतः काल पाकर भारत के विभिन्न भागो में व्याकरण के विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित हो गए। इन सम्प्रदायो में प्राचीनतम सम्प्रदाय कदाचित् कातन्त्र का था, जो कि कौमार या कालाप सम्प्रदाय भी कहा जाता था। इस सम्प्रदाय का काश्मीर और बंगाल में खूब ही प्रभाव बढ़ा और यही हेमचन्द्र ने व्याकरण[1] लिखा उससे पूर्व तक गुजरात के सभी प्रकार के लोगों में भी सामान्यतः अनुसरण किया जाता था। चन्द्रगोमी का चान्द्र व्याकरण (लगभग ४७० ई०) बौद्ध देश काश्मीर, तिब्बत और नेपाल मे लोकप्रिय था और वहाँ से वह लंका पहुँचा[2]। सारस्वत सम्प्रदाय के व्याकरणो का अस्तित्व सन् १२५० ई० से बहुत पूर्व मे स्थिर नहीं किया जा सकता है[3]। इस सम्प्रदाय का प्रभाव अधिकांशतया गुजरात, राजस्थान और दिल्ली एवम् बंगाल के चारो ओर के क्षेत्रो मे ही परिसीमित था और वह भट्टोजी दीक्षित (६३० ई० लगभग) एवम् उनके शिष्यो के तत्वावधान में हुए पाणिनि के आधुनिक पुनर्जीवन तक बड़े तेजी के साथ चलता रहा था और फिर व्याकरण के अन्य सम्प्रदाय सभी विलीन हो गए थे[4]। अन्य द्रष्टव्य व्याकरण सम्प्रदाओं मे क्रमदीश्वर[5] (११५० ई. पश्चात् के जौमार सम्प्रदाय है कि जिसने इस सम्प्रदाय के महान् वैयाकरण जौमारनन्दि से ही यह जौमार नाम पाया, और मुग्धबोध के लेखक बोपदेव (१३ वीं सदी) के सम्प्रदाय के नाम लिये जा सकते हैं।

२७४. जैनो का भी एक अपना ही व्याकरण सम्प्रदाय है और जैनेन्द्र, शाकटायन और हेमचन्द्र के व्याकरण सम्प्रदायों की अपनी अपनी परम्परा और

---

१. पुत्त भाग २, पृ. ४१६। २ बेल्वलकर, वही, पृ. ५७ आदि।
३. वही, पृ. ६१। ४. वही, पृ. ९२।
५. कीथ, संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४३२।

अनुसरण है। यद्यपि जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता परम्परा से अन्तिम तीर्थंकर महावीर ही कहे जाते हैं, परन्तु यह पूज्यपाद की ही कृति है। ऐतिहासिक साक्षियो के आलोडन से भारतीय विद्याविदों ने इसका समय ५ वी सदी ईसवी का उत्तरांश निश्चित किया है[1]। यह पाणिनि और वार्तिको के आधार पर बना है। जैन शाकटायन जो यापनीय संघ का था, उस नाम के प्राचीन वैयाकरण से पृथक् व्यक्ति है। इसने अपना ग्रन्थ शब्दानुशासन ९ वीं सदी ईसवी में रचा था[2]। यद्यपि इसकी रचना जैनो के लिए ही मुख्य रूप से हुई थी, फिर भी यह अन्य लोगों द्वारा भी अध्ययन किया जाता था जैसा कि पीछे के व्याकरण ग्रन्थो में के इसके उल्लेखो से जान पड़ता है[3]। हमने पहले अध्याय में देख ही लिया है कि हेमचन्द्र का व्याकरण जिसमें कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओ का अपभ्रंश सहित विस्तार से विचार किया गया है, राजा सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर तैयार किया गया था। हेमचन्द्र के व्याकरण ने गुजरात के जैनो में प्रचलित अन्य सभी व्याकरण सम्प्रदायों को प्रायः उत्थापित कर दिया और प्राकृत के अध्ययन में तो उसका स्थान तब से सर्वोपरि ही रहा है। टीकाओ और अन्य सहायक ग्रन्थों के अतिरिक्त जो हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर लिखे थे, जैन पण्डित अठारहवीं सदी तक ही नहीं अपितु कुछ कुछ आज तक भी अध्येताओ की सहायता के लिए हेमचन्द्र के उस व्याकरण पर टिप्पणी, उसका संक्षेपण, सरलीकरण, और पुनर्घटन करते रहे हैं[4]।

अमरचन्द्रसूरि का स्यादिशब्दसमुच्चय

२७५ जिन दो व्याकरण ग्रन्थों का यहीं विचार किया जायगा, उनमें से एक तो है अमरचन्द्रसूरि का स्यादिशब्दसमुच्चय और दूसरा है नरचन्द्रसूरि का प्राकृत प्रबोध या प्राकृत-दीपिका। ये दोनों ही हेमचन्द्र के व्याकरण के सहायक ग्रन्थ हैं। पहला उसके संस्कृत खण्ड का और दूसरा उसके आठवे अध्याय का जिसमें प्राकृत व्याकरण है। पहले हम स्यादिशब्दसमुच्चय को ही लेंगे। स्यादि हेमचन्द्र की सम्प्रदाय का उसके व्याकरण के १, १, १७ (स्यौजसित्यादि

---

१. बेलवलकर, वही, पृ ६४। देखो प्रेमी-जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ९३ आदि भी।

२. वही, पृ. ६६; प्रेमी, वही, पृ. १५० आदि।

३. वही, पृ. ६८।

४. १८ वीं सदी तक लिखे गये इन ग्रंथों की सूची के लिए देखो बेचरदास पुत, भा ४ पृ. ८० आदि।

... .) सूत्र से उद्भूत। कर्तृ-कारक एकवचन का प्रत्यय है सि (देखो पाणिनि, ४. १. २, स्वौजसमौट्छष्टाभ्यां भिस् आदि, हेमचन्द्र ने सुं को सि में बदल दिया है) और इसलिए स्यादि से अभिप्रेत है सि से प्रारम्भ होने वाले विभक्ति प्रत्यय। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं और उनमें संज्ञा, सर्वनाम और संख्यावाची शब्दों के रूपों का विचार किया गया है। ये अध्याय कारिकाओं में है जिनमें क्रमशः २६, २३, २ और ३ कारिकाएँ हैं।

२७६. पहली कारिका मंगल-रूप है। कारिका २–४ में शब्दों को लिंग दृष्टि से नौ विभागों में वर्गीकरण किया गया है। इन विभागों में ग्रन्थकर्ता ने हेमचन्द्र के लिंगानुशासन का ही अनुकरण किया है। शब्दों का विभाग इस प्रकार है - (१) पुल्लिग, (२) स्त्रीलिग, (३) नपुंसक लिंग, (४) उभयलिंग पुल्लिग एवं स्त्रीलिग, (५) उभयलिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिग, (६) उभयलिग पुल्लिग एवं नपुंसकलिग, (७) अलिंग जैसे युष्मद्, अस्मद् आदि, (८) त्रिलिग जैसे कन्दल-ली-लं, मृणालली-लं, शकट-टी-टं आदि और (९) वाच्यलिगः जैसे शुक्ल, कृष्ण, अरुण आदि कि जिनका लिग उन शब्दों का ही होता है जिनके कि साथ उसी कारक में वे प्रयुक्त किए जाते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है ग्रन्थकार संज्ञा, सर्वनाम और संख्याबोधक शब्दों का ही विचार करता है और संज्ञाओं के विचार में उसने पर्याप्त विवरण देने की चेष्टा की है। सर्वनाम और पर्याप्त विवरण देने की संख्याबोधक शब्दों के विचार मे उसने प्रमुख शब्दो को गिना भर दिया है और उसे ५ कारिकाओं में ही सम्पन्न कर लिया है।

२७७. (१) पहले अध्याय में शब्दों के स्वरान्त और व्यंजनान्त दो विभाग किए हैं और फिर स्वरान्त शब्दों का ही वर्गीकरण किया गया है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ औ अन्त वाले शब्द पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसक-लिंग और वाच्यलिंग में क्रमशः योजित किये गए हैं। (२ दूसरे अध्याय में व्यंजनान्त शब्दों का विचार है और इनके विषय में भी उपर्युक्त वर्गीकरण ही निबाहा गया है। (३) तीसरे अध्याय में सर्वनामों का विचार २ कारिकाओं में है और ग्रन्थकार ने यहाँ पाणिनीय गणपाठ में दिए एवं हेमचन्द्र द्वारा भी स्वीकृत सर्वादिगण को गिना भर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है। (४) चौथे अध्याय में पहली कारिका में संख्या-शब्दो को एक ही पंक्ति में निपटा दिया है यथा—

एकद्याः सङ्ख्याशब्दाः स्युः स्वस्वोक्तप्रक्रियास्पृशः।

और फिर एक से अधिक लिंगी, त्रिलिंगी और अलिंगी शब्दों को गिना दिया है।

२७८. शब्द रूपों को देनेवाले इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसको कण्ठाग्र करना सरल है क्योंकि वह कारिकाओं में है। इसी कारण कदाचित् यह व्याकरण-अध्येताओं में इतना लोकप्रिय हो गया था कि प्राचीन भण्डारों में इसकी जयानन्द की टीका सहित अनेक प्रतियां कि जिसकी तिथि अज्ञात है, मिलती हैं।

नरचन्द्र का प्राकृत प्रबोध

२७९. नरचन्द्र के प्राकृतप्रबोध या प्राकृतदीपिका के ग्रन्थाग्र १४२० श्लोक हैं[1]। इसका अभी तक मुद्रण नहीं हुआ है और इसलिए हस्तलिखित ही यह मिलता है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण[2] यानि शब्दानुशासन के ८वें अध्याय की स्वोपज्ञ वृत्ति में दिए दृष्टान्तों की रचना को उस व्याकरण के सूत्रों की सहायता से समझाने का ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन प्रतीत होता है। ग्रन्थ प्राकृत व्याकरण तक ही परिसीमित होने के कारण हेमचन्द्र के व्याकरण के पहले सात अध्यायों के संस्कृत सूत्र केवल आधी दर्जन बार ही इस ग्रन्थ में उद्धृत किए गये हैं। फिर भी हेमचन्द्र के संस्कृत व्याकरण में जैसा हुआ है वैसा ही संज्ञाओं या क्रियाओं के मूल सूत्र तक पहुँचने में उन्हीं सिद्धान्तों का यहाँ भी अनुसरण किया गया है[3]। इससे प्राकृत में भिन्न नियमों का प्रयोग सीमित हो गया है यह नहीं समझा जाना चाहिये[4]। ग्रन्थकार आठवे अध्याय के सूत्रों का पूरा पाठ प्रायः नहीं देता है जैसे कि 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' के स्थान में वह 'दीर्घह्रस्वौ' ही देता है (८.१.४)। उसने सूत्रों की वृत्ति में दिखाए अनुसार प्राकृत शब्दों के परिवर्तन को समझाने के लिए सूत्रों का प्रयोग करना ही अपना कर्तव्य समझा है न कि सूत्रों को समझाने का वह मान लेता है कि सूत्र का अर्थ पढ़ने वाला समझ गया है। प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने प्रत्येक शब्दों की रचना समझाई है। परन्तु जैसे-जैसे

---

१. जिरेको पृ. २७८।

२. मंगलाचरण श्लोक देखिए—

प्रणम्य परमं ज्योतिर्द्योतिताशेषवाङ्मयम्।
सिद्धहेमाष्टमाध्यायरूपसिद्धिर्विधीयते ॥

३. संस्कृतलक्षणे धातुप्रत्ययादिसिद्धायां प्रकृतौ पश्चाद् विभक्त्यादिविधिस्तथा प्राकृतलक्षणेऽभिप्रायः—प्रस्तावना।

४. प्राकृतलक्षणसिद्धां प्रकृतिमाधाय तदनन्तरं विभक्त्यादिप्रक्रिया कर्तव्या, नान्यथा, क्रमभंगप्रसंगात्—प्रस्तावना

ग्रन्थ आगे बढ़ता है, ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार को जल्दी है यहाँ तक कि पुस्तक के पीछे वाले अंश में बहुत से शब्द जो सरल दीखते हैं और जिनकी अधिक व्याख्या करना अनावश्यक है, छोड़ ही दिए गये हैं। वह परिभाषा अर्थात् व्याख्या के नियमों का परिपालन कभी-कभी ही करता है[1]। बिना परिवर्तन संस्कृत से सीधे उधार लिए प्राकृत शब्दों जैसे कि उपरि, वन्दे आदि को तो वह और समझाता ही नहीं है।

२८०. आठवें अध्याय के चारों पादों ही में कितने ही सूत्र ग्रन्थकार ने छोड़ दिए हैं। उसने कुछ सूत्रों को अनावश्यक समझा है ऐसा प्रतीत होता है। आपवादिक परिवर्तन के, हर्ष-विस्मयादिसूचक अव्ययों के सूत्र (२ १९३–२०३), कुछ प्रारम्भिक सूत्र (१.२ और १ ३) और सर्वनाम रूपों (३ १०७–१७ ४.३७२–७६) के सूत्रों को छोड दिया है।

२८१. अपने ग्रन्थ के अन्त में जैसा कि नरचन्द्र स्वयं कहता है, प्राकृत-प्रबोध उनके शिष्यों या अध्येताओं की प्रार्थना पर ही लिखा गया था[2] और इसलिए यह प्राकृत शब्दों की रचना समझने के लिए व्यावहारिक गुटका के सिवा और कुछ भी नहीं है जैसा कि अनर्घराघव का टिप्पण उस नाटक के समझाने की दीपिका है। इस दृष्टि से नरचन्द्र ने प्रारम्भ ही में विवेचन की अपनी परिसीमा निश्चित कर दी है और इससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि वह अपने अध्येता शिष्यों की आवश्यकताओं से कितना अधिक परिचित था।

---

१. केवल दो मात्र ही उदाहरण हैं—१. निमित्ताभावे नैमित्तिकस्य गम्याभावः। —प्रस्ता. प्राप्र, १.६; (२) अत्र स्थानित्वपरिभाषया अनित्याश्रयणात् स्यादेशे स्याद्युत्पत्तिः—प्राप्र, ३.१८० ।

२. प्राकृतप्रबोध का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

नानाविधैर्विरचितां विबुधै स्वबुद्ध्या तां रूपसिद्धिमखिलामवलोक्य शिष्यैः।
अभ्यर्थितो मुनिरुज्झितसंप्रदायमारब्धमेतदकरोन्नरचन्द्रनामा ॥

सोलहवाँ अध्याय

छन्दशास्त्र का ग्रन्थ

संस्कृत में छन्दःशास्त्र

२८२. व्याकरण की भाँति ही छन्द भी छः वेदांगो में से एक है। वैदिक-छन्दों का उद्भव-काल कदाचित् आर्य-ईरानी-युग में हो, परन्तु छन्द विज्ञान या शास्त्र का प्रारम्भ तो उस समय में हुआ समझा जा सकता है जब कि छन्दों की रचना के विषय में पूछताछ वास्तविक की जाने लगी थी। इसके प्राचीनतम प्रयत्न का भारतीय साहित्य में परिचय सामवेद के निदानसुत्र में, सांख्यायन श्रौतसूत्र (७.२), ऋक् प्रातिशाख्य और कात्यायन की अनुक्रमणि में भी मिलता है। "वैदिक और प्रशिष्ट-संस्कृत युग के मध्यकालीन छन्दो के विकास पर हमारे विद्वान् हमें अंधकार में ही छोड़ देते हैं। यह भी कल्पना करना हमारे लिए कोई विशेष लाभप्रद नहीं कि संस्कृत काव्य में प्रत्येक पाद की निश्चित लंबाई के छन्द जिनका प्रत्येक पाद एक ही आदर्श पर बने, पहली दो और अन्तिम दो पंक्तियाँ दूसरी और तीसरी पंक्ति की अपेक्षा अधिक संन्निकट सम्बन्धित रहे, परन्तु जिनमें बीच में एक सम्पूर्ण यति अवश्य ही हो इस प्रकार के छन्दों का किस प्रकार कब विकास हुआ।"[1] पिंगल के सूत्रों में एक खण्ड वैदिक छन्दों का भी है, फिर भी उस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय प्रशिष्ट संस्कृत के छन्दशास्त्र पर उच्च श्रेणीय व्यवहारोपयोगी पुस्तक प्रस्तुत करना ही है। छन्दशास्त्र के प्राचीन जिन आचार्यों का पिंगल में उल्लेख है, वे हैं क्रौष्टुकि, टण्डी, यास्क, काश्यप, शैतव, रात और माण्डव्य[2]। समय पाकर पिङ्गल का नाम इतना जनप्रवादी हो गया कि इस शब्द का अर्थ ही छन्दशास्त्र हो गया जैसा कि १३ वीं-१४ वीं सदी रचित प्राकृत छन्दों के ग्रन्थ के प्राकृत पिङ्गल नामकरण से स्पष्ट है। पण्डितों का विश्वास है कि भरत के नाट्यशास्त्र के चौदहवें और पन्द्रहवें अध्याय कि जिनमें छन्दो का विचार किया गया है, और अग्निपुराण के प्रासंगिक खण्ड से पहले का ही पिङ्गल है[3]। इन प्राचीन ग्रन्थों के युग के बाद की छन्दशास्त्र की अनेक कृतियां मिलती हैं। एक श्रुतबोध नामक

---

१. कीथ, संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४१७।

२. कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ९०२।

३. कीथ, वही, पृ. ४१६।

छोटी पुस्तिका इसी विषय पर कालिदास रचित भी कही जाती है, परन्तु उसका रचयिता रघुवंश और शकुंतला का रचयिता कालिदास ही है इसे पहचानने के कोई भी साधन उपस्थित नहीं है। वराहमिहिर लगभग ५५० ई० ने अपनी बृहद्संहित के ५४ वें अध्याय में ग्रहों की गति-वर्णन के साथ साथ ही अनेक प्रकार के छन्दों का भी वर्णन किया है। ११ वीं सदी में तो हमें क्षेमेन्द्र का सुवृत्ततिलक ही मिल जाता है जो इसलिए महत्व का है कि लेखक इस विषय का न केवल व्यवहारिक दृष्टि से ही अपितु रस विज्ञान की दृष्टि से भी विवेचन करता है। बारहवीं सदी में हेमचन्द्र ने अपना बहु परिश्रमसिद्ध ग्रन्थ 'छन्दोनुशासन' रचा था जो प्राकृत और अपभ्रंश छन्द सम्बन्धी विभागों के कारण अति महत्त्व का है।

अमरचन्द्र की छन्दोरत्नावलि

२८३. वस्तुपाल के विद्यामण्डल के अग्रणियों में से एक अमरचन्द्रसूरि ने छन्दोरत्नावलि नामक एक ग्रन्थ छन्दशास्त्र पर भी लिखा था। यह अमरचन्द्र हेमचन्द्र से सौ वर्ष बाद हुआ था और वह गुजरात का ही एक जैन ग्रन्थकार था। इसलिए उसके ग्रन्थ पर हेमचन्द्र का प्रभाव बहुत ही दीख पड़ता है। अनेक बार वह अपने पूर्वज से बिना किसी भेद भाव के पूरे के पूरे अंश ही ले लेता है। यह छन्दोरत्नावलि अभी तक अमुद्रित है। मेरी देखी हुई किसी भी प्रति में उसके ग्रन्थाग्र नहीं दिए हुए हैं। परन्तु सरसरी तौर से की हुई मेरी गणना से ग्रन्थाग्र ८२० श्लोक होते हैं। हेमचन्द्र का ग्रन्थ इससे अत्यन्त ही विशाल है और स्वोपज्ञवृत्ति सहित तो उसके सकल ग्रन्थाग्र ३१२४ श्लोक होते हैं[1]। इस प्रकार छन्दोरत्नावलि तुलना में छन्दोनुशासन से एक-चतुर्थांश ही है। जैसा कि हम पहले (पैरा १०६ और २६६) देख आए है अमरचन्द्र ने अपने काव्यकल्पलता में इस छन्दोरत्नावलि का उल्लेख किया है और यह भी सम्भव है कि छन्दशास्त्र के इस छोटे से ग्रन्थ को अपनी कविशिक्षा का साथी ग्रन्थ ही उसने माना हो क्योंकि दोनों में ही विषय का विवेचन कवि को अधिक व्यवहारोपयोगी होने की दृष्टि से किया गया है।

२८४. इस छन्दोरत्नावलि में ६ अध्याय है। पहला अध्याय संज्ञाअध्याय कहा गया है[2]। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त संज्ञाओं यानि सांकेतिक शब्दों जैसे कि वर्णगण, मात्रागण, वृत्त, समवृत्त, विषमवृत्त, अर्धसमवृत्त, पाद, यति आदि समझाए,

---

१. जैन ग्रन्थावलि, पृ. ३१७।

२. तु. छन्दोनुशासन, अध्या. १, संज्ञाध्यायः।

गए हैं। दूसरे अध्याय का शीर्षक है समवृत्ताध्याय[1]। इसमें अनेक समवृत्तों का विवेचन है और अनेक दण्डकों और उनमें गणों की योजना का विवेचन भी है[2]। तीसरा अर्धसमवृत्ताध्याय[3] है और चौथा विषमवृत्ताध्याय[4]। दोनों में सम और विषम छन्दों का क्रमशः विवेचन है। पाँचवाँ मात्रावृत्ताध्याय है और इसमें आर्या, गीति आदि अनेक प्रकार के वृत्तों के गुण याने लक्षण दिए गए हैं। छठा प्रस्तराध्याय[5] है और इसमें छन्दशास्त्र के उन छन्दों का विचार किया गया है, जो गणितीय गणनाओं से अनेक प्रकार के बनते हैं। सातवाँ प्राकृतछन्दोध्याय है[6] और इसमें गाथा, आर्या खंजक, द्विपदी, खण्डगीति, आदि अनेक छन्दों का विवेचन है जो प्राकृत भाषा के विशेष रूप से मातृवृत्त है। आठवाँ और नवाँ अध्याय उत्साहादिप्रतिपादन[7] और षट्पदीद्विपदीचतुष्पदीव्यावर्णन[8] क्रमशः है। इनमें अपभ्रंश के छन्द जैसे कि उत्साह, रासक, द्विपदी, चतुष्पदी, रासावलय; अडिला, वस्तु, कर्पूर, कुंकम, वदनक अनेक प्रकार के धवलमंगल, फुल्लडक, झम्बडक, उल्लाल चतुष्कल, षट्कल, षट्पदी आदि आदि का विवेचन है। लेखक ने इनमें से कुछ के अनेक भेदोप्रभेदों का भी उल्लेख किया है। परिकर्म गणित द्वारा छन्दों के बननेवाले अनेक वृत्तों का विचार भी लेखक ने किया है और सन्धि, कडवक, एवं ध्रुव के लक्षण भी बताए हैं, जो अपभ्रंश में पद्य रचना में उपयोगी इकाइयाँ मानी जाती हैं।

२८५. अमरचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में कितने ही प्रामाणिक व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है। अध्याय एक और दो में उसने भरत, जयदेव[9], पिङ्गल

१. तु. वही, अध्या. २, समवृत्तव्यावर्णनः।

२. हेमचन्द्र भी तृतीय अध्याय के अन्त में विभिन्न दण्डकों के लक्षण देता है।

४. तु. छन्दोनुशासन अध्या. ३, अर्धसमविषमवैतालीयमात्रासमकादिव्यावर्णनः।

५ तु वही, ,, ८, प्रस्तारादिव्यावर्णनः।

६. तु. वही, ,, ४, आर्यागलितकखंजकशीर्षकव्यावर्णनः।

७. तु. वही, ,, ५, उत्साहादिप्रतिपादनः।

८. तु. वही, ,, ६, षट्पदीचतुष्पदीशासनः; अध्या. ७, द्विपदीव्यावर्णनः।

९. जयदेव ने छन्दशास्त्र पर एक ग्रन्थ सूत्र-शैली में लिखा था। अभिनव-

और स्वयंभू[1] के मतों को और विशेषतया अनेक छन्दों के दूसरे दूसरे नाम देते समय तो उद्धृत किया ही है। तीसरे अध्याय में उसने धनपाल (१०वीं सदी) और हेमचन्द्र के श्लोक उद्धृत किए हैं। सातवें अध्याय में कुमारपाल की प्रशंसा में (सिरिमूलरायभूवइकुलगयणमयंक०) प्राकृत गाथा और रत्नावलि १ १३ (कुसुमाउहपिअदूअओ०) गाथा उद्धृत की है। इस अध्याय से प्राकृत और अपभ्रंश छन्दों का विवेचन प्रारम्भ होता है। यहाँ लेखक ने हेमचन्द्र के छंदोनुशासन का उपकार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है जिसको कभी कभी छंदश्चूडामणि[2] भी कहा जाता है। आठवाँ और नवाँ अध्याय भी अपभ्रंश छंदों का ही विवेचन करते हैं, परन्तु वे साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्व के हैं क्योंकि अपभ्रंश साहित्य से इनमें कई छंद उद्धृत किए गए हैं। कुछ गाथाएँ तो छंदोनुशासन से उधार ले ली गई हैं क्योंकि ग्रन्थकार उसका अत्यन्त ही ऋणी है। मैं कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करूँगा, जो साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से उपयोगी है। अध्याय ६ में एक स्थल पर मुंज के पाँच दोहो की तुलना कामदेव के पाँच शरो से की गई है—

चूडुल्लउ चाहोहजलु नयणा कंचुवि समघण।
इय मुंजि रइया दूहडा पंचवि कामहु पचसर ॥[3]

गुप्त (-१००० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'अभिनवभारती' में इसको छन्द और संगीत के आचार्य रूप से उल्लेख किया है (कृष्णमाचारियर, क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ९०२ और इसीलिए यह जयदेव अभिनवगुप्त के पहले का ही होना चाहिए।

१. हम दो सुप्रख्यात अपभ्रंश कवियों-चतुर्मुख स्वयम्भू और उसका पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू को जानते हैं कि जो ८वीं और १०वीं सदी के बीच में कभी ही हुए थे (एम. सी. मोदी, भारतीयविद्या, भाग १, पृ १५७ आदि)। हम यह नहीं जानते कि जिसको अमरचन्द्र ने उद्धृत किया है, वह इन दो में से ही कोई एक था।

२. प्राकृताद्युपयोगीनि छन्दांसि कतिचिद् ब्रुवे।
एषां च लक्षणं लक्ष्यं लिखिष्यामि पृथक् पृथक् ॥
श्रीहेमसूरिप्रणीतछन्दश्चूडामणेरिह।
किंचित् किंचित् चान्यस्माल्लक्ष्यं छन्दोऽभिधान्वितम् ॥

अध्या. ७, १–२ ॥

३. तु. छन्दोनुशासन, अध्या. ६ श्लो २० पर टीका।

"मुंज रचित पाँच दोहे जिनमें चूडुल्लउ०, बाहोहजलु०, नयणा०, कंचुवि० और समघण० शब्द हैं काम के पाँच बाणों के समान है।"

इन पाँच में से दो दोहे भी लेखक ने ग्रन्थ में दे दिए हैं—

चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
निद्धद्धउ सासानलिण बाहसलिलसंसित्तउ ॥[1]

अर्थात् हे लज्जालू ! तुम्हारे हाथ की चूड़ी, जब गालों पर रखोगी तो वे तुम्हारे सांस की अग्नि से गरम हो जाएँगी और फिर उन पर तुम्हारे आँसुओ का पानी गिरेगा तब वह टुकड़े-टुकड़े हो जाएगी।"

तं तेत्तिउ बाहोहजलु सिहिणं निरु वि न पत्तु।
छिम छमिवि गंडत्थलिहिं मिमसिमिवि समत्तु ॥[2]

अर्थात् हे लज्जालू ! तुम्हारे आँसुओं का जल छातियां तक नहीं पहूँच सकता है। वह तो तुम्हारे (गरमागरम) गालों पर ही भाप बन कर आवाज करता हुआ गायब हो जाता है।

हम नहीं जानते कि यह मुंज कवि कौन है ? प्रबंधचितामणि में मुंज[3] के नाम से नौ अपभ्रंश गाथाएँ दी हुई हैं और वहाँ यह मुज मालवा का राजा ही है जो महान् विद्याप्रेमी और विद्याओं का आश्रयदाता था और १०वीं सदी में वर्तमान था, दूसरा नहीं। यह बहुत संभव है कि मुंज के नाम के शृङ्गारिक छंद कि जिन्हें हेमचंद्र और अमरचंद्र दोनों ही उद्धृत करते हैं, इसी राजा कवि मुंज रचित ही हैं।

---

१. तु. वही, यह श्लोक कुछ थोड़े से पाठान्तर में हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में भी मिलता है (४ ३९५)।

२. तु. वही।

३. प्रबन्धचितामणि, पृ. २ आदि।

सत्रहवाँ अध्याय

न्यायग्रन्थ

न्यायकन्दली और वैशेषिक सम्प्रदाय

२८६ अब हम श्रीधर (९९१ ई०) की न्यायकन्दली पर किए गए नरचन्द्रसूरि के टिप्पण का विचार करेंगे, जो कणाद के वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद (५ वीं सदी ई०) के भाष्य की टीका है। जैसा कि प्रसिद्ध है वैशेषिक और न्याय षड्दर्शनों में के दो दर्शन हैं। अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दोनों स्वतंत्र सम्प्रदाय रूप थे। न्याय का उद्भव तो ब्राह्मणों में प्रारम्भिक विचार-विनिमय के समय हुआ और वही कालान्तर में मीमांसा के एक विभाग रूप में व्यवस्थित हो गया। सच तो यह है कि उचित फेर बदल के साथ न्याय प्रत्येक भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय का अंग था याने वैदिक, जैन और बौद्ध का। परन्तु ईसा युग की पहली सदियों में न्याय जैसा कि गौतम द्वारा न्याय-सूत्रों में वह व्यवस्थित हुआ, अपने आप में ही दर्शन हो गया और उसने वैशेषिक तत्त्व-ज्ञान को अपना कर अपना यह दर्शन स्थिर कर लिया। न्याय-सूत्रों से पूर्व के ही वैशेषिक सूत्र माने जाते हैं[1] वैशेषिक एक सम्प्रदाय था जो परमाणु सिद्धांत पर आधारित था। अपने प्रारम्भिक इतिहास में उसकी प्रमाण पद्धति भी अपनी ही थी। परन्तु बाद में न्याय और वैशेषिक परस्पर सम्बद्ध हो गए। वैशेषिक ने तत्त्व-ज्ञान को प्रमुखता दी और न्याय ने तर्कवाद को।

२८७ वैशेषिक सम्प्रदाय के सात पदार्थों के प्रारम्भिक इतिहास को खोज करना कठिन है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि परमाणुवाद और विशेष का सिद्धांत दोनों ही अति प्राचीन हैं। इसका संकेत पाली साहित्य में और जैन आगमों में भी पाया जाता है। मिलिन्दपन्ह (१ ली सदी ई०)[2] में नीति (अर्थात् न्याय) और वैशेषिक[3] शब्द दिए गए हैं। जैनागमों के भी अनेक

---

१. कीथ, इंडियन लाजिक एण्ड अटोमिजम, पृ. २३ आदि।

२ विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २ पृ. १०५।

३. कीथ, वही, पृ. १४।

ग्रन्थों में जैसे कि स्थानांगसूत्र (स्थान ७), समवायांगसूत्र (पृ० ४०) आदि और विशेषावश्यकभाष्य (२४५१-२५०८) में तेरासिय या त्रैराशिक सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धांतों का सार जैसा कि जैन ग्रन्थों में मिलता है, वह स्पष्ट ही कणाद शैली का वैशेषिक ही है। जैन भी द्रव्य का संस्थान समझाने के लिए एक प्रकार का परमाणुवाद याने पुद्गलवाद मानते हैं। इस प्रकार जैनों का द्रव्य-सिद्धांत और वैशेषिकों का परमाणु-सिद्धांत कुछ सम्बन्धित-सा लगता है। मध्यकालीन जैनाचार्यों के वैशेषिक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखने का भी कदाचित् यही कारण है। ऐसा मालूम पड़ता है कि नरचन्द्रसूरि प्रशस्तपाद के भाष्य पर लिखी न्यायकन्दली का टिप्पण, और राजशेखरसूरि (लगभग १३४९ ई०) उसी पर अपनी पंजिका लिखकर एक प्राचीन जैन परम्परा का अनुसरण ही कर रहे थे।

२८८. प्रशस्तपाद के भाष्य की प्राचीन टीकाएँ जैसे कि व्योमशिवाचार्य (७वीं सदी)[1] की व्योमवती, उदयनाचार्य (९८४ ई०) की किरणावली, और श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली वैशेषिक सम्प्रदाय के अध्येताओं में सदा ही बहुत प्रभावशाली थीं और उस सम्प्रदाय के इतिहास में ये सीमाचिह्न मानी जाती थीं। यह न्यायकन्दली उक्त दोनों टीकाओं सहित दर्शन-अध्येताओं में बहुत प्रचार में थी और न्याय के उच्चाध्ययन में पाठ्य-पुस्तक रूप से उपयोग की जाती थी। मध्यकालीन गुजरात में तो यही बात थी क्योंकि न्यायकन्दली की उपलब्ध कतिपय टीकाओं में से दो, यथा—नरचन्द्रसूरि का टिप्पण और राजशेखरसूरि की पंजिका, गुजरात में ही रची गई है जैसा कि मैं अभी ही कह चुका हूँ। महान् नैयायिकवादी देवसूरि (१२ वीं सदी) ने अपने ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर में श्रीधर का उसके नाम से और कन्दलीकार कह कर भी कितनी ही बार उल्लेख किया है और उसके उद्धरण भी दिए हैं (जैसे कि पृ० ३२८,४१२,४१६,८५२,९२३, आदि-आदि)। और जयसिंहसूरि, गुजरात के एक अन्य जैनाचार्य, ने भासर्वज्ञ के न्यायसार की अपनी न्यायतात्पर्यदीपिका (लगभग १३६० ई०) नामक टीका में न्यायकन्दली के रचयिता का मत ससम्मान उल्लेख किया है (तथा च प्रतिपादयाञ्चकार श्रीकन्दलीकारः, पृ० ४०)। हम यहाँ नरचन्द्रसूरि के टिप्पण का ही विचार कर रहे हैं जो जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, न्याय में परम निष्णात ही नहीं था अपितु अन्य

---

१. वही पृ. १४।

२. महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्ता., पृ. ८ आदि।

शास्त्रों जैसे कि अलंकार, व्याकरण और फलित ज्योतिष एवं जैनधर्म के तत्त्व-ज्ञान में भी परिपूर्ण था (पैरा ११६)।

न्यायकन्दली पर नरचन्द्रसूरि का टिप्पण

२८६. प्रशस्तपाद के स्मृति-स्तम्भ-रूप भाष्य पर न्यायकन्दली विवरण है और प्रकृत्या जो कोई भी उस न्यायकन्दली पर टिप्पण लिखना चाहता हो, वह केवल महान् नैयायिक ही नहीं अपितु अन्य दर्शन-सम्प्रदायों का भी गम्भीर पण्डित होना चाहिए जैसा कि नरचन्द्रसूरि निश्चय ही था। उसका यह टिप्पण अभी तक अमुद्रित है। उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। उसके ग्रन्थाग्र २५०० श्लोक हैं[1]। फिर भी इससे रचयिता की घनिष्ठ पकड़ और विषय की स्पष्ट विवेचना की छाप पड़ती है। नरचन्द्र के इस टिप्पण के और भी गुण हैं। यद्यपि वह कट्टर जैन था फिर भी उसने विषय का विचार वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा और न्याय सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों की टीकाओं के रचयिता वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) जैसे भारतीय विद्वानों की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए, वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुयायी की तरह ही किया है। कुछ ही उदाहरण इसके समर्थन में यहाँ पर्याप्त होंगे।

२९०. न्यायकन्दली के मंगलाचरण में आनेवाले शब्द 'अद्वितीयम्' और 'ज्ञानात्मने' की टीका करते हुए नरचन्द्र ने यह लिखा है— 'अद्वितीयत्वं वेदान्ताभिप्रायेण, विघटितानि आश्रितानां बन्धनानि येन स्वयं नित्यमुक्तत्वात्। अथवा महेश्वरोऽपि पुरुषेषु उत्तम इति तस्यैव नमस्कारः, अत्राद्वितीयमिति न विद्यते द्वितीयो यस्य, ज्ञानात्मने इति ज्ञानधर्मवते इत्यर्थः। आत्मशब्दो धर्मेऽपि वर्तते यथा घटत्वं घटस्य स्वरूपं घटस्य धर्म इत्यर्थः।"[2] इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि से परिभाषा का प्रारम्भ करते हुए भी नरचन्द्र ने उसे नैयायिक की दृष्टि से ही समाप्त किया है।

इसी प्रकार न्यायकन्दली पृ० ५७ में उद्धृत अर्द्ध श्लोक-"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् परान् पश्यति नान्तरात्मा"-की टीका करते हुए नरचन्द्र लिखता है—"पराञ्चि खानि इति। ब्रह्मा पराञ्चि बाह्यार्थग्राहकाणीन्द्रियाणि

---

१ जिरको, पृ. २११।

२. न्यायकंदली, पत्रा १। यहाँ पत्र संख्या जो दी गई हैं, वह जैन ज्ञान भंडार, बड़ौदा में रखे मुनि हिमांशुविजयजी के संग्रह की प्रति स २७०१ के हैं।

सूक्ष्मवांस्तत्कारणादस्मदादिशरीरान्तर्वर्तमान आत्मा परान् शरीराद्युपादानयोग्यान्न परमाणून्न पश्यति। परो ह्यर्थ इन्द्रियैरेव ग्राह्यो नात्मना, इन्द्रियाणि च न परमाणुग्रहणे समर्थानीति भावः। व्यतृणदिति तृहे रौधादिकस्य ह्यस्तन्यां रूपम्।"[1]

अन्यत्र वह न्याय-वैशेषिक-दृष्टि से प्रलय के समय ईश्वर को इच्छा कैसे होती है, समझाते हुए कहता है—संजिहीर्षेति (न्याकं, पृ. ५१)। तावत्कालावच्छेदकोपाध्यवच्छिन्नकालसहकृतत्वमेवेश्वरेच्छाया उत्पादस्तस्या नित्यत्वात्। एवं प्रयत्नस्यापीति।"[2] ये दृष्टांत नरचन्द्र की टिप्पण पद्धति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु ऐसे दृष्टांत और भी अनेक उपस्थित किए जा सकते हैं। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वह पक्के नैयायिक की भाँति ही यहाँ लिखता है और इसमें वह श्रीधर के प्रति दया भी नहीं दिखाता है कि जिसके ग्रन्थ पर ही उसने यह टिप्पण लिखा है। उदाहरण के लिए न्यायकन्दली पृ. ९ में दिन में दीखते आकाश के आसमानी रंग के विषय में लिखा है—"मध्यन्दिनेऽपि दूरगगनान्तभोगव्यापिनो नीलिम्नश्च प्रतीतेः"। इस पर नरचन्द्र ने आलोचना की है कि—"आलोकसद्भावेऽपि मध्यन्दिने गगनव्यापि नीलिमरूपं तमः प्रतीयत इत्यर्थः। एतच्च स्वसिद्धांतनिरपेक्षतयैवोक्तं, गगननीलिम्नो नयनगोलकगतनीलिमत्वेन स्वयमभ्युपगमात्।"[3]

२६१. ग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि नरचन्द्र ने अपने समय से पहले के लिखे हुए न्याय-वैशेषिक साहित्य का गहन अध्ययन किया था और न्याय-वैशेषिक सम्प्रदायों के सैद्धांतिक भेदों की भी उसको अच्छी पकड़ थी। वैशेषिक दृष्टि से न्यायकन्दली उपमान प्रमाण सम्बन्धी नैयायिक सिद्धांत का यह कहते हुए—"येऽपि श्रुतातिदेशवाक्यस्य" आदि (न्याकं, पृ. २२१) खण्डन करती है और इसकी नरचन्द्र व्याख्या करते हुए कहता है—"अथ नैयायिकमतमुपदर्श्य दूषयन्नाह—येऽपि श्रुतातिदेशेत्यादि।"[4] एक अन्य स्थल पर उसने भासर्वज्ञ[5] के न्यायसार के टीकाकार भूषण का मत उल्लेख किया है और उस मत की न्यायकन्दली के इस विचार से कि लैङ्गिकज्ञान उभयावलंबी है या एकावलंबी, तुलना की है। यह तुलना इस प्रकार है—"प्रत्यक्षत्वे सति" (न्याकं, पृ. ११७)। "प्रत्यक्षत्वे सतीति, यद्यपि पुरुषो दण्डी, पर्वतो वह्निमानित्युभयत्राप्येकालम्बनत्वमुभयालम्बनत्वं वा तुल्यं तथापि

---

१. वही, पत्र २७। २. वही, पत्र २५।
३. वही, पत्र ५-६। ४. वही, पत्र ६८।
५. रेण्डल, इण्डियन लाजिक इन दी अर्ली स्कूलस, पृ. ३०५ टि.। कीथ, वही, पृ. ३० आदि।

सुरभि चन्दनमित्यत्र बाधवशादेकालम्बनसिद्धावन्यादपि विशिष्टं प्रत्यक्षज्ञानमेकालम्बनमित्यस्याभिमतं, लैङ्गिकज्ञानं तूभयालम्बनमेवाभिमतमिति तद्व्यवच्छेदः कृतः। भूषणस्तु लैङ्गिकज्ञानमप्येकालंबनमेवाभ्युपगच्छतीति।"[1]

२६२. न्यायकन्दली में व्योमशिवाचार्य के मत का भी कितने ही स्थलों पर खण्डन है। यह व्योमशिवाचार्य भी प्रशस्तपाद का एक प्राचीन टीकाकार है। ऐसा मालूम पड़ता है कि नरचन्द्र ने अपना टिप्पण लिखने के पूर्व व्योमवती को अच्छी तरह से पचा लिया था। यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योंकि कई स्थलों पर उसने श्रीधर द्वारा बिना नाम के उल्लिखित मतों को व्योमवती में से ही खोज निकाला है। मैं यहाँ थोड़े ही उल्लेख उद्धृत करूँगा।—

१. क्त्वाप्रत्ययेनानूद्यते इति—व्योमशिवेन व्याख्यातं तद्विधिनिषेधाभावान्निष्प्रयोजनमिति दूषयिष्यन्नन्यथा व्याचष्टे—अत्रैव च (न्याकं, पृ. २)।[2]

२. किमस्यास्तित्वे प्रमाणम्? प्रत्यक्षमेव त्वगिन्द्रियव्यापारेण वायुर्वातीत्यपरोक्षज्ञानोत्पत्तेरिति कश्चित् (न्याकं, पृ. ४६)। कश्चिदिति व्योमशिवः।[3]

३. स्पर्शनप्रत्यक्षो वायुरुपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात् (न्याकं, पृ. ४६)। व्योमशिवमते तु शीतो वायुरित्यादौ जलादिस्पर्शोपलम्भेऽपि अन्धस्योष्णो घट इतिवत् वायुप्रत्यक्षत्वम्।[4]

४. अत्राह कश्चिद्—(न्याकं, पृ. २१४)। अत्राह कश्चिदिति शब्दप्रमाणान्तरवादी व्योमशिवादिः।[5]

२६३. नरचन्द्र नैयायिकों की तार्किकवाद पद्धति में निष्णात था यह उसके टिप्पण में दिए आत्यन्तिकत्व के विकल्पों से प्रत्यक्ष है। उक्त अंश नरचन्द्र की तार्किक शक्ति पर प्रचुर प्रकाश डालता है और इसलिए उसे सम्पूर्ण उद्धृत कर देना ही श्रेयस्कर है—तस्मादहितनिवृत्तिरात्यन्तिकीति (न्याकं, पृ. ४१)। ननु किमिदमात्यन्तिकत्वं? न तावन्निवृत्तस्य पुनरनुत्पादस्तस्य ससारिसाधारण्यात्, संसारिणामपि यद्दुःखं निवृत्तं न तत्पुनरुत्पद्यते; नाप्युच्छित्तिः, प्रलयेऽपि निर्वाणप्रसंगात्, नापि निवृत्तजातीयस्य पुनरनुत्पादः; कोऽयमनुत्पादो नाम? किं प्रागभाव उत प्रध्वंसाभावोऽथेतरेतराभाव, आहोस्विदत्यन्ताभावः? तत्र न तावत् पूर्वत्रितयं, संसारिसाधारण्यात्, नापि तुर्यः, स किं दुःखमात्रस्य दुःखविशेषस्य वा? नाद्यस्तस्य

---

१. न्याकंटि, पत्र ४६।　　२. वही पत्र २६—२७।
३. वही, पत्र २४।　　४. वही, पत्र २४।
५. वही, पत्र ६४।

भोगावस्थाया संभवेन त्रैकाल्यासत्वासिद्धेस्त्रैकालिकाभावस्यैवात्यन्ताभावत्वात्, न द्वितीयस्तस्य संसारावस्थायामपि संभवात्, किंचिद्धि तद्दुःखमस्ति यत्संसारिणापि नानुभूयते। नापि समूलं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकत्वं; सा किं विद्यमानयोर्दुःखतन्मूलयोरविद्यमानयोर्वा ? नाद्यो विद्यमानयोः कतिचित्कालपरिपाकवशादवश्यभाविनिवृत्तित्वेन तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानाभ्यासादिप्रयासवैयर्थ्यं; नापरो विद्यमानस्येश्वरेणापि निवर्तयितुमशक्यत्वात्। नापि दुःखप्रागभावासहवर्त्तित्वं, प्रागभावाभावे सति दुःखस्वीकारप्रसंगात्; सहवर्त्तित्वाभावस्याभावचतुष्टयत्वेन विकल्प्यमानस्य पूर्वदोषप्रसंगात्। उच्यते—दुःखप्रध्वंसरूपाया दुःखनिवृत्तेरागामिदुःखमात्रात्यंताभावसहकृतत्वमात्यन्तिकत्वमिति।[1]

२६४. न्यायकन्दली में बौद्धदर्शन के मतो के पूर्वपक्ष की स्थापना कर विस्तार के साथ खण्डन किया है। इसलिए नरचन्द्र जो कि उस पर टिप्पण लिख रहा है, बौद्धदर्शन का भी परिपूर्ण ज्ञानी होना चाहिए और ऐसा वह था भी। यह बात तब महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब कि हम देखते हैं कि मध्यकालीन गुजरात में शिक्षा के प्रमुख विषयों में एक बौद्ध न्याय का विषय भी था। पैरा ३७)। टिप्पण से कुछ ही दृष्टान्त यह बताने को पर्याप्त होंगे कि नरचन्द्र बौद्धदर्शन में भी कितना निपुण था—

१. अथ माध्यमिकमाशंकते—सवासनेति (न्याकं, पृ. ३)।[2]

२. यथाऽप्रतीयमानेऽपि·········(न्याकं, पृ. ७५), जिस पर नरचन्द्र यह लिखता है—बौद्धोत्तरमाशंक्य यथाऽप्रतीयमानेऽपीति—अत्र चाक्षणिकस्य व्यावृत्तिविषयस्याप्रतीतौ कथं सत्त्वव्यावृत्तिप्रतीतिरितिशंकायां व्यावृत्तिविषयाप्रत्यक्षत्वेऽपि व्यावृत्तिर्दृश्यते।[3]

३ अपि भोः सर्वमिति (न्याकं, पृ १२२)। ग्रन्थकारो हि प्रथमं वैभाषिकमतं ततः सौत्रान्तिकमतं योगाचारेण दूषयित्वा ततः स्वयं योगाचारमपि निराकरिष्यमाणः प्रथमं बाह्यार्थप्रत्यक्षतावादिनं वैभाषिकं निराकरिष्यन् योगाचारमुत्थापयति—अपि भोः सर्वमिति।[4]

४. न च तदुत्पत्तेरिति (न्याकं, पृ. १२३)। न च तदुत्पत्तेरन्यदिति—ज्ञानस्यार्थादुत्पन्नत्वमेव नियतार्थग्राहितास्वभावहेतुर्नान्यः इत्यर्थः। एवं वैभाषिकमतं

---

१. वही, पत्र ३। २. वही, पत्र २।
३. वही, पत्र ३१। ४. वही, पत्र ४७।

योगाचारेण दूषयित्वा विषयाप्रत्यक्षवादिनं ग्राह्याकारज्ञानप्रत्यक्षतावादिनं सौत्रान्तिकं योगाचाराद्दूषयिष्यन्नाशंकयति अथोच्यते इत्यादि ।[1]

५. अत्रोच्यते (न्याकं, पृ. १२३)। योगाचारेण सौत्रान्तिकं दूषयति—अत्रोच्यत इत्यादि ।[2]

६. अथ मतं यदेतदित्यादि (न्याकं, पृ १२४)। सौत्रान्तिकपरिहारमाशंकयति ।[3]

७ अथ साकारेणेति (न्याकं, पृ. १२४)। एतावता ग्रन्थेन किमर्थो गृह्यते, किमुतोभयमिति विकल्पद्वयं निराकृत्य, किं वा आकार इति तृतीयं विकल्पं योगाचारो निराचष्टे—अथ साकारेणेति ।[4]

उपर्युक्त उद्धरण बताते हैं कि नरचन्द्र माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित बौद्ध-दर्शन से भली प्रकार अवगत था। इन विभिन्न सम्प्रदायों की विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के सूक्ष्मतम ज्ञान के बिना वह अपने टिप्पण में पूर्वपक्ष को स्पष्ट करने में कभी भी बराबर सफल नहीं हो सकता था।

२६५. टिप्पण से प्रतीत होता है कि नरचन्द्र ने सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त जैसे अन्य दर्शनों का भी पर्याप्त अध्यन किया था। मैं अब उसके इन विभिन्न दर्शनों के ज्ञान का परिचय देनेवाले कुछ उद्धरण यहाँ देता हूँ।

१. सांख्य

१. सर्वसम्भवाभावादिति (न्याकं, पृ १४३) साख्यमते त्वयमपि हेतुः, विवादाध्यासित कार्यमुत्पत्तेः प्रागपि स्वकारणेष्वप्यस्ति तस्मादेव जायमानत्वात् तैलवत्।[5]

२. प्रधानात्मकत्वे सति (न्याकं, पृ १४४) साख्यैर्हि कार्यं प्रकृतितत्त्वकार्यमेवाभ्युपगम्यते, ततः कार्यकारणयोस्तादात्म्येऽतीन्द्रियकारणात्मकत्वात्कार्यजातस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसंगः, वैशेषिकमते तु भेदाभ्युपगमाद् द्वयणुकस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्कार्यस्योद्भूतरूपवत्त्वादिसामग्रीवशात् प्रत्यक्षतोपपद्यत एव ।[6]

३ प्रधानस्य विकारो महदिति (न्याकं, पृ. १०१) सांख्यमते हि प्रकृतिर्नाम प्रधानापरपर्यायं सर्वोत्पत्तिमत्कारणं प्रथमं तत्त्वमभ्युपगच्छन्ति। तद्विकारमहत्तत्त्वं तस्य चान्तःकरणं चित्तं चेति पर्यायौ तद्विकारतत्त्वं, ततः पंचतन्मात्राणि स्पर्श-

---

१. वही, पत्र ४७।
२. वही, पत्र ४८।
३. वही, पत्र ४८।
४. वही, पत्र ४८।
५. वही, पत्र ५३।
६. वही पत्र ५३।

नादीनि पंचबुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि पंचकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति । अत एव महदहंकारमनःसहितैर्बुद्धिकर्मेन्द्रियैस्त्रयोदशेन्द्रियाण्युपपद्यन्ते ।[1]

२. योग

१. क्लेशकर्मेति (न्याकं, पृ ५८) अविद्या अस्मिता—राग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः, कर्माणि योगादीनि, विपाका जात्यायुर्भोगाः, आशयाः धर्माधर्मसंस्काराः । संस्काराणां तु केवलानामाशयत्वे कर्मशब्देन धर्माधर्मयोरभिधानम् ।[2]

३. मीमांसा और उसके सम्प्रदाय

१. शब्दस्य हि निजम् (न्याकं, पृ. २१६) शब्दस्य हि निजमिति वैशेषिक-भट्टमते सामान्यं प्रभाकरमते तु स्वरूपमेवेति ।[3]

२ अत्रैके वदन्ति (न्याकं, पृ. २१७) अत्रैके इति स्वतः प्रामाण्यवादिनो जैनभट्टबौद्धादयः, भाट्टादयो हि ज्ञानमेव प्रमाणमाहुः, वैशेषिकास्तु ज्ञानं धूमचक्षुरादि-कमज्ञानं च प्रमाणमाहुरित्यज्ञानरूपप्रमाणाभिप्रायेणाह - प्रामाण्यमेव तावदिति ।[4]

३. तत्किं स्वतो ज्ञायते (न्याकं, पृ २१८) । भट्टाभिप्रायेण यस्मादेव ज्ञाततादे-र्ज्ञानं ज्ञायते, तस्मादेव स्वकीयात्प्रामाण्यमपि ज्ञायत इत्यत्र स्वशब्दः आत्मीयवचनः, बौद्धप्रभाकरमते तु ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वाभ्युपगमात् स्वस्मादात्मन एव ज्ञायत इत्यत्र स्वशब्दः आत्मवचनः ।[5]

४. ये तावत्पूर्वेति (न्याकं, पृ. २२०) जरन्मीमांसकमतोपमानमुपदर्शयन्ति-र्भावयति—ये तावत्पूर्वेति ।[6]

४. वेदान्त

१. यदाहुरेके (न्याकं, पृ ६०) । यदाहुरेके इति वेदान्तवादिन इत्यर्थः ।[7]

२. केचित्सामान्यवतः शुक्लादिगुणानपि व्यापकान् नित्यानाहुस्तन्निराचष्टे — एतेनैकमिति (न्याकं, पृ. ६८) ।[8]

३. ये तु शुक्तिकायामिति (न्याकं, पृ. १८१) । ये इति जरद्वेदान्तिनः ।[9]

२६६. चतुर नैयायिक होने के साथ साथ नरचन्द्र वैयाकरण भी था

---

१. वही, पत्र ५६ ।
२. वही, पत्र २७ ।
३. वही पत्र ६५ ।
४. वही, पत्र ६६ ।
५. वही, पत्र ६६ ।
६. वही, पत्र ६८ ।
७. वही, पत्र ४२ ।
८. वही, पत्र ४२ ।
९. वही, पत्र ५८ ।

जैसा कि हम उसके प्राकृतप्रबोध का निरीक्षण करते हुए पहले ही जान चुके हैं (पैरा २८१)। इस टिप्पण में भी उसने अनेक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ व्याकरण के प्रमाण से दी है और कितने ही स्थलों पर छोटी-छोटी वैयाकरणी चर्चा[1] भी दी है जो उसका उस विषय पर पूर्णाधिपत्य बताती है।

२९७. नरचन्द्र के इस टिप्पण में श्रीधर के विषय में हमें कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना भी मिलती है। न्यायकन्दली के अन्तिमांश से हमें पता चलता है कि श्रीधर गौड़देश के राढ़ जिले का निवासी था और उसने यह ग्रन्थ तात्कालिक राजा पाण्डुदास के आदेश से लिखा था। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीधर का आश्रयदाता राजा पाण्डुदास था। नरचन्द्र अपने टिप्पण में एक स्थल पर लिखता है—पाण्डुदासोऽयमिति ग्रन्थकृच्छिष्यः।[2] न्यायकन्दली के बनारस संस्करण। (पृ. ६३) में यहाँ घटोऽयमिति पाठ है। इससे यह अनुमान होता है कि न्यायकंदली की प्रति जो नरचन्द्र के पास थी उसमें महत्व के कुछ पाठान्तर थे और उस समय यह परम्परा कि पाण्डुदास श्रीधर का शिष्य था, कम से कम गुजरात में तो, प्रचलित ही थी। नरचन्द्र के टिप्पण में श्रीधर के गुरू के नाम से एक भट्टाचार्य का नाम भी दिया है—"गुरुभिरिन्द्रियजा भ्रान्तिरुच्यते (न्यायकं, पृ. १७८,। गुरुभिरिति भट्टाचार्यैरित्यर्थ[3]।" न्यायकन्दली के महान् लेखक के व्यक्तिगत इतिहास सम्बन्धी यह सूचना विशेष रूपेण महत्त्व की है क्योंकि हमें और कहीं भी यह नहीं मिलती है।

२९८ इस प्रकार यद्यपि नरचन्द्र एक महान् नैयायिक और अनेक शास्त्रों का गहन पंडित था, फिर भी वह शास्त्रों के संस्कृत टीकाकारों में पाए जानेवाले एक सामान्य दोष से मुक्त नहीं है। यह दोष है—टीका के प्रारम्भ में खूब ही विस्तार से लिखना, परन्तु ग्रन्थ के अन्तिम अंशों में विवेचन का संक्षिप्त होता जाना मानो कि टीकाकार लिखते-लिखते थक गया है और टीका झटपट अब समाप्त कर देने को आतुर है। न्यायकन्दली का विवेचन लिखते हुए नरचन्द्र ने प्रारम्भ के द्रव्यग्रन्थ पर पर्याप्त विस्तार से लिखा है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता हैं उसका यह विवेचन उत्तरोत्तर न्यून से न्यून होता जाता है। गुणग्रन्थ पर उसका टिप्पण द्रव्यग्रन्थ के टिप्पण की अपेक्षा छोटा और थोड़ा है। कर्म और सामान्य विषय शीघ्रता से समाप्त कर दिए गए हैं। 'विशेष' विषय पर कुछ भी

---

१. वही, पत्र १७, २१-२, ५१ आदि। ३. वही, पत्र ४० ।
२. वही, पत्र ५८ ।

टिप्पण नहीं किया गया है। और समवाय को तो तीन या चार पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया गया है। फिर भी यह सम्भव है कि टिप्पण के रूप में नरचन्द्र अध्येताओं को वैसी ही व्यवहारोपयोगी पूर्ण पुस्तक देना चाहता था जैसा कि उसने अनर्घराघव का टिप्पण और प्राकृतप्रबोध उन्हें दिया था। यह भी सम्भव है कि यह टिप्पण उसके व्याख्यानों की स्मारक-लिपि-रूप ही हो। उस दशा में उसने जिस रीति से विवेचन किया है उसका कारण कुछ समझ में आ सकता है।

अठारवाँ अध्याय

ज्योतिष ग्रंथ

फलित-ज्योतिष साहित्य

२६६. ज्योतिष शब्द ज्योतिष-सिद्धांत जिसे अंगरेजी में एस्ट्रोनोमी कहते हैं, और ज्योतिष-फलित जिसे अंगरेजी में एस्ट्रोलोजी कहते हैं, दोनों के लिए ही सामान रूप से संस्कृत में व्यवहार किया जाता है। छः वेदांग विद्याओं में की ही यह भी एक विद्या है और इसका हमारे देश में सदा से ही पोषण होता रहा है। "ब्राह्मणों में और सूत्रों में शुभनक्षत्र के भाव की मान्यता का हमें उल्लेख मिलता है। धर्मसूत्रों में तो स्पष्ट ही आदेश है कि राजा को दैवज्ञ (ज्योतिष का जानकार) रखना भी उसी प्रकार आवश्यक है कि जैसे ऋत्विक्। पश्चान्तर में अर्थशास्त्र में निम्न श्रेणी के राज-कर्मचारियों में राज-चारण, ऋत्विक् के सेवक और दैवज्ञ (ज्योतिषी) गिनाए गये हैं[1]" वराहमिहिर के महान् ग्रंथ बृहद्संहिता (५५० ई० लगभग) से हमें कितने ही प्राचीन दैवज्ञों का जैसे कि असित देवल, गर्ग, वृद्ध गर्ग, नारद और पराशर कि जिनके ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं, पता लगता है। इससे हम यह अवश्य ही कह सकते हैं कि वराहमिहिर के पहले भी दैवज्ञ याने ज्योतिष के कितने ही ग्रन्थ थे। वराहमिहिर[2] के एक उल्लेख से कि जिसमें इस विज्ञान में ग्रीस याने यूनान निवासियों की महान् प्रतिष्ठा का वर्णन है और इस बात से कि इस विज्ञान के अनेक पारिभाषिक शब्द ग्रीक ज्योतिष से सीधे ले लिए गये हैं[3] हमें भारत की इस विद्या पर ग्रीकों के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है।

३००. उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में न केवल हमें ज्योतिष पर ही, अपितु शकुनशास्त्र और पक्षी-ऋतु ज्ञान जैसे भविष्य-कथन सम्बंधी विषयों पर

---

१. कीथ, संस्कृत लिटरेचर, पृ. ५२८।

२. बृहद्संहिता, २.२५।

३. कीथ, वही, पृ. ५३०

भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। जैनों ने भी इन सभी विद्याओ[1] में न केवल आगम-युग से ही जब कि ज्योतिषकरण्डक, गणिविज्जा और अंगविज्जा जैसे ग्रन्थ रचे गये थे, अपितु आधुनिक काल तक भी अच्छा अवदान दिया है क्योंकि ज्योतिष एवं वैद्यक दोनो को ही जैन-यतियों ने अपनाया था, यहीं नहीं किंतु कितनों ही ने तो इन्हें अपनी आजीविका तक बना लिया था। गुजरात में लिखे गये अपेक्षाकृत प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों में सामुद्रिकतिलक का नाम लिया जा सकता है कि जिसे ११६० ई० में कुमारपाल के राज्यकाल में दुर्लभराज ने लिखना प्रारम्भ किया था और जिसको उसके पुत्र जगद्देव ने समाप्त किया था। इस जगद्देव ने स्वप्नचिंतामणि नामक स्वप्नों का फल बताने वाला ग्रन्थ भी लिखा था। तीसरा ग्रन्थ है नरपतिजयचर्यास्वरोदय जो कि राजा अजयपाल के काल में अणहिलवाड़ मे अमरदेव के पुत्र नरहरि द्वारा लिखा गया था[2]।

उदयप्रभ की आरम्भसिद्धि और नरचन्द्र का ज्योतिःसार

३०१. कुमारपाल और अजयपाल के युग के कुछ ही दशकों पश्चात्, वस्तुपाल का युग प्रारम्भ हो जाता है कि जिसके विद्यामण्डल की साहित्यिक रचनाओं में कम से कम दो ग्रन्थ तो फलित ज्योतिष के भी मिलते हैं, यथा— उदयप्रभसूरि की आरम्भसिद्धि और नरचन्द्रसूरि का ज्योतिःसार। आरम्भसिद्धि में ४१२ गाथाएँ या श्लोक हैं और उपलब्ध ज्योतिःसार में २५७। दोनों ही मुहूर्त-शुद्धि अर्थात् ज्योतिष की दृष्टि से शुभ काम करने का शुभ समय जानने या निकालने की कला पर है। इसमें जैन पण्डित विशेषता प्राप्त करते थे। जैन साहित्य में ज्योतिष और तत्सम्बन्धित कला के अनेक ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। परन्तु ये दो ग्रन्थ ही अपने विषय के प्रमाणभूत माने जाते हैं और इनकी लोकप्रियता एवं प्रचार इससे प्रमाणित होता है कि गुजरात और राजस्थान के प्राचीन ग्रन्थ-भण्डारों में इनकी बीसों प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं।

---

१. जिरको, पृ. १२८, १३४, १५०–५१, १५६, ३६८–६९, ४६०; और जैसप्र, भाग १६ पृ. ४।

२. कीथ, वही, पृ. ५३४–३५। लींभंसू, पृ. १६० और जैसासंइ, पृ. २७७ आदि भी।

अठारवाँ अध्याय

ज्योतिष ग्रंथ

फलित-ज्योतिष साहित्य

२९९. ज्योतिष शब्द ज्योतिष-सिद्धांत जिसे अंगरेजी में एस्ट्रोनोमी कहते हैं, और ज्योतिष-फलित जिसे अंगरेजी में एस्ट्रोलोजी कहते हैं, दोनों के लिए ही सामान रूप से संस्कृत में व्यवहार किया जाता है। छः वेदाग विद्याओं में की ही यह भी एक विद्या है और इसका हमारे देश में सदा से ही पोषण होता रहा है। "ब्राह्मणों में और सूत्रों में शुभनक्षत्र के भाव की मान्यता का हमें उल्लेख मिलता है। धर्मसूत्रों में तो स्पष्ट ही आदेश है कि राजा को दैवज्ञ (ज्योतिष का जानकार) रखना भी उसी प्रकार आवश्यक है कि जैसे ऋत्विक्। पच्चान्तर में अर्थशास्त्र में निम्न श्रेणी के राज-कर्मचारियों में राज-चारण, ऋत्विक् के सेवक और दैवज्ञ (ज्योतिषी) गिनाए गये हैं"[1] वराहमिहिर के महान् ग्रंथ वृहद्संहिता (५५० ई० लगभग) से हमें कितने ही प्राचीन दैवज्ञो का जैसे कि असित देवल, गर्ग, वृद्ध गर्ग, नारद और पराशर कि जिनके ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं, पता लगता है। इससे हम यह अवश्य ही कह सकते है कि वराहमिहिर के पहले भी दैवज्ञ याने ज्योतिष के कितने ही ग्रन्थ थे। वराहमिहिर[2] के एक उल्लेख से कि जिसमें इस विज्ञान में ग्रीस याने यूनान निवासियों की महान् प्रतिष्ठा का वर्णन है और इस बात से कि इस विज्ञान के अनेक पारिभाषिक शब्द ग्रीक ज्योतिष से सीधे ले लिए गये हैं[3] हमें भारत की इस विद्या पर ग्रीकों के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है।

३००. उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में न केवल हमें ज्योतिष पर ही, अपितु शकुनशास्त्र और पक्षी-ऋतु ज्ञान जैसे भविष्य-कथन सम्बंधी विषयों पर

---

१. कीथ, संस्कृत लिटरेचर, पृ. ५२८।

२. बृहद्संहिता, २ २५।

३. कीथ, वही, पृ. ५३०

माला ५४० गाथाओं का धार्मिक और उपदेशात्मक प्राकृत ग्रन्थ है। इसका रचयिता धर्मदासगणि महावीर का ही एक शिष्य[1] था ऐसी पुरातन परम्परा या किम्वदन्ती है। परन्तु यह सच प्रतीत नहीं होती क्योंकि यह उपदेशमाला की भाषा पीछे की जैन महाराष्ट्री के समान है। सत्य कुछ भी हो, परन्तु यह ग्रन्थ ६वीं सदी के पहले का तो है ही क्योंकि उस युग में सिद्धर्षि ने उस पर एक टीका लिखी थी (पैरा १५)। उपदेशमाला का अध्ययन और वाचन बहुत ही प्रचलित था और है। इस पर कम से कम अठारह टीकाएँ संस्कृत में, एक प्राकृत में और तीन बालावबोध प्राचीन गुजराती में लिखे गए हैं[2]। कालक्रमानुसार से उदयप्रभ की कर्णिका उस पर चौथी टीका है। इसकी पूर्वज तीन टीकाएँ हैं— १. सिद्धर्षि की संस्कृत टीका, २. कृष्ण[3] के शिष्य जयसिंहसूरि (८५७ ई०) की प्राकृत वृत्ति और ३. रत्नप्रभसूरि[4] (१.८२ ई०) की दोघट्टी वृत्ति। उदयप्रभ की कर्णिका अभी तक अमुद्रित है। हस्तलिखित प्राप्त है। यह एक बड़ी लंबी टीका है और इसके ग्रन्थाग्र १२२७४ श्लोक हैं[5]। टीका का इतना विस्तार मूल पाठ के विवेचन के कारण नहीं हुआ है, अपितु उन कथाओं के कारण कि जो गाथोक्त बात को समझाने को दृष्टान्त रूप से सम्मिलित हुई है। विषय का विवेचन तो संक्षिप्त ही है। परन्तु कथाओं के कारण पहले की तीन गाथाओं की टीका की ग्रन्थाग्र संख्या ही १६४४ श्लोक हो गई है। सब दृष्टान्त कथाएँ जैनधर्म-कथाओं के आदर्शानुसार हैं। जैन पुराणों और जैन इतिहास से ही वे ले ली गई हैं। अनुष्टुप् छन्द ही उनमें प्रयुक्त किया गया है। मूल की व्याख्या गद्य में है। मंगल-श्लोकों में से ८वें श्लोक में उदयप्रभसूरि ने अपने पूर्वज टीकाकारों में से श्रीसिद्धर्षि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

गाथास्तु खलु धर्मदासगणिनः सञ्जातरूपश्रियः
किंचैष स्फुरदर्थरत्ननिकरः सिद्धर्षिणैवार्पितः।
तेनैतामतिवृत्तसंस्कृतमयीमातन्वतः कर्णिकां
वृत्ति मेऽत्र सुवर्णकारपदवीसीमाश्रमश्चिन्त्यताम् ॥ पत्र १ ॥

---

१. जैसासंइ, पृ. ३१। २. जिरको, पृ. ४६–५१।

३. इसी ग्रंथकार ने धर्मोपदेशमाला नामक प्राकृत प्रकरण सन् ८५६ ई. में, धर्मदासगणि के प्रकरण से प्रेरणा पाकर ही लिखा है।

४. जिरको, पृ. ४६–५०। ५. वही, पृ. ५०।

बालचन्द्र की विवेकमंजरी व उपदेशकन्दली टीकाएँ

३०५. अब हम आसड़ के दो प्राकृत प्रकरण—विवेकमंजरी एवं उपदेश-कन्दली की बालचन्द्र रचित टीकाओं का विचार करें। पहली में १२७ गाथाएँ हैं और दूसरी में १२५। दोनों ही ग्रंथ जैनधर्मोपदेशी हैं। विवेकमजरी की टीका छप कर प्रकाशित हो गई है। उपदेशकन्दली की टीका हस्तलिखित प्रति में ही मिलती है। दोनों ही कर्णिका शैली पर रची गई हैं और बीच-बीच में गाथाओं में लंबे कथानक दिए गये हैं। इस कारण विवेकमजरी टीका के ग्रन्थाग्र ८०००[1] श्लोक और उपदेशकन्दली टीका के ७६०० [2] श्लोक हैं। विवेकमंजरी टीका चार भागों में विभाजित है और पहले तीन भागों के अन्त में रचयिता ने आसड़ के पुत्र जैत्रसिंह की प्रशंसा में एक श्लोक दे दिया है कि जिसके लाभार्थ यह टीका लिखी गई थी (पैरा १२५)। चौथे भाग के अन्त में एक लंबी प्रशस्ति दी गई है जो उपदेशकन्दली-टीका की प्रशस्ति के अक्षरशः समान है। उपदेशकन्दली टीका १२ भागो में है और उसके प्रत्येक भाग के अन्त में दो गाथाएँ जोड़ी गई हैं जिनमें से एक बालचन्द्र के गुरु हरिभद्रसूरि की प्रशंसा में है और दूसरी मूल प्रकरण के लेखक आसड़ की प्रशंसा में। दोनों टीकाओं के कुछ कथानक कई सौ श्लोक लंबे हैं। विवेकमंजरी-टीका में टीकाकार ने भरतभूषण महाकाव्य[3] अर्थात् भरत का जीवन चरित पद्य में दे दिया है। इसके ५४५ श्लोकों के चार सर्ग हैं। दूसरा इसमें सीता चरित[4] महाकाव्य है जिसके तीन सर्ग और सकल ५५६ श्लोक हैं। तीसरा दमयन्ती ललित महाकाव्य[5] है और इसमें नल-दमयन्ती की कथा ३ सर्गों और ३१४ श्लोकों में कही गई है। यह स्मरण कराने की आवश्यकता ही नहीं है कि यहाँ महाकाव्य शब्द का प्रयोग उस विशिष्ट अर्थ मे किया गया है कि जिस कथा-काव्य के प्रमुख नायक और नायिका धार्मिक या पौराणिक पुरुष होते हैं (पैरा ६६)। सीताचरित महाकाव्य उपदेशकन्दली-टीका[6] में भी आता है। इसमें एक दूसरी लम्बी कथा है राजा श्रेणिक की, जिसको श्रेणिकोपाख्यान[7]

---

१. अष्टावनुष्टुभामत्र सहस्राणि भवन्ति हि। प्रत्यक्षरं गणनयां ग्रन्थमाने विनिश्चिते ॥ विमंटी, पृ २१७।

२. जिरको, पृ. ४७।

३. विमंटी. पृ. १–२५।

४. वही, पृ. १११–०७

५. वही, पृ. १३२–४३।

६. उपकंटी, पत्र १६५–८१।

७. वही, पत्र १८–३२।

महाकाव्य कहा गया है। इसमें ४ सर्ग और ३३६ श्लोक हैं। दोनों ही टीकाएँ एक ही लेखक की लिखी हुई हैं इसलिए इन दोनों में कथानक भी कितने ही समान हैं। विवेकमंजरी टीका के एक स्थल पर टीकाकार ने अपना ही रचा हुआ एक सुभाषित भी दिया है[1]।

३०६. इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों ही टीका-ग्रन्थों की शैली एक-सी है। इसका कारण जैनाचार्यों की शास्त्राध्ययन और विवेचन सम्बन्धी साहित्य परम्परा ही है। छन्दोबद्ध निर्युक्तियाँ और भाष्यों में भी कितनी ही बार उपाख्यान आते हैं परन्तु वहाँ संकेत-शब्द रूप में ही दिया जाता है ताकि पढ़नेवाले को यह कथानक स्मरण हो जाए और वह फिर उसे अपने ही शब्दों में अपने श्रोताओं या विद्यार्थियों को कह सुनाए। प्राकृत चूर्णियों में कभी-कभी परम्परा के दृष्टांत कथानक ही दे दिए गए हैं। परन्तु ये कथानक सदा गद्य में और बिना किसी साहित्यिक अतिरंजना के बिलकुल संक्षेप में कहे हुए ही हैं। संस्कृत टीकाओं में कथानक सदा प्राकृत में ही दिए जाते हैं क्योंकि वे उन पुरानी सामग्रियों से संगृहीत होते है जो प्राकृत में हैं। उत्तरकालीन संस्कृत टीकाओं में से कुछ में ये कथानक भी संस्कृत में पाए जाते हैं। परन्तु उनमें बहुलतया ये कथानक पद्य में होते हैं जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र की नेमिचन्द्र की टीका में (१०७३ ई०) देखा जाता है। समय जैसे बीतता गया है जैनों में भी प्राकृत का पोषण घटता गया और सम्भवतया द्विभाषी टीकाएँ पाठकों की दृष्टि से असुविधाजनक पाई गई क्योंकि बहुतेरे साधु होते हुए भी विद्वान नहीं होते थे। इस प्रकार हम उस काल तक कि जिसकी टीकाओं का पर्यवेक्षण यहाँ किया गया है, पहुँच जाते हैं कि जो पूरी की पूरी संस्कृत में ही हैं और जिनमें कथानक भी सुखबोध्य और सुपाठ्य संस्कृत में दिए हुए हैं। धार्मिक प्रकरण दैनिक उपदेशों में पढ़ने की प्रथा थी और दृष्टांत-कथानको की सहायता से उपदेश श्रोताओं को रोचक बनाने में बहुत सहायता मिलती थीं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि दैनिक व्याख्यानों की प्रथा ने निर्युक्ति की स्मारक गाथाओं ने जैन व्याख्या-ग्रन्थो के विकास में मुख्य रूप से सहायता दी जैसे कि उदयप्रभ और बालचन्द्र की ये टीकाएँ हैं।

---

१. यदुक्तमस्माभिः सूत्रपंक्तौ—

पद्माश्रय इति पद्म धिनोति कुमुदं न यदब्जबन्धुरपि।
अब्जत्वे तुल्येऽपि हि तज्ज्ञातिः कारणात्मैव ॥—विमंटी पृ. २।

उपसंहार

३०७. पिछले अध्यायों में हमने गुजरात के उस युग की साहित्यिक और विद्वत्परम्पराओं का दिग्दर्शन किया है, जो वस्तुपाल से पहले का युग था। फिर हमने वस्तुपाल एवं उसके विद्यामण्डल के कवियों व विद्वानों के ऐतिहासिक और साहित्यिक जीवन का भी अवलोकन किया है। इन लोगों ने संस्कृत साहित्य को जो-जो देन दी, उसका भी हमने शैलीवार विचार किया है। इस विद्यामण्डल के ग्रन्थ स्फुट श्लोकों से लेकर महाकाव्यों तक हैं और शास्त्रीय वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं पर लिखे गए हैं। यदि हम उन ग्रन्थों का विचार नहीं भी करें कि जिनका इस सर्वेक्षण में उल्लेख मात्र ही किया गया है और जो आज तक भी अप्राप्य हैं, तो भी छोटे शिलालेखों और प्रबंधों की अनेक प्रशस्तियों के अतिरिक्त दस महाकाव्य, चार नाटक, १८ प्रशस्ति, ६ स्तोत्र, तीन चयनिका या संग्रहग्रन्थ, एक प्रबन्धसंग्रह, एक जैनधर्मकथा-सग्रह, दो अपभ्रंश रास, तीन अलंकारशास्त्र, एक कविशिक्षा, दो व्याकरण (एक संस्कृत का और दूसरा प्राकृत का), एक छन्दशास्त्र, एक न्यायग्रन्थ, दो ज्योषितग्रन्थ, तीन जैनधर्म-प्रकरणों की टीकाएँ और एक अनर्घराघव नाटक पर टिप्पण इस विद्यामण्डल की देन है। यह देन इसलिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि १३वीं सदी में प्रवर्तमान गुजरात की साहित्यिक सर्जन और विद्याध्ययन प्रवृत्तियों का यह एक अंश ही थी क्योंकि जैसा कि इस निबंध के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, इसमें उन्हीं साहित्य महारथियों के ग्रन्थों का विचार किया गया है जो वस्तुपाल का प्रत्यक्ष आश्रय पाए हुए थे। अन्य समकालिक साहित्यिकों के जीवन और ग्रन्थों का तो यहाँ विचार ही नहीं किया गया है कि जिनमें नैषधचरित के प्राचीनतम टीकाकार विद्याधर (पैरा ८२), कविशिक्षा का लेखक विनयचन्द्र (पैरा २६२), लक्ष्मीधर (१२२५ ई०), और देवेन्द्र (१२४२ ई०) कि जिन्होंने धनपाल की तिलकमंजरी और सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा का क्रमशः बहुत उत्तम सार ग्रन्थ दिया था, गिनाए जा सकते हैं। इन अन्य साहित्यिको के ग्रन्थ गुण और गिनती में किसी भी रीति से नगण्य नहीं थे, परन्तु वस्तुपाल के आश्रय से बाहर होने के कारण ही वे विचार क्षेत्र में नहीं आ पाए हैं।

३०८. वस्तुपाल के इस विद्यामण्डल का सर्व प्रमुख व्यक्ति था सोमेश्वर।

गुजरात के चौलुक्य राजाओं का यह राजगुरू विशिष्ट गुणी कवि था और इसने संस्कृत में सभी रूप का सर्जक साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। इसने महाकाव्य, नाटक, स्तोत्र, मुक्तकसंग्रह, प्रशस्तियाँ, और अनेक स्फुट काव्य या कविताएँ लिखीं। इन सब में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। यह बिना हिचकिचाहट कहा जा सकता है कि न केवल मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में ही उसका स्थान अत्यन्त ऊँचा है, अपितु उसके कीर्त्तिकौमुदी जैसे ग्रन्थ को कालिदास, भारवी, माघ आदि प्राचीन संस्कृत कवियों के ग्रन्थों के समक्ष दूसरा स्थान भी दिया जा सकता है।

३०९. उस मण्डल के अन्य सदस्यों में कि जिनके साहित्यिक ग्रन्थ हमें आज प्राप्त हैं, हम नरचन्द्रसूरि और अमरचन्द्रसूरि का नाम गौरव के साथ ले सकते हैं। अमरचन्द्रसूरि जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक बहुफलप्रसू और सर्वतोमुखी लेखक था। परन्तु उसकी एक ही कृति-काव्यकल्पलता जो कि कवि-शिक्षा की पाठ्य-पुस्तक है, ने उसे सुप्रसिद्ध और अमर कर दिया है। वह जैन और अजैन सब संस्कृत पढ़नेवालों में अपने विषय की अत्यन्त प्रामाणिक और लोकप्रिय पाठ्य-पुस्तक सिद्ध हुई है। नरचन्द्रसूरि अनेक शास्त्रों में प्रवीण था। उसने वस्तुपाल को तीन विद्याएँ पढ़ाईं थीं। (पैरा ११८) और श्रीधर की न्यायकन्दली पर उसका टिप्पण उसकी महान् विद्वत्ता केवल न्याय में ही नहीं, अपितु अन्य दर्शनो में भी प्रमाणित करता है। हम संकेत के लेखक माणिक्य-चन्द्रसूरि को भी यहाँ गिना सकते हैं कि जो मम्मट के काव्यप्रकाश के प्रथम टीकाकारों में से एक था। मैंने इस निबन्ध में अन्य साहित्यकारों का भी यथास्थान विचार किया है और उन सबका नाम यहाँ पुनरावर्तन करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।

३१०. उन दिनों गुजरात की साहित्यिक संस्कृति सुग्रथित और समन्वित थी जिसमें जैन और ब्राह्मण दोनों ही पण्डितों में प्रशंसनीय सांस्कृतिक सहयोग रहा था। हम देखते हैं कि सोमेश्वर जैसा राजपुरोहित जैन मन्दिरों की प्रशस्तियाँ लिखता है और जैन साधु जैसे कि बालचन्द्र भागवत पुराण जैसे ब्राह्मण-शास्त्रों से अपने साहित्यिक उपादान प्राप्त करता है (पैरा १५८)। फिर जैन साधु अमरचन्द्र सारी महाभारत का सार एक महाकाव्य में लिखता है और उसके सब सर्गों में सर्व प्रथम व्यास की प्रशंसा करता है। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि अमरचन्द्र का सार त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित एवं अन्य जैनग्रन्थों में प्राप्त जैन महाभारत का सार या संक्षेप नहीं है, अपितु वह सार भारतीय परम्परा

और आख्यानों के विश्वकोष व्यासलिखित महाभारत का है। यह प्रकट करता है कि अमरचन्द्र के श्रोतागण जो अधिकांशतया जैन ही थे, ब्राह्मणीय महाभारत से रुचि रखते थे। युगों से चलता श्रमण और ब्राह्मण का वैर कि जिसका पाणिनि आदि ने उल्लेख किया था, गुजरात में मानों काफूर ही हो गया था। साहित्यिक बातों में यह असम्प्रदायिक दृष्टि उस समय कोई आकस्मिक नहीं थी। परन्तु वह तो उस प्रशंसनीय सहनशीलता और आदान-प्रदान की उदात्त भावना से प्रसूत थी, जो उस समय के जीवन में जिसका वस्तुपाल जैसा महापुरुष प्रतिनिधित्व करता था, प्रायः सभी दृष्टियों में प्रवर्तमान थी और यह बात पिछले अध्यायों में बहुत ही विशदता के साथ वर्णन की जा चुकी है। एक बात और भी इससे स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि हिन्दू-संस्कृति जिसका कि जैन धर्म और संस्कृति भी अविभाज्य अंश है, एक थी और गुजरात का मध्ययुगीन सारा इतिहास ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है कि जिसमें सारे प्रान्त के सांस्कृतिक जीवन पर अमिट छाप छोड़ देनेवाली ब्राह्मण और जैन प्रवृत्तियों का अद्भुत संमिश्रण हमें दिखलाई पड़ता है।

सहायक ग्रन्थ सूची

(अ) मुद्रित ग्रन्थ

अंग्रेजी

आल्टेकर, ए. एस.—ए हिस्ट्री आफ इम्पार्टेण्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड़, बंबई, १९२८।

कजिन्स, हेनरी—दी आर्कीटेक्चरल एण्टीक्विटीज आफ व्येस्टर्न इण्डिया, लन्दन, १९२६।

कमीसरियट, एम. एस.—ए हिस्ट्री आफ गुजरात, भाग १, बंबई, १९३८।

कुमारस्वामी, ए. के.—हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनीसियन आर्ट, लंदन, १९२७।

कैम्पव्येल, सर जेम्स एम.—बोम्बे गजैट्यिर, भाग १, खण्ड १ (हिस्ट्री आफ गुजरात), बंबई १८९६। वही, भाग ८, (काठियावाड़) १८८४।

काणे, पी. वी.—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयेटिक्स, बंबई, १९२३।

कीथ, सर ए. बी.—क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, ३रा संस्करण, कलकत्ता, १९३२।

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफर्ड, १९२८।

इण्डियन लोजिक एण्ड अटोमिज्म, आक्सफर्ड, १९२१।

संस्कृत ड्रामा, आक्सफर्ड, १९२४।

कृष्माचारियर, एम.—हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७।

गर्दे, ए. एस.—सम इम्पार्टेण्ट इंस्क्रिप्शन्स फ्राम दी बरोदा स्टेट, बरोदा, १९४३।

डाण्डेकर, आर एन.—हिस्ट्री आफ गुप्ताज, पूना, १९४१।

दासगुप्ता, एन. एस. और दे, एस. के.—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, क्लासिकल पीरियड, भाग १, कलकत्ता, १९४७।

दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग १, कैम्ब्रिज, १९२२।

दे, नन्देलाल—दी ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी आफ एन्शेंट एण्ड मेडीवल इण्डिया, लन्दन, १९२७।

दे, एस. के.—स्टडीज इन दी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयेटिक्स, २ भाग, लन्दन, १९२३ व १९२५।

पार्जिटर, एफ. ईडन—मार्कण्डेयपुराण : (अंगरेजी अनुवाद), कलकत्ता, १६०४।
परीख, रसिकलाल छोटालाल—काव्यानुशासन आफ हेमचन्द्र भाग २, इंट्रोडक्शन बंबई, १६३८
फर्ग्यूसन, जेम्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (२ भाग), लंदन, १६१०।
फारबस, ए. के.—रासमाला (२ भाग), आक्सफर्ड, १६२४।
बनर्जी, आर. डी.—दी एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, १६३३।
बील, सैम्युअल—बुद्धीस्ट रेकार्ड्स आफ दी व्येस्टर्न वर्ल्ड (२ भाग) लदन, १८८४।
ब्यूलर, जी.—दी लाइफ आफ हेमचन्द्राचार्य (अंगरेजी अनुवाद), अहमदाबाद, १६३६।
बेलवलकर, एस के.—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पूना, १६१५।
बर्ग्यैस, जे. और कजन्स, एम.—दी एण्टीक्विटीज आफ डभोई इन गुजरात, एडिनबरो, १८८८।
ब्राउन, परसी—इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धीस्ट एण्ड हिन्दू), बंबई, १६४२।
मैकडोन्यल, ए. ए.—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, न्यूयार्क और लंदन, १६२६।
मुन्शी, क. मा—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, बंबई, १६३५।
दी ग्लोरी देट वाज गुर्जरदेश, भाग ३-इम्पीरिअल गुर्जराज, बंबई, १६४४।
टाड, जेम्स, अनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान, ३ भाग, लंदन, १६२०।
टानी, सी. एच.—प्रबन्धचिंतामणि आर दी विशिंग-स्टोन आफ नैरेटिव्ज, कलकत्ता, १६०१।
राण्डले, एच. एन.—इण्डियन लोजिक इन दी अर्ली स्कूल्स, आ.यू. प्रेस १६३०।
वाटर्स, टामस—आन यू आन च्वागस् ट्रैवल्स इन इण्डिया, ६२६-६४५ ई, दो भाग, लंदन, १६०४।
विण्टर्निट्ज, मारिस—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा. १ व २ कलकत्ता, १६२७ व १६३३।
विद्याभूषण, शतीशचन्द्र—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लोजिक, कलकत्ता, १६२१।
शाह चिम्मनलाल जे.—जैनीज्म इन नार्दर्न इण्डिया, लंदन, १६३२।
शास्त्री, एच. जी.—डैटा सप्लाइड बाइ दी संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स आफ दी वल्लभी किंगडम (अप्रकाशित)।
सांकलिया, एच. डी.—आर्कियालोजी आफ गुजरात, बंबई, १६४१।
शास्त्री, हीरानन्द,—दी रुइन्स आफ डभोई आर दर्भावती, बड़ोदा, १६४०।

स्मिथ, विन्सेंट ए.—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, ४था संस्करण, आक्सफर्ड १६२४।
हरिडकी, कृष्णकान्त—नैषधचरित (अनुवाद), लाहोर, १६३४।
यशस्तिलक, इण्डियन कल्चर, शोलापुर, १६४६।
हर्टल, जोहनेस—आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, लिप्जिग, १६२२।

संस्कृत और प्राकृत

अकलंकदेव—अकलंकग्रन्थत्रयम् (महेन्द्रकुमार शास्त्री सम्पादित), अहमदाबाद-कलकत्ता, १६३६।
अमरचन्द्रसूरि—काव्यकल्पलता-वृत्ति (सम्पा. पं० जगन्नाथ शास्त्री) होशांग, बनारस, १६३१।
चतुर्विंशति-जिनेन्द्र-संक्षेप-चरितानि, पद्मानन्द महाकाव्य में परिशिष्ट रूप मुद्रित।
पद्मानन्द महाकाव्य (सम्पा. ही. र. कापड़िया), बड़ोदा, १६३२।
बालभारत (सम्पा. पं. शिवदत्त और के. पी. परब), बंबई, १८६४।
स्यादिशब्दसमुच्चय (सम्पा. पं. ला. भ. गांधी) बनारस, वी. सं. २४४१।
अरिसिंह—सुकृतसंकीर्तन (सम्पा. मुनि चतुरविजयजी), भावनगर, १८१७।
उदयप्रभसूरि—विजयसेनसूरी का शिष्य—आरम्भसिद्धि (सम्पा. मुनि जितेन्द्रविजय), छाणी, १६४२।
धर्माभ्युदय महाकाव्य (सम्पा. मुनि पुण्यविजय) बंबई, १६४६।
वस्तुपालस्तुति (सिंधी जैन ग्रन्थमाला में वस्तुपाल सम्बन्धी समकालिक संग्रह में मुद्र्यमाण)
सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी जयसिंहसूरि के हम्मीरमदमर्दन में परिशिष्ट रूपेण मुद्रित।
कालिदास—अभिज्ञानशाकुंतल (सम्पा. एन. बी. गाडबोले) ८वां संस्करण, बंबई १६२२।
रघुवंश (सम्पा. के. आर. परब व बी. एल. पनशरकर), ६ठा संस्करण, बंबई, १६१०।
किंजवडेकर, रामचन्द्र शास्त्री (सम्पा.) महाभारत, शांतिपर्व, नीलकण्ठी टीका सहित पूना, १६३२।
क्षेमेन्द्र—कविकण्ठाभरण, औचित्यविचारचर्चा और सुवृत्ततिलक (सम्पा. ढुंढिराज शास्त्री), बनारस, १६३३।

चतुरविजय, मुनि अमरविजयजी के शिष्य द्वारा सम्पादित—जैन स्तोत्र समुच्चय, वंबई, १६२८।

जैन स्तोत्र संदोह, भाग १, अहमदाबाद, १६३२।

जयसिंहसूरि कृष्ण गच्छ के—कुमारपाल चरित महाकाव्य (सम्पा. क्षान्तिविजय-गणि), वंबई २६।

न्यायतात्पर्यदीपिका-भासर्वज्ञ के न्यायसार पर (सम्पा सतीशचन्द्र विद्याभूषण), कलकत्ता, १६१०।

जयसिंहसूरि, कृष्ण के शिष्य—धर्मोपदेशमाला प्रकरण (सम्पा. ला. भ. गांधी), वंबई, १६४६)

जह्लण— सूक्तिमुक्तावलि (सम्पा –एम्बर कृष्णमाचार्य) बड़ोदा, १६३८।

जिनदत्तसूरि—विवेकविलास (सम्पा.–भ फ. कारभारी) वंबई, १६११।

जिनप्रभसूरि—विविधतीर्थकल्प (सम्पा.—मु. जिनविजयजी, अहमदाबाद व कलकत्ता, १६३४।

जिनभद्र और अन्य अज्ञात लेखक—पुरातनप्रबन्ध संग्रह (सम्पा. मुनिजिनविजयजी) कलकत्ता १६३६।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण—जितकल्पचूर्णी (सम्पा.-मु. जिनविजयजी), संवत् १६८३।

विशेषावश्यकभाष्य, सम्पादक नाम और प्रकाशन संवत् नहीं है, रतलाम।

जिनमण्डन—कुमारपालप्रबन्ध, सम्पा.–मु॰ चतुरविजयजी, भावनगर, संवत् १६७१।

जिनविजय मुनि सम्पादित—जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, भाग १, वंबई, ६४३।

जिनहर्ष—वस्तुपालचरित सम्पा.–मु कीर्तिविजय, अहमदाबाद, १६४१।

दण्डिन्—काव्यादर्श, सम्पा. व अनुवादक एस. के. वेलवलकर, पूना, १६२४।

देवप्रभसूरि—पाण्डवचरित महाकाव्य, सम्पा.-पं० केदारनाथ व वी. एल. पनिशीकर, वंबई, १६११।

देवेश्वर—कविकल्पलता, सम्पाः-पं० सरत्चन्द्र शास्त्री, प्रकाशित खण्ड १-२ कलकत्ता, १६१३-२३।

धर्मदासगणि—उपदेशमाला, सम्पा. लिखा नहीं, जामनगर, १६३६।

नयचन्द्रसूरि— हम्मीरमहाकाव्य, सम्पा.–एन. जे. कीर्तने, वंबई, १८७६।

नरचन्द्रसूरि, देवप्रभसूरि का शिष्य-ज्योतिःसार, उपाध्याय क्षमाविजयजी सम्पादित जैन ज्योतिर्ग्रन्थ सग्रह में प्रकाशित, बम्बई १६३८।

वस्तुपालप्रशस्ति, नरेन्द्रप्रभसूरि के अलंकार महोदधि के परिशिष्ट रूप प्रकाशित।

नरेन्द्रप्रभसूरि—अलंकारमहोदधि, सम्पा.–लां. भ. गांधी, बड़ोदा, १९४२।
दो वस्तुपालप्रशस्तियां, अलंकार–महोदधि के परिशिष्ट में प्रकाशित।
नेमिचन्द्र—उत्तराध्ययन–टीका, सम्पाः–विजयउमंगसूरि, वलाद, १९३७।
पूर्णभद्र—पंचाख्यान, सम्पाः—जोहनेस हर्टल, कैम्ब्रिज, मेसाच्यूसेट्स, १९०८।
प्रद्युम्नसूरि—समरादित्यसंक्षेप, सम्पाः–मु. उमंगविजय, अम्बाला, १९२६।
प्रभाचन्द्राचार्य (दिगम्बर)-प्रमेयकमलमार्तण्ड, सम्पाः–महेन्द्रकुमार शास्त्री, द्वितीय संस्क., बंबई १९४१।
प्रभाचन्द्राचार्य (श्वेताम्बर)—प्रभावकचरित, सम्पाः–मु. जिनविजयजी, बम्बई, १९४०।
प्रह्लादनदेव—पार्थपराक्रमव्यायोग, सम्पाः–चि. डा. दलाल, बडोदा, १९१७।
बाण—चण्डीशतक, सम्पाः–प० दुर्गाप्रसाद व के पी. परब, बंबई, १८८७।
बालचन्द्र—करुणावज्रायुद्ध, सम्पाः—मु. चतुरविजयजी, भावनगर, १९१६।
वसन्तविलास महाकाव्य, सम्पाः–चि. डा. दलाल, बड़ोदा, १९१७।
विवेकमंजरी टीका, सम्पाः–पं० हरगोविन्ददास, बनारस, संवत् १९७५।
भट्टारक जयराशि—तत्त्वोपप्लवसिंह, सम्पाः–पं० सुखलालजी व प्रो. र छो. परीख, बड़ोदा, १९४०।
भद्रबाहु—कल्पसूत्र, सम्पाः–हरमन याकोबी, लीप्जिग, १८७९।
भरत—नाट्यशास्त्र, सम्पाः–म. रामकृष्ण कवि, भाग १-२, बड़ोदा, १९२६-३४;
सम्पाः–बटुकनाथ शर्मा व बलदेव उपाध्याय, बनारस, १९२९।
भवदत्त शास्त्री व के पी. परब—प्राचीन लेखमाला, बंबई, १९०३।
भारवी—किरातार्जुनीय, सम्पाः–पं० दुर्गाप्रसाद व के. पी. परब, ५ वां संस्करण, बंबई, १९०३।
मम्मट—काव्यप्रकाश, सम्पाः–वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, माणिक्यचन्द्र के संकेत सह, पूना, १९२९।
मयूर—सूर्यशतक, सम्पाः–पं. दुर्गाप्रसाद व वी. एल. पनशीकर, ३रा संस्क., बंबई, १९२७।
मल्लवादिन्—नयचक्र, सम्पाः–विजयलब्धिसूरि, भाग १, छाणि, संवत् २००४।
माघ—शिशुपालवध, सम्पाः–पं. दुर्गाप्रसाद व पं शिवदत्त, ७म संस्क, बंबई, १९१७।
माणिक्यचन्द्र-काव्यप्रकाश–संकेत, सम्पा.–वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, पूना, १९२९।
मुरारि-अनर्घराघव नाटक, सम्पाः–पं. दुर्गाप्रसाद व के. पी. परब, बंबई, १८८७।
मेघप्रभाचार्य—धर्माभ्युदय नाटक, सम्पा.–मु. पुण्यविजयजी, भावनगर, १९१८।

मेरुतुंगाचार्य—प्रबन्धचिंतामणि, सम्पा—मु जिनविजयजी, अहमदाबाद व कलकत्ता, १९३३।

मेरुतुंगाचार्य दूसरा—विचारश्रेणी, जैन साहित्य संशोधक में प्रकाशित, मई, १९२५।

मोदी, रमणलाल सी सम्पादित—वायुपुराण, वायड़ा जाति के ब्राह्मणों और बनियों का पुराण, अहमदाबाद, १९४४।

यशःपाल—मोहराजपराजय नाटक, सम्पा.—मु. चतुरविजयजी, बड़ोदा, १९१८।

यशश्चन्द्र—मुद्रितकुमुदचन्द्र प्रकरण, (सम्पा. निर्देश नहीं है) बनारस, वीर सम्वत् २४३२।

रत्नमन्दिर गणि—उपदेशतरंगिणी, सम्पा. नहीं लिखा, बनारस, वीर सम्वत् २४३७।

राजशेखर—काव्यमीमांसा, सम्पा.-सी. डी. दलाल व आर ए. शास्त्री, ३य संस्क., बड़ोदा, १९३४।

बालरामायण नाटक, सम्पा—गोविन्द देव शास्त्री, बनारस, १८६६।

राजशेखरसूरि—प्रबन्धकोश या चतुर्विंशतिप्रबन्ध, सम्पाः—मुनि जिनविजयजी, अहमदाबाद व कलकत्ता, १९३५।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र—नाट्यदर्पण, सम्पा.-जी के. श्रीगोदेकर व एल. बी. गांधी, भाग १, बड़ोदा, १९२९।

रामभद्र—प्रबुद्धरौहिणेय नाटक, सम्पाः-मु. पुण्यविजयजी, भावनगर, १९१८।

लेले, व्यंकटेश शास्त्री सम्पादित—बृहद्स्तोत्ररत्नहार, बंबई, १९२५।

वत्सराज—रूपकषट्कम्, सम्पाः-सी डी दलाल, बड़ोदा, १९१८।

वस्तुपाल—अम्बिकास्तोत्र, सिंघी जैन ग्रन्थमाला में वस्तुपाल सम्बन्धी समकालिक साहित्य संग्रह में मुद्र्यमाण।

आदिनाथस्तोत्र, नरनारायणानंद के परिशिष्ट रूप प्रकाशित; और उपर्युक्त संग्रह में मुद्र्यमाण।

आराधना, उपयुक्त संग्रह में मुद्र्यमाण।

नरनारायणानन्द महाकाव्य, सम्पा.-सी. डी. दलाल, बड़ोदा, १९१६।

नेमिनाथस्तोत्र, उपर्युक्त संग्रह में मुद्र्यमाण।

वाग्भट्ट (पहला)—वाग्भट्टालंकार, सम्पा.-पं. शिवदत्त व बी. एल. पशीकर, ५ वां संस्क० बंबई, १९३३।

वाग्भट्ट (दूसरा)—काव्यानुशासन, सम्पा.-पं० शिवदत्त व के. पी. परब, बंबई, १९१५।

वादी देवसूरि—स्याद्वादरत्नाकर; सम्पा.–मोतीलाल लाधाजी, पूना, वी. संवत् २४५३-५७, ५ भाग में।
विजयपाल—द्रौपदीस्वयंवर, सम्पाः–मु. जिनविजयजी, भावनगर, १९१८।
विजयराजेन्द्रसूरि—अभिधानराजेन्द्र, भाग २, रतलाम, १९१४।
विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, सम्पा.–पी. वी. काणे, बंबई १९२३।
शाङ्र्गदेव—संगीतरत्नाकर, सम्पा.–एम. आर. तेलंग, २ भागों में, पूना, १८९७।
शाङ्र्गधर—शाङ्र्गधरपद्धति, सम्पा.–पी, पिटर्सन, बंबई १८१८।
श्रीधर—न्यायकन्दली, सम्पा.–विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बनारस, १९९५।
श्रीहर्ष—नैषधीयचरित, संपा.–पं० शिवदत्त, ७ म संस्क, बंबई १९३९।
संघदास गणि—वसुदेव-हिंडी, प्रथमखण्ड, संपा–मु. चतुरविजयजी व मुनि पुण्यविजयजी भावनगर, १९३०-३१।
सिद्धर्षि—उपदेशमाला–टीका, संपादक अज्ञात, जामनगर १९३९।
उपमितिभवप्रपंचकथा, संपा.–पी. पिटरसन व एच. याकोबी, कलकत्ता, १८९९-१९१४।
सिद्धसेन दिवाकर—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, संपादक अज्ञात, भावनगर, सं० १९६५।
सुभट—दूताङ्गद छाया नाटक, संपा,–प० दुर्गाप्रसाद व के. पी. परब, बंबई, १८९१।
सोमदेव भट्ट—कथासरित्सागर, संपा.–पं० दुर्गाप्रसाद व के. वी. परब, ४ था संस्क. बंबई, १९३०।
सोमधर्मगणि उपदेशसप्तति, संपा.–अमृतलाल मोहनलाल, अहमदाबाद, सं. १९९८।
सोमप्रभाचार्य—कुमारपालप्रतिबोध, संपा.–मु. जिनविजयजी, वड़ोदा, १९२०।
सोमेश्वर—कीर्तिकौमुदी, महाकाव्य, संपा.–ए. वी. काथवटे, बंबई, १८८३।
सुरथोत्सव महाकाव्य, सपाः–पं० शिवदत्त व के. पी. परब, बंबई, १९०२।
हरिषेण आचार्य—बृहत् कथाकोश, संपा–डा. ए. एन. उपाध्ये, बंबई, १९४३।
हेमचन्द्र—काव्यानुशासन, भाग १, मूल, संपा.–आर.सी. परीख, बंबई, १९४३।
छन्दोनुशासन, संपादक अज्ञात, बंबई, १९१२।
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, सम्पा. अज्ञात, भावनगर, १९०६-१३।
द्वयाश्रय महाकाव्य संपा.–ए वी काथवटे, भा १-२ बंबई १९१५-२१।
प्राकृत व्याकरण, संपा–पी. एल वैद्य, पूना, १९२८।
अज्ञात लेखक—लेखपद्धति, संपा.–सी० डी० दलाल व जी. के. श्री गोदेकर, बड़ोदा, १९२५।

भागवत पुराण, वैंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित, बंबई।

समवायांगसूत्र, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, सं. १९७४।

स्थानांगसूत्र, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, २ भाग, स १९७६।

अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती

कुशललाभ—माधवानल-कामकन्दला प्रबन्ध, आनन्द काव्य महोदधि, भाग ७ में प्रकाशित, सूरत, १९२६।

गणपति—माधवानल-कामकन्दला प्रबन्ध, सम्पा.—एम. आर. मजूमदार, बड़ोदा, १९४२।

जिनविजय मुनि—सम्पा. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ, अहमदाबाद, सं० १९८६।

नाल्ह—वीसलदेव रासो, सम्पा.—सत्यविजय वर्मा, बनारस, सं० १९८२।

पद्मनाभ—कान्हड़दे प्रबन्ध, सम्पा.—डाह्याभाई. देरासरी, २ य संस्क, अहमदाबाद १९२६।

पार्श्वचन्द्र—वस्तुपाल-तेजपाल रास, जैन साहित्य संशोधक, भा. ३, अंक १ में मुद्रित।

पाल्हणपुत्र—आबू रास, राजस्थानी, त्रैमासिक, भा. ३, सं० १ में मुद्रित; सिंघी जैन ग्रन्थमाला में वस्तुपाल सम्बन्धी समकालिक साहित्य संग्रह में मुद्रयमाण।

मण्डलिक—पेथड रास, चि. डा. दलाल सम्पादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में मुद्रित, बडौदा, १९२०।

माणिक्यसुन्दरसूरि—पृथ्वीचन्द्रचरित, प्रागुकासं, और प्रागुगस दोनों में ही मुद्रित।

मेरुविजय—वस्तुपाल-तेजपाल रास, सम्पा.—सवाईभाई रायचन्द्र, अहमदाबाद, १९०१।

लक्ष्मीसागरसूरि—वस्तुपाल-तेजपाल रास, जैसासं, भाग ३ सं० १ में मुद्रित।

विजयसेनसूरि—रेवंतगिरि रास, प्रागुकासं में मुद्रित।

शालिसूरि—विराटपर्व, गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला में प्रकाशित होनेवाली गुर्जर रासावली में मुद्रयमाण।

समयसुन्दर—वस्तुपाल-तेजपाल रास, सम्पा.—भोगीलाल साडेसरा, गुजरात संशोधक मंडल का त्रैमासिक, जनवरी १९५२ में मुद्रित।

अज्ञात लेखक—वसंतविलास, एक प्राचीन गुजराती फागु, सम्पा—के बी. व्यास, बंबई, १९४२ वीरवंशावली, जैसासं भा. १ सं०३ में मुद्रित।

गुजराती

आचार्य गिरजाशंकर वी.—हिस्टोरिकल इंस्क्रिपशन्स आफ गुजरात, ३ भाग में, वंबई, १६३३, १६३८ व १६४२।
आचार्य वल्लभजी हरिदत्त—कीर्तिकौमुदी (अनुवाद) अहमदाबाद, १६०८।
कापड़िया, हीरालाल रसिकदास--चतुर्विंशतिप्रबन्ध (अनुवाद) बम्बई, १६३४।
जैनधर्म प्रसारक सभा (प्रकाशक),
वस्तुपाल-चरित (अनुवाद) भावनगर सं. १६७४।
दिवेटिया, नरसिंहराव—मनोमुकुर, भाग २, अहमदाबाद, १६३६।
देसाई, मोहनलाल, दलीचन्द—जैन साहित्य का सङ्क्षिप्त इतिहास, वंबई, १६३३।
ध्रुव, आ वा.—दिग्दर्शन, अहमदाबाद, १६४२।
परीख, रसिकलाल आदि सम्पा. आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव स्मारक ग्रन्थ, अहमदाबाद १६४०।
पारेख, हीरालाल त्रिभुवनदास—वसंत रजत महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, अहमदाबाद, १६२७।
फारूकी, अमीरमियां एच.—गुजराती फारसी अरबी शब्दकोश, अहमदाबाद, १६२६।
बुद्धिसागरसूरि—बृहद् वीजापुर वृत्तान्त, वंबई, १६२५।
मुनि जयन्तविजय—आबू, भाग १, उज्जैन, १६३३।
आबू प्राचीन जैन लेखसंग्रह, उज्जैन, सं० १६६४।
मुनि जिनविजयजी—प्राचीन जैन लेखसंग्रह, भाग २, भावनगर, १६२१।
गुजरातना सांस्कृतिक इतिहासनी साधनसामग्री, अहमदाबाद, १६३३।
मोदी, एम. सी.—हेम-समीक्षा, अहमदाबाद, १६४२।
रणछोड़भाई उदयराम—रासमाला (अनुवाद), भाग १–२, ३ य सस्क. वंबई १६२२ व १६२७।
शास्त्री, डी. के.—गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास, भाग १- २, अहमदाबाद, १६३७-१६३६।
प्रबन्धचिंतामणि (अनुवाद) बम्बई, १६३४।
शास्त्री रामकृष्ण हर्षजी—सुकृतसंकीर्तन (अनुवाद) वड़ोदा, १८६५।
साण्डेसरा, भो. ज.—इतिहासनी केड़ी, वड़ोदा, १६४५।
पंचतन्त्र (अनुवाद), वंबई, १६४६।
वसुदेव-हिण्डी (अनुवाद), भावनगर, १६४६।
वाघेलानुं गुजरात, वड़ोदा, १६३६।

संघवी, सुखलालजी और परिडत बेचरदास,—सन्मति प्रकरण, प्रस्तावना व अनुवाद, अहमदाबाद, १६३२ ।
वस्तुपालचरित, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर द्वारा प्रकाशित अनुवाद, सं० १६७४ ।

हिन्दी

ओझा, गौ. ही.—राजपूताने का इतिहास, भाग १, अजमेर, १६२७ ।
मुनि कल्याणविजय—वीरनिर्वाणसंवत् और जैन कालगणना, जालोर, १८३१ ।
प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, बंबई, १६४२ ।

मराठी

इस्लामपुरकर, परिडत वामन शास्त्री—काव्यकल्पलता (अनुवाद), बड़ोदा, १८६१ ।

बंगाली

तर्कवागीश, फणिभूषण—न्यायपरिचय, २य संस्क., कलकत्ता, बं. सं० १३४७ ।

सूचियाँ, प्रतिवेदन, आदि

ओफ्रेट—कैटेलोगस कैटेलोगोरम, ३ भाग, लिपज़िग, १८६१, १८६६, १६०३ ।
भण्डारकर, रा. जी.—ए रिपोर्ट आन सर्च आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन बोंबे प्राविंस, १८८३–१८८४, बंबई १८८७ ।
गांधी, ला. भ.—ए कैटैलोग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी जैन भण्डार्स एट जैसलमेर, बड़ोदा, १६२३ ।
ए डिस्क्रिप्टिव कैटैलोग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी जैन भण्डार्स एट पाटण, भा. १, बड़ोदा, १६३७ ।
गोडे, पी. के.—डिस्क्रिप्टिव कैटैलोग आफ दी गवर्नमेंट कलेक्शन आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स, डिपाजिटेड एट दी भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, भा. १४: नाटक, पूना १६३७ ।
मित्र राजेन्द्रलाल—नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, प्र. ७ खं. २ कलकत्ता, १८८४ ।
मुनि चतुरविजय—कैटैलोग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी जैन भण्डार एट लींबड़ी (गुज), बंबई । १६२८ ।

पेटरसन, पी.—ए थर्ड रिपोर्ट आफ दी आपरेशन्स इन सर्च आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी बोंबे सरकल, १८८४–८५।

ए फिफ्थ रिपोर्ट आफ आपरेशन्स इन सर्च आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी बोंबे सरकल, एप्रिल १८९२–मार्च १८९५, बम्बई, १८९६।

ए सिक्स्थ रिपोर्ट आफ आपरेशन्स इन सर्च आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दी बोंबे सरकल, एप्रिल १८९५–मार्च १८९८, बंबई १८९९।

शास्त्री, हीरानन्द—एन्यूएल रिपोर्ट आफ दी आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट, बड़ोदा स्टेट, फार दी इयर एण्डिंग ३१ जुलाई, १९३९, बड़ोदा, १९४०।

वेलणकर, एच. डी.—जिनरत्नकोशः एन एल्फाबेटिकल रजिस्टर आफ दी जैन वर्क्स एण्ड आथर्स, ग्रन्थ १, पूना, १९४४।

अज्ञात लेखक—वृहट्टिप्पणिका, जैसासं, ग्र. १ सं २ में मुद्रित।

जैन ग्रन्थावलि, जैन श्वेताम्बर कान्फरेंस, बंबई द्वारा प्रकाशित, सं. १९६५।

पाँचवी गुजराती साहित्य कान्फरेंस का विवरण, सूरत, १९१९।

प्रथम ओरियटल कान्फरेंस का विवरण, पु. १, पूना, १९२०।

सातवीं अखिल भारतीय ओरियटल कान्फरेंस का विवरण, बड़ोदा, १९३५।

सातवीं गुजराती साहित्य कान्फरेंस का विवरण, भावनगर, १९२६।

पत्रिकाएँ

अंगरेजी—अनाल्स आफ दी भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।

एपीग्राफिया इण्डिया।

इण्डियन एण्टीक्वेरी।

इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली।

जनरल आफ दी बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाएटी।

जनरल आफ ओरियंटल स्टडीज।

रूपम्।

अंगरेजी-गुजराती—जनरल आफ दी गुजरात रिसर्च सोसाएटी।

लायब्रेरी मिसलेनी।

हिन्दी-गुजराती—भारतीय विद्या।

गुजराती—जैन युग।

जैन सत्यप्रकाश ।
जैन साहित्यसंशोधक ।
पुरातत्व ।
फारबस् गुजराती सभा त्रैमासिक ।
बुद्धिप्रकाश ।
वसंत ।
हिन्दी— नागरी प्रचारिणी पत्रिका ।
राजस्थानी ।
विशाल भारत ।

(आ) हस्तलिखित ग्रन्थ

(हस्तलेख जिनको ताड़पत्रीय नहीं लिखा गया है, वे कागज पर लिखा समझना चाहिये । जिन प्रतियों में तिथि वर्णित है, वहाँ उनकी प्रतिलिपि तिथि कही गई है ।

अमरचन्द्रसूरि—काव्यलता-परिमल (श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण सं २६४६ और ६५११)

छन्दोरत्नावली, श्री हेमचन्द्रचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण, सं. ८६०७, लिपि तिथि वि. सं. १६६४; उसी ज्ञान मन्दिर की सं. ६७४६; प्रवर्तक कांतिविजयजी शास्त्रसग्रह, छाणी, सं. ४४७ ।

उदयप्रभसूरि, रविप्रभसूरि का शिष्य—कर्मविपाक टिप्पण ।

कर्मस्तव टिप्पण ।

शतक टिप्पण । इन तीनों ही की प्रवर्तक कातिविजयजी शास्त्रसंग्रह, वड़ोदा में सं. २१७३ ।

उदयप्रभसूरि, विनयसेनसूरि का शिष्य—उपदेशमाला-कर्णिका, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण की सं. १०३५१ है और लिपि तिथि है वि. सं. १५४७ ।

नेमिनाथचरित, उसी ज्ञान मन्दिर की सं. २०५२, वि. सं. १५१८ में लिपि हुई ।

शब्दब्रह्मोल्लास, पाटण के खेतरवसी भंडार की ताड़पत्री प्रति सं ३४ ।

एक नाथ भट्ट—रामशतक-टीका, भण्डारकर पुरातत्व मन्दिर में रखा हुआ बंबई राज्य का हस्तिलिखित ग्रन्थ संग्रह, १८७२-७३ की सं ६ । लिपि-तिथि—वि. सं. १७१७ ।

नरचन्द्रसूरि, देवप्रभसूरि का शिष्य—अनर्घराघव-टिप्पण, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण की सं. ११२६६ और ८६३४, लिपि तिथि वि. सं. ११०६ व १५५६; क्रमशः ; उसी ज्ञान मन्दिर की सं. ६७२६ भी।

कथारत्नाकर या कथारत्नसागर, अहमदाबाद के डेहला उपाश्रय भण्डार का डाबड़ा सं. ५१, पोथी सं २६; खम्भात के ज्ञानविमलसूरि भण्डार स. ५६६; चाणसमा जैन भण्डार सं. १३२।

न्यायकन्दली-टिप्पण, मुनि हिमांशुविजय शास्त्रसंग्रह, बड़ोदा सं. २७०६ ; श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण सं. ६८११।

प्राकृतप्रबोध, प्रवर्तक कान्तिविजयजी शास्त्रसंग्रह, बड़ोदा की सं २१६२, लिपि तिथि, वि. सं. १४८७ ; मुनि श्री पुण्यविजय जी के निजी संग्रह, पोथी सं. २० प्रति सं. १५, लिपि तिथि वि. सं. १४७६; श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण सं. २१७६।

नरचन्द्र उपाध्याय, सिंहसूरि का शिष्य—जन्मसमुद्र, मुनि श्री पुण्यविजयजी के निजी संग्रह पोथी सं. २४ प्रति सं. ३, लिपि तिथि वि. सं. १५३७।

ज्योतिश्चतुर्विंशिका, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर, पाटण सं. ५१०१।

प्रश्नशतक, प्रवर्तक कांतिविजयजी शास्त्रसंग्रह, बड़ोदा, सं. २१६४ लिपि तिथि सं. १५३२।

नरेन्द्रप्रभसूरि—विवेककलिका, संघवी पाड़ा भण्डार, पाटण, अपूर्ण प्रति-विभाग, ताड़पत्र प्रति सं. ५२।

विवेकपादप, वही सं. ५२।

बालचन्द्र—उपदेशकन्दली-टीका, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान भंडार, पाटण सं. ८८६।

भद्रबाहु—पिण्डनिर्युक्ति, विजयदानसूरि ज्ञान भंडार, छाणी की प्रति।

माणिक्यचन्द्र—पार्श्वनाथचरित महाकाव्य, शांतिनाथ भंडार, खम्भात डाबड़ा सं. ३१, ताड़पत्री प्रति सं. १।

शांतिनाथचरित महाकाव्य, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर पाटण, सं. ८६५।

शुभशील गणि—प्रबन्धपंचशती या पंचशतीकथासंग्रह, हिमांशुविजय शास्त्रसंग्रह, बड़ोदा, सं. ५८।

शब्द सूची